आचार्य सोमप्रभ विरचित

सिन्दूरप्रकर

संस्कृत श्लोक, अन्वय, हिन्दी अनुवाद,
अवबोध एवं उद्‌बोधक कथाओं से युक्त

अनुवादक/विवेचक
मुनि राजेन्द्रकुमार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रंथ-परिचय

'सूक्तिमुक्तावली' आचार्य सोमप्रभ की एक लोकप्रिय कृति है। वे बड़गच्छ के आचार्य थे। आद्याक्षर को आधार मानकर 'सिन्दूरप्रकर' इस अपर नाम से लोगों में इसकी अधिक प्रसिद्धि है। इस कृति का एक नाम सोमशतक भी मिलता है। इसका रचनाकाल वि. सं. १२५० है। इस रचना में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह आदि इक्कीस प्रकरण तथा मनुष्यजन्म की दुर्लभता, धर्म की प्रधानता आदि प्रकीर्णक विषय भी गुम्फित हैं। यह सौ श्लोकों का ग्रंथ है। श्लोकरचना में विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है। उनमें शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी, वंशस्थ, हरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति आदि प्रसिद्ध हैं। यह रचना नए नए प्रयोगों का भंडार है। वे सब रचनाकार के वैदुष्य को प्रकट करने वाले हैं। शब्दों का सौष्ठव, उनका लालित्य, धातुओं के नव-नव प्रयोग, आलंकारिक भाषा, सानुप्रास प्रयोग आदि काव्य के गौरव और काव्यप्रणेता के शिल्पत्व को अभिव्यक्त करने वाले हैं। इस कृति पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। वि. सं. १५०५ (वीर नि. १९७५) में चरित्रवर्धन सूरि ने ४८०० श्लोकप्रमाण वाली टीका लिखकर एक महान् कार्य किया। इसके पश्चात् वि. सं. १६६० (वीर नि. २१३०) में हर्षकीर्ति सूरि ने भी टीका लिखी। वि. सं. १६९१ (वीर नि. २१६१) में पंडित बनारसीदासजी ने इसका हिन्दी में पद्यानुवाद किया। प्रस्तुत कृति वैराग्यरस से परिपूर्ण, पाण्डित्यपूर्ण, विविध विषयों का अवबोध कराने वाली, सदुपदेशात्मक, सरस, सुबोध और सुगम्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य सोमप्रभ विरचित

सिन्दूरप्रकर

संस्कृत श्लोक, अन्वय, हिन्दी अनुवाद,
अवबोध एवं उद्‌बोधक कथाओं से युक्त

अनुवादक/विवेचक
मुनि राजेन्द्रकुमार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं-३४१ ३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

अर्थ सौजन्य : केसिंगा निवासी (खापड़ प्रवासी) स्वर्गीय श्री दिलबागरायजी जैन एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रामवती जैन की पुण्य स्मृति में उनके पुत्रों संतोषकुमार जैन एवं राजेश-कुमार जैन द्वारा प्रदत्त।

प्रथम संस्करण : २००६

मूल्य : १००/- (एक सौ रुपये मात्र)

टाईप सेटिंग : सर्वोत्तम प्रिंट एण्ड आर्ट

मुद्रक : कला-भारती, नवीन शाहदरा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

'सिन्दूरप्रकर' नीतिशास्त्र का अद्भुत ग्रंथ है। इसमें नैतिकता, सदाचार और अध्यात्म की अनेक शाखाओं का समन्वय है। तेरापंथ धर्मसंघ में इसके अध्ययन की प्राचीन परंपरा है। यह ग्रंथ पूज्य कालूगणी और आचार्य तुलसी के मन को आकृष्ट करता रहा। मेरे मन में भी इसकी उपयोगिता की छाप है। धर्मसंघ के अनेक साधु-साध्वियां इसे कंठस्थ करते रहे हैं।

मुनि राजेन्द्रजी उद्यमी और संस्कृतप्रिय मुनि हैं। श्रम उनके जीवन का व्रत है। उन्होंने संस्कृत व्याकरण **'भिक्षुशब्दानुशासनम्'** के क्षेत्र में अनेक कार्य किए हैं। उनसे संस्कृतपाठी विद्यार्थी बहुत लाभान्वित होंगे।

मुनि राजेन्द्रजी द्वारा संपादित **'शांतसुधारस'** एक पठनीय कृति है। उन्होंने श्रमपूर्वक उसे सरल-सुबोध बनाने का सफल प्रयत्न किया है।

'सिन्दूरप्रकर' ग्रन्थ सांगोपांग व्याख्या के साथ प्रस्तुत है। इस कार्य में उन्होंने शब्दार्थ, भावार्थ, विषयावबोध और कथाओं का समाहार कर कृति को सुबोध और सर्वजनगम्य बनाया है।

मुनिजी की सृजनात्मक शक्ति, श्रमनिष्ठा, संघनिष्ठा बढ़ती रहे, यही हमारी मंगलकामना।

१२/९/२००६
प्रेक्षाविहार, भिवानी

—आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्पत्ति

वि. सं. २०४१ (ई. सन् १९८४)। मई का महीना। आचार्यश्री तुलसी एवं युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ (वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ) जैन विश्व भारती, लाडनूं के भिक्षु-विहार में विराज रहे थे। वहां से वे चातुर्मास हेतु जोधपुर पधारने वाले थे। उन दिनों युवाचार्यप्रवर महाप्रज्ञ के उपपात में हमारे अध्ययन का क्रम चल रहा था। एक दिन युवाचार्यश्री हमें 'शान्तसुधारस' पढा रहे थे। कुछ संतों ने बीच में ही अपनी मनोभावना प्रकट करते हुए कहा–भन्ते! जिस प्रकार मुनि राजेन्द्रकुमारजी ने 'शान्तसुधारस' काव्य का हिन्दी में अनुवाद और संपादन किया है उसी प्रकार यदि 'सिन्दूरप्रकर' ग्रंथ भी तैयार हो जाए तो वह हम सबके लिए पठनीय और उपयोगी हो सकता है। युवाचार्यश्री ने मेरी ओर देखा। उन्होंने मुझे संकेत देते हुए फरमाया–कालान्तर में जब भी तुम्हें समय मिले इस कार्य को कर देना। मैंने करबद्ध होते हुए 'तहत्त' कह दिया।

वि. सं. २०५८ (ई. सन् २००१) में आचार्यश्री महाप्रज्ञ अपना पावस-प्रवास बीदासर में बिता रहे थे। उससे पूर्व वे आगामी चार चातुर्मासों की घोषणा कर चुके थे। उनके लिए उनकी चार वर्षों की एक प्रलंब और दीर्घकालीन यात्रा सुनिश्चित थी। ५ दिसम्बर, २००१ का मंगल प्रभात। सुजानगढ़ की पावनस्थली। वहीं से आचार्यप्रवर ने अहिंसा यात्रा के नाम से मंगल-यात्रा का शुभारंभ किया। उस यात्रा का प्रथम मर्यादा महोत्सव 'पचपदरा' (मारवाड़) में संपन्न हुआ। तत्पश्चात् वे विहरण करते हुए सिवाना फाण्टा पधारे। वहां सिवांची-मालाणी भवन में विराजे। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मैंने अपने इष्टदेव का स्मरण कर 'सिन्दूरप्रकर' काव्य का अनुवाद कार्य वहीं से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारंभ कर दिया। वह मंगल प्रभात २० मार्च, २००२ का था।

हम आचार्य महाप्रज्ञ के साथ सहयात्री बनकर यात्रायित थे। यात्रा के साथ मेरा अनुवाद कार्य भी उत्साहजनक और संतोषजनक स्थिति में गतिमान् था। लगभग डेढ महीने की समयावधि में मेरा वह अनुवाद कार्य अहमदाबाद पहुंचने से पूर्व परिसंपन्न हो गया।

मैंने ग्रंथ को पठनीय और जनोपयोगी बनाने के लिए केवल ग्रंथ का अनुवाद ही नहीं किया अपितु उसे सर्वसुलभ, सुबोध, सुगम और सर्वजन-रुचिकर बनाने के लिए ग्रंथगत विविध विषयों से अनुबंधित 'अवबोध' को भी लिखा है। वे जिज्ञासु पाठकों के प्रकरणगत ज्ञान के लिए एक प्रकार से आलोकस्तम्भ हैं। आज के मानस में कथाओं को पढने की विशेष रुचि रहती है। प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने आगमिक और आगमेतर–दोनों प्रकार की कथाओं का समावेश किया है। वे सभी कथाएं ग्रंथगत विविध प्रकरणों को आधार बनाकर लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में व्याकरण विमर्श, ग्रंथ में प्रयुक्त धातुएं एवं उनका अर्थ तथा कोश विमर्श भी सम्मिलित किए गए हैं। इस कार्य में पूज्यवरों का मंगल आशीर्वाद और सतत प्रेरणापाथेय मेरे अन्तस्तल को छूता रहा है और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप में अनेक मुनियों का सहयोग मुझे मिला है, उनका स्मरण भी अस्थानीय नहीं होगा।

मैं सर्वप्रथम गणाधिपति पूज्यपाद श्रीतुलसी के चरणों में श्रद्धाप्रणत हूं। उनके अनुशासन में मैंने बहुत कुछ सीखा, फिर भी बहुत कुछ सीखना शेष रह गया। आज भी उनके पढ़ाने का कलाकौशल, अनुशासनशैली, शैक्ष सन्तों को प्रोत्साहित करने की कला आदि दुर्लभ विशेषताएं मेरे मानस पटल पर तरंगित हैं।

वर्तमान में उनके ही यशस्वी उत्तराधिकारी प्रज्ञापुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञ हैं। उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन कर मानव कल्याण के लिए एक प्रायोगिक धर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया है। दीक्षा लेते ही मुझे चरण चंचरीक बनकर उनके चरण कमलों की वरिवस्या का अत्यधिक समीपता से अवसर मिला। मैंने उनके जीवन से बहुत कुछ सीखा और पाया। जीवन के निर्माण में उनका वरदहस्त मेरे सिर पर रहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज जो कुछ मैं हूं वह सब उन्हीं के अनुग्रह का सुफल है। मैं उनके ऋण से उऋण हो सकूं, यह मेरे में सामर्थ्य भी नहीं है। मेरी मनोकामना है कि मैं सदा उनके चित्त में रमा रहूं। उनकी प्रेरणा मेरे जीवन का संगीत बन जाए, उनका प्रत्येक शब्द मेरा अन्तर्नाद हो जाए और उनका कार्य मेरा आदर्श बन जाए। वे मुझे प्रज्ञा का वह आलोक प्रदान करें जिससे मैं स्वयं प्रज्ञावान बनूं और दूसरों को भी उसी आलोक में देख सकूं।

युवाचार्यश्री महाश्रमण की सतत मंगलकामना और उनका प्रेरणा-पाथेय निरन्तर मेरे जीवन में मिलता रहा है। वे जाने-अनजाने मेरे कार्य में सहयोगी रहे हैं। उन्होंने मेरे प्रत्येक कार्य को गहराई से देखा और परखा है और प्रशंसा की तूलिका से उसे चित्रित भी किया है। इस अर्थ में उनके प्रति अहोभाव ज्ञापित करना मेरा यह लघु प्रयास है।

मैं स्वर्गीय मुनिश्री श्रीचंदजी 'कमल' को भी नहीं भूल सकता। उनके सान्निध्य में मैंने संस्कृत व्याकरण के अनेक रहस्यों को समझा है और संस्कृत में गतिशील बने रहने की प्रेरणा पाई है।

आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी स्वामी प्रारंभ से ही मेरी सभी गतिविधियों में साक्षीभूत रहे हैं। जब से मैं दीक्षित हुआ सदा उन्हीं की छाया में रहा। वे मेरी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना में आलंबनभूत बने हैं। उन्होंने मेरे कार्य को अपना कार्य मानकर आद्योपान्त काव्य का अनुवाद, अवबोध और कथाओं का सूक्ष्मता से अवलोकन कर ग्रंथ के आकार-प्रकार को सजाया और संवारा है।

प्रारंभ में 'सिन्दूरप्रकर' का अनुवाद करते समय मेरे पास कोई आधार पुस्तिका नहीं थी। मुनिश्री मणिलालजी स्वामी ने गुजराती भाषा में मुद्रित कृति उपलब्ध कराकर मेरे मार्ग को सरल कर दिया। इस अर्थ में वे भी मेरे हृदय में स्थान बनाए हुए हैं।

मुनि ऋषभकुमारजी साधुवाद के पात्र हैं कि उन्होंने अपना अमूल्य समय लगाकर मेरे कार्य का मूल्यांकन किया और मेरी भूलों के प्रति मेरा ध्यानाकर्षण किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि जितेन्द्रकुमारजी युवा सन्त हैं। उनमें कर्मजाशक्ति, सेवाशक्ति और ग्रहणशक्ति तीनों का समन्वय है। उनके अमूल्य सुझाव भी मेरे इस कार्य में कार्यकारी बने हैं। उन्होंने वर्ग के छोटे-मोटे सभी कार्यों का दायित्व लेकर न केवल मुनिश्री दुलहराजजी स्वामी की सेवा की है, मुझे भी वर्ग के कार्यों से निर्भार बनाया है। यदि मुझे उनका सहयोग नहीं मिलता तो संभवतः मेरा यह कार्य कितना लंबा हो जाता। इस अर्थ में मैं उन्हें साधुवाद देता हूं और मंगलभावना करता हूं कि भविष्य में उनकी शक्तियां और अधिक विकसमान रहें।

यह ग्रंथ कितना सार्थक और उपयोगी बना है, इसका मूल्यांकन और गुणांकन सुधी पाठक ही कर सकेंगे। मेरा जो करणीय कार्य था वह मैंने कर दिया। अब उसे वीक्षा, परीक्षा और समीक्षा के मानक-बिन्दुओं से प्रमाणित होने की अपेक्षा है।

अन्त में मैं सबके प्रति अपनी आंतरिक कृतज्ञता, विनम्रता एवं सद्भावना ज्ञापित करता हूं और मंगलभावना करता हूं कि विविध विषयों से गुम्फित यह सरस, सरल, सदुपदेशात्मक काव्य अपनी सुवास से जन-जन के अन्तःकरण को सुवासित-भावित करता रहे, चेतना के रूपान्तरण में निमित्त बने, इसी शुभ मंगल-भावना के साथ·····।

१९ सितम्बर २००६ —मुनि राजेन्द्रकुमार

प्रेक्षाविहार, भिवानी (हरियाणा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहला विभाग

सिन्दूरप्रकर

प्रस्तुत विभाग में काव्य के संस्कृत श्लोक,
उनका अन्वय तथा अर्थ का
प्रस्तुतीकरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-दीपिका

विषय	श्लोकसं.	पृष्ठसं.
मंगलाचरणम्	१	५
ग्रन्थकर्तुरावेदनम्	२	६
धर्मस्य प्राधान्यम्	३	६
मनुष्यजन्मनो दुर्लभता	४–७	७
एकविंशतिः प्रकरणानि	८	८
जिनपूजनप्रकरणम्	९–१२	९
गुरुमहत्त्वप्रकरणम्	१३–१६	११
जिनमतप्रकरणम्	१७–२०	१३
संघप्रकरणम्	२१–२४	१५
अहिंसाप्रकरणम्	२५–२८	१७
सत्यप्रकरणम्	२९–३२	१९
अस्तेयप्रकरणम्	३३–३६	२१
शीलप्रकरणम्	३७–४०	२३
परिग्रहत्यागप्रकरणम्	४१–४४	२५
क्रोधत्यागप्रकरणम्	४५–४८	२७
मानत्यागप्रकरणम्	४९–५२	२९
मायात्यागप्रकरणम्	५३–५६	३१
लोभत्यागप्रकरणम्	५७–६०	३२
सौजन्यप्रकरणम्	६१–६४	३४
गुणिसङ्गप्रकरणम्	६५–६८	३६
इन्द्रियदमनप्रकरणम्	६९–७२	३८
लक्ष्मीस्वभावप्रकरणम्	७३–७६	४०
दानप्रकरणम्	७७–८१	४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपःप्रकरणम्	८२–८५	४५
भावनाप्रकरणम्	८६–८९	४७
वैराग्यप्रकरणम्	९०–९४	४९
सामान्योपदेशः	९५–१००	५१
प्रशस्तिः	१०१	५४

परिशिष्ट :

१. अकारादिश्लोकानुक्रमः ५५
२. व्याकरण-विमर्श ५९
३. ग्रन्थ में प्रयुक्त धातुएं ६३
४. कोश-विमर्श ७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ नमोऽर्हद्भ्यः

अथ सिन्दूरप्रकरः

मंगलाचरणम्

[1]सिन्दूरप्रकरस्तपःकरिशिरःक्रोडे कषायाटवी-
दावार्चिर्निचयः प्रबोधदिवसप्रारम्भसूर्योदयः।
मुक्तिस्त्रीवदनैककुङ्कुमरसः[2] श्रेयस्तरोः पल्लव-
प्रोल्लासः क्रमयोर्नखद्युतिभरः पार्श्वप्रभोः पातु वः ।।१।।

अन्वयः—

पार्श्वप्रभोः क्रमयोर्नखद्युतिभरः वः पातु। कथंभूतो नखद्युतिभरः? तपः-करिशिरःक्रोडे सिन्दूरप्रकरः, कषायाटवीदावार्चिर्निचयः, प्रबोधदिवसप्रारम्भ-सूर्योदयः, मुक्तिस्त्रीवदनैककुङ्कुमरसः, श्रेयस्तरोः पल्लवप्रोल्लासः।

अर्थ—

प्रभु पार्श्वनाथ के चरणनखों की अत्यधिक (रक्तिम) आभा तुम्हारी रक्षा करे। वह आभा तपरूप हाथी के कुम्भस्थल पर लगे सिन्दूरपुंज के समान रक्ताभवर्ण वाली, कषायरूप अटवी के दावानल के ज्वालासमूह के तुल्य, ज्ञानरूप दिवस के उदय के लिए सूर्योदय के समान, मुक्तिरूपी स्त्री के मुख पर लगने वाले एकमात्र कुंकुम के लेप के सदृश तथा कल्याणरूप वृक्ष के नवपल्लवों के उद्गम के समान है।[3]

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

२. 'मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरसः'— ऐसा पाठ मानने पर इसका अर्थ होगा—मुक्तिरूपी स्त्री के स्तनरूप कुम्भ पर लगने वाले कुंकुम के लेप के तुल्य।

३. श्लोकगत सभी उपमाएं रक्तिमवर्ण को अभिव्यक्त करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकर्तुरावेदनम्

[1]सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचां विचारोद्यताः,
सूतेऽम्भः कमलानि तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति यत्।
किं वाभ्यर्थनयाऽनया यदि गुणोऽस्त्यासां ततस्ते स्वयं,
कर्त्तारः प्रथनं न चेदथ यशःप्रत्यर्थिना तेन किम् ।।२।।

अन्वयः—

वाचां विचारोद्यताः सन्तः मम प्रसन्नमनसः सन्तु। यत् अम्भः कमलानि सूते, तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति। वा अनया अभ्यर्थनया किम्? यदि आसां गुणोऽस्ति ततस्ते स्वयं प्रथनं कर्त्तारः, अथ चेद् न, तेन यशःप्रत्यर्थिना किम्?

अर्थ—

वाणी (ग्रन्थरचना) की समालोचना करने में तत्पर सज्जनपुरुष मेरे पर प्रसन्नमन वाले हों। जिस प्रकार पानी कमलों को उत्पन्न करता है और वायु उनके परिमल को फैलाती है। (उसी प्रकार मैंने ग्रन्थ की रचना की है, इस ग्रन्थ की गुणवत्ता का मूल्यांकन और विस्तार तो सज्जनपुरुष ही कर सकेंगे)। फिर सन्तजनों (विद्वज्जनों) के आगे मेरी इस अभ्यर्थना से क्या प्रयोजन? यदि मेरी वाणी (काव्यरचना) में गुण हैं तो वे सन्तजन मेरी अभ्यर्थना के बिना ही स्वयं इसका विस्तार कर देंगे, यदि गुणवत्ता नहीं है तो उस विस्तार से क्या, जो यश का नाश करने वाला हो।

धर्मस्य प्राधान्यम्

[2]त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ[3] ।।३।।

अन्वयः—

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण नरस्य आयुः पशोरिव विफलम्। तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति। यत् तं विना (धर्मं विना) अर्थकामौ न भवतः।

अर्थ—

धर्म, अर्थ और काम—इस पुरुषार्थत्रयी को प्राप्त किए बिना मनुष्य का जीवन पशु की भान्ति निष्फल है। उनमें भी धर्म को श्रेष्ठ कहा जाता है, क्योंकि धर्म के बिना अर्थ और काम भी नहीं होते।

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

२. उपजातिवृत्त।

३. भारतीय दर्शन में चार पुरुषार्थ माने गए हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रस्तुत श्लोक में केवल पुरुषार्थत्रयी की चर्चा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्यजन्मनो दुर्लभता

[1]यः प्राप्य दुष्प्रापमिदं नरत्वं, धर्मं न यत्नेन करोति मूढः।
क्लेशप्रबन्धेन स लब्धमब्धौ, चिन्तामणिं पातयति प्रमादात् ।।४।।

अन्वयः—

यो मूढः इदं दुष्प्रापं नरत्वं प्राप्य यत्नेन धर्मं न करोति सः क्लेशप्रबन्धेन लब्धं चिन्तामणिं प्रमादात् अब्धौ पातयति।

अर्थ—

जो मूढ व्यक्ति इस दुर्लभ मनुष्यत्व को पाकर प्रयत्नपूर्वक धर्म की आराधना नहीं करता वह कष्टों की अविच्छिन्नता से प्राप्त चिन्तामणि रत्न को प्रमादवश समुद्र में गिरा देता है।

[2]स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते,
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्येध[3]भारम्।
चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं,
यो दुष्प्रापं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः।।५।।

अन्वयः—

यः प्रमत्तः दुष्प्रापं मर्त्यजन्म मुधा गमयति स स्वर्णस्थाले रजः क्षिपति, पीयूषेण पादशौचं विधत्ते, प्रवरकरिणम् एधभारं वाहयति, वायसोड्डायनार्थं चिन्तारत्नं करात् विकिरति।

अर्थ—

जो प्रमत्त व्यक्ति दुर्लभ मनुष्यजन्म को व्यर्थ गंवाता है वह सोने के थाल में धूलि फेंकता है, पैरों को अमृत से धोता है, श्रेष्ठ हाथी को लकड़ियों का भार ढोने में प्रयुक्त करता है और कौए को उड़ाने के लिए हाथ से चिन्तामणि रत्न को फेंक देता है।

[4]ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं,
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते रासभं,
ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया।।६।।

---

१. इन्द्रवज्रावृत्त।
२. मन्दाक्रान्तावृत्त।
२. इध्यतेऽनेन एन्ध इत्यत्र 'अबोदैधौद्म.....' (अष्टा०४।२।४७) इति कृतनलोपो निपात्यते 'हसाद् घञ्' (अष्टा० ६।१।११) चेति घञ्प्रत्ययः।
३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः—

ये अधमा लब्धं धर्मं परिहृत्य भोगाशया धावन्ति ते भवने कल्पद्रुमं प्रोन्मूल्य धत्तूरतरुं वपन्ति। (पुनः) ते जडाः चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते। (पुनः) ते गिरीन्द्रसदृशं द्विरदं विक्रीय रासभं क्रीणन्ति।

अर्थ—

जो अधम पुरुष भोगों की कामना से प्राप्त धर्म को छोड़कर विषयों की ओर दौड़ते हैं, उनमें प्रवृत्त होते हैं वे अपने घर में उत्पन्न कल्पवृक्ष को जड़मूल से उखाड़कर धतूरे के वृक्ष का वपन करते हैं। वे मूर्ख व्यक्ति (अपने हाथ से) चिन्तामणि रत्न को दूर फेंककर काच के टुकड़ों को स्वीकार करते हैं और वे हिमालय के सदृश विशालकाय हाथी को बेचकर गधे को खरीदते हैं।

[1]अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवं,
न धर्मं यः कुर्याद् विषयसुखतृष्णातरलितः।
ब्रुडन् पारावारे प्रवरमपहाय प्रवहणं,
स मुख्यो मूर्खाणामुपलमुपलब्धुं प्रयतते ।।७।।

अन्वयः—

अपारे संसारे कथमपि नृभवं समासाद्य यो विषयसुखतृष्णातरलितः (सन्) धर्मं न कुर्यात् स मूर्खाणां मुख्यः पारावारे ब्रुडन् प्रवरं प्रवहणम् अपहाय उपलम् उपलब्धुं प्रयतते।

अर्थ—

इस असीम संसार में किसी प्रकार मनुष्यजन्म को पाकर भी जो मनुष्य विषय—कामभोगों के सुख की तृष्णा से अस्थिर होकर धर्म का आचरण नहीं करता वह मूर्खशिरोमणि समुद्र में डूबता हुआ उत्तम नौका को छोड़कर तैरने के लिए पाषाणखंड को पाने का प्रयत्न करता है।

एकविंशतिः प्रकरणानि

[2]भक्तिं तीर्थकरे गुरौ जिनमते संघे च हिंसानृत-
स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाद्युपरमं[3] क्रोधाद्यरीणां जयम्।
सौजन्यं गुणिसङ्गमिन्द्रियदमं दानं तपो भावनां,
वैराग्यं च कुरुष्व निर्वृतिपदे यद्यस्ति गन्तुं मनः।।८।।

---

१. शिखरिणीवृत्त।
२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
३. अत्र व्युपरमोऽपि पाठो लभ्यते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः—

यदि निर्वृतिपदे गन्तुं (तव) मनः अस्ति (तदा त्वं) तीर्थकरे गुरौ जिनमते संघे च भक्तिं (कुरुष्व)। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाद्युपरमं (कुरुष्व)। क्रोधाद्यरीणां जयं (कुरुष्व)। सौजन्यं गुणिसङ्गम् इन्द्रियदमं दानं तपो भावनां वैराग्यं च कुरुष्व।

अर्थ—

हे भव्य! यदि तुम्हारा मन मोक्षपद को प्राप्त करने का है तो तुम तीर्थंकर, गुरु, जिनशासन और चतुर्विध धर्मसंघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) की पर्युपासना करो, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का निवर्तन करो, क्रोध आदि (मान, माया, लोभ) शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो, सुजनता का अभ्यास करो, गुणिजनों की संगति करो, इन्द्रियों का निग्रह करो, सुपात्र को दान दो, अनशन आदि तपस्या को स्वीकार करो, अनित्य आदि भावनाओं से स्वयं को भावित करो और विरक्ति का समाचरण करो।

१. जिनपूजनप्रकरणम्

[1]पापं लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदं,
पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति नीरोगताम्।
सौभाग्यं विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः,
स्वर्गं यच्छति निर्वृतिं च रचयत्यर्चार्हतां निर्मिता ।।९।।

अन्वयः—

अर्हतां निर्मिता अर्चा पापं लुम्पति, दुर्गतिं दलयति, आपदं व्यापादयति, पुण्यं संचिनुते, श्रियं वितनुते, नीरोगतां पुष्णाति, सौभाग्यं विदधाति, प्रीतिं पल्लवयति, यशः प्रसूते, स्वर्गं यच्छति, निर्वृतिं च रचयति।

अर्थ—

अर्हतों की की जाने वाली अर्चा (भावपूजा, गुणोत्कीर्त्तन, पर्युपासना आदि) पापों का नाश करती है, दुर्गति का निवारण करती है, आपदाओं को विनष्ट करती है, पुण्य का संचय करती है, लक्ष्मी का विस्तार करती है, नीरोगता को पुष्ट करती है, सौभाग्य को बनाए रखती है, प्रीति को पल्लवित करती है, यश को उत्पन्न करती है, स्वर्ग को देती है और मोक्षरचना करती है।

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणं सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः शुभा,
सौभाग्यादिगुणावलिर्विलसति स्वैरं वपुर्वेश्मनि।
संसारः सुतरः शिवं करतलक्रोडे लुठत्यञ्जसा,
यः श्रद्धाभरभाजनं जिनपतेः पूजां विधत्ते जनः।।१०।।

अन्वयः—

यो जनः श्रद्धाभरभाजनं (सन्) जिनपतेः पूजां विधत्ते तस्य गृहाङ्गणं स्वर्गः, शुभा साम्राज्यलक्ष्मीः सहचरी, वपुर्वेश्मनि सौभाग्यादिगुणावलिः स्वैरं विलसति, संसारः सुतरः, शिवम् अञ्जसा करतलक्रोडे लुठति।

अर्थ—

जो मनुष्य अत्यधिक श्रद्धायुक्त होकर तीर्थंकर की अर्चना करता है उसका गृह-आंगन स्वर्गतुल्य हो जाता है अथवा स्वर्ग गृहांगण के समान निकट हो जाता है, मनोहारी साम्राज्यलक्ष्मी उसकी सहचरी हो जाती है, उसके शरीररूपी गृह में सौभाग्य आदि (धैर्य, औदार्य और चातुर्य आदि) गुणों की श्रेणी स्वेच्छा से रमण करती है, उसके लिए संसार सुतर—सुखपूर्वक तैरने योग्य हो जाता है और मोक्ष शीघ्र ही उसके हथेली के मध्य लुठने लगता है, हस्तगत हो जाता है।

[2]कदाचिन्नातङ्कः कुपित इव पश्यत्यभिमुखं,
विदूरे दारिद्र्यं चकितमिव नश्यत्यनुदिनम्।
विरक्ता कान्तेव त्यजति कुगतिः सङ्गमुदयो,
न मुञ्चत्यभ्यर्णं सुहृदिव जिनार्चां रचयतः।।११।।

अन्वयः—

जिनार्चां रचयतः आतङ्कः कुपित इव कदाचिद् अभिमुखं न पश्यति। दारिद्र्यं चकितमिव अनुदिनं विदूरे नश्यति। कुगतिः विरक्ता कान्तेव सङ्गं त्यजति। उदयः सुहृदिव अभ्यर्णं न मुञ्चति।

अर्थ—

जो जिनेश्वरदेव की अर्चा करता है उसके भय अथवा रोग कुपित व्यक्ति की भान्ति कभी सम्मुख नहीं देखता, कभी नहीं सताता। उसकी दरिद्रता मानो संत्रस्त होकर सदा दूर से पलायन कर देती है। विरक्त कान्ता की तरह कुगति उसका संग छोड़ देती है और मित्र की भांति प्रगति उसके सामीप्य को नहीं छोड़ती।

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. शिखरिणीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोऽर्च्यते,
यस्तं वन्दत एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वन्द्यते।
यस्तं स्तौति परत्र वृत्रदमनस्तोमेन स स्तूयते,
यस्तं ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः[2] स ध्यायते योगिभिः ।।१२।।

अन्वयः—

यः पुष्पैर्जिनमर्चति सः स्मितसुरस्त्रीलोचनैः अर्च्यते। यः एकशः तं वन्दते सः अहर्निशं त्रिजगता वन्द्यते। यः तं स्तौति सः परत्र वृत्रदमनस्तोमेन स्तूयते। यः तं ध्यायति सः क्लृप्तकर्मनिधनः योगिभिः ध्यायते।

अर्थ—

जो मनुष्य (भावना के) पुष्पों से जिनेश्वरदेव की अर्चना करता है वह देवांगनाओं के प्रसन्न नेत्रों से अर्चित होता है। जो एक बार भी जिनभगवान को वन्दन करता है वह तीन लोक के द्वारा अहर्निश वन्दित होता है। जो उनकी स्तुति करता है वह परलोक (स्वर्ग) में इन्द्रसमूह के द्वारा स्तुत्य होता है और जो उनका ध्यान करता है वह कृत समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। योगिपुरुष भी उनका ध्यान करते हैं।

२. गुरुमहत्त्वप्रकरणम्

[3]अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते, प्रवर्त्तयत्यन्यजनं च निस्पृहः।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम् ।।१३।।

अन्वयः—

स्वहितैषिणा स एव गुरुः सेव्यः यः अवद्यमुक्ते पथि प्रवर्तते (तथा) निःस्पृहः (सन्) अन्यजनं च प्रवर्त्तयति। (पुनश्च यः) स्वयं (संसारसमुद्रं) तरन् (सन्) परं तारयितुं क्षमः।

अर्थ—

आत्महित चाहने वाले व्यक्ति के लिए वही गुरु सेव्य—उपासनीय है जो स्वयं पापवर्जित मार्ग अर्थात् धर्मपथ पर प्रवर्तित होता है तथा निस्पृहभाव से दूसरों को उसी पथ पर प्रवर्तित करता है। एवं जो इस संसारसमुद्र से स्वयं तरता हुआ दूसरों को तारने—पार लगाने में सक्षम होता है।

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. क्लृप्तं रचितं कृतं कर्मणां (अष्टकर्मणां) निधनं—विनाशो येन सः।
३. वंशस्थवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं,
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति।
अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो,
भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित् ॥१४॥

अन्वयः—

यो गुरुः कुबोधं विदलयति, आगमार्थं बोधयति, सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति, कृत्याकृत्यभेदं अवगमयति, तं (गुरुं) विना (अन्यः) कश्चित् भवजलनिधिपोतः नास्ति।

अर्थ—

जो गुरु कुबोध—मिथ्याज्ञान का नाश करता है, आगमों के अर्थ का बोध कराता है, सुगति और दुर्गति के मार्ग के हेतुभूत पुण्य-पाप को व्यक्त करता है, कृत्य और अकृत्य के भेद की अवगति देता है उस गुरु के बिना भवसागर से पार लगाने वाला अन्य कोई प्रवहण—पोत नहीं है।

[2]पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः,
सुहृत्स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्वः परिकरः।
निमज्जन्तं जन्तुं नरककुहरे रक्षितुमलं,
गुरोर्धर्माऽधर्मप्रकटनपरात् कोऽपि न परः ॥१५॥

अन्वयः—

धर्माऽधर्मप्रकटनपरात् गुरोः परः कोऽपि पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः सुहृत् माद्यत्करिभटरथाश्वः स्वामी[3] परिकरः नरककुहरे निमज्जन्तं जन्तुं रक्षितुमलं न।

अर्थ—

धर्म-अधर्म को प्रकट करने में तत्पर गुरु से बढ़कर दूसरा कोई भी व्यक्ति नरक के गढे में पड़ने वाले प्राणी की रक्षा करने में समर्थ नहीं है। फिर चाहे वह पिता हो, माता हो या भाई हो। चाहे वह प्रियपत्नी हो, पुत्रों का समूह हो अथवा मित्र हो। या चाहे मदोन्मत्त हाथी, सुभट, रथ और अश्वों का स्वामी एवं अनुचरवर्ग ही क्यों न हो?

---

१. मालिनीवृत्त।
२. शिखरिणीवृत्त।
३. माद्यन्तो मदोन्मत्ताः करिणो गजाः भटाः सुभटाः रथाः अश्वाश्च यस्य स एवंविधः सामर्थ्यवान् स्वामी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]किं ध्यानेन भवत्वशेषविषयत्यागैस्तपोभिः कृतं,
पूर्णं भावनयाऽलमिन्द्रियदमैः पर्याप्त[2]माप्तागमैः।
किंत्वेकं भवनाशनं कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शासनं,
सर्वे येन विना विनाथबलवत्स्वार्थाय नालं गुणाः ॥१६॥

अन्वयः—

ध्यानेन किम् ? अशेषविषयत्यागैर्भवतु । तपोभिः कृतम् । भावनया पूर्णम् । इन्द्रियदमैः अलम् । आप्तागमैः पर्याप्तम् । किन्तु गुरोः एकं भवनाशनं शासनं गुरुप्रीत्या कुरु । येन विना सर्वे गुणाः विनाथबलवत् स्वार्थाय अलं न ।

अर्थ—

गुरु के शासन—दिशानिर्देशन के बिना ध्यान करने से क्या प्रयोजन? समस्त विषयों का त्याग करने से भी क्या? तप का आचरण करने से क्या लाभ? भावना का अभ्यास करने से भी क्या? इन्द्रियों के निग्रह करने का क्या प्रयोजन? तथा आप्तपुरुषों द्वारा रचित आगमों के पठन से भी क्या? (ये सब गुरु के शासन के बिना निष्फल हैं।) अतः तुम गुरु के शासन को अत्यधिक प्रीति से स्वीकार करो, जो संसारभ्रमण का एकमात्र निवारक है तथा जिसके बिना ध्यानादि सभी गुण अपनी-अपनी अर्थसिद्धि में वैसे ही समर्थ नहीं होते, जैसे सेनापति के बिना सेना।

३. जिनमतप्रकरणम्

[3]न देवं नादेवं न शुभगुरुमेवं न कुगुरुं,
न धर्मं नाधर्मं न गुणपरिणद्धं न विगुणम् ।
न कृत्यं नाकृत्यं न हितमहितं नापि निपुणं,
विलोकन्ते लोका जिनवचनचक्षुर्विरहिताः।।१७।।

अन्वयः—

जिनवचनचक्षुर्विरहिता लोका न देवं नादेवं, न शुभगुरुं न कुगुरुं, न धर्मं नाधर्मं, न गुणपरिणद्धं न विगुणं, न कृत्यं नाकृत्यम् एवं न हितं नापि अहितं निपुणं विलोकन्ते।

अर्थ—

जिनवचनरूप चक्षुओं से रहित व्यक्ति सुदेव और कुदेव, सुगुरु और कुगुरु, धर्म और अधर्म, गुणयुक्त और गुणरहित मनुष्य, करणीय और अकरणीय कार्य में विवेक

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. अत्र किम्, भवतु, कृतम्, पूर्णम्, अलम्, पर्याप्तमित्येते निषेधार्थेऽव्ययाः।
३. शिखरिणीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं कर पाते। इसी प्रकार न वे हित और अहित को भी सम्यक् प्रकार से देख पाते हैं, न जान पाते हैं।

[1]मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं व्यर्थं वृथा श्रोत्रयो-
निर्माणं गुणदोषभेदकलनां तेषामसंभाविनीम्।
दुर्वारं नरकान्धकूपपतनं मुक्तिं बुधा दुर्लभां,
सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषां न कर्णातिथिः।।१८।।

अन्वयः—

सार्वज्ञः दयारसमयः समयः येषां कर्णातिथिः न (जातः) बुधास्तेषां मानुष्यं विफलं वदन्ति (पुनश्च ते तेषां) हृदयं व्यर्थम्, श्रोत्रयोर्निर्माणं वृथा, गुणदोषभेदकलनाम् असंभाविनीम्, नरकान्धकूपपतनं दुर्वारं, मुक्तिं दुर्लभां वदन्ति।

अर्थ—

जिन्होंने सर्वज्ञ के करुणारस से परिपूर्ण सिद्धान्त को नहीं सुना है उनका मनुष्यजन्म निष्फल है, उनका चित्त (करुणाविहीन होने के कारण) व्यर्थ है, उनके कानों का निर्माण निष्प्रयोजन है, गुण और दोष का विवेक करना उनके द्वारा अशक्य है, उनके नरकरूपी अन्धकूप में पतन को रोकना कठिन है, उनकी मुक्ति दुर्लभ है, ऐसा विज्ञपुरुष कहते हैं।

[2]पीयूषं विषवज्जलं ज्वलनवत्तेजस्तमस्तोमव-
न्मित्रं शात्रववत्स्रजं भुजगवच्चिन्तामणिं लोष्ठवत्।
ज्योत्स्नां ग्रीष्मजघर्मवत् स मनुते कारुण्यपण्यापणं,
जैनेन्द्रं मतमन्यदर्शनसमं यो दुर्मतिर्मन्यते।।१९।।

अन्वयः—

यो दुर्मतिः कारुण्यपण्यापणं जैनेन्द्रं मतम् अन्यदर्शनसमं मन्यते सः पीयूषं विषवत्, जलं ज्वलनवत्, तेजः तमस्तोमवत्, मित्रं शात्रववत्, स्रजं भुजगवत्, चिन्तामणिं लोष्ठवत्, ज्योत्स्नां ग्रीष्मजघर्मवत् मनुते।

अर्थ—

जो अज्ञानी पुरुष करुणारूपी वस्तु की प्राप्ति के लिए आपण (हाट) के समान जैनेन्द्रशासन को अन्यदर्शन—बौद्ध, नैयायिक आदि के समान मानता है वह अमृत को विष के समान, जल को अग्नि के समान, प्रकाश को अन्धकारपुंज के समान, मित्र को

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शत्रु के समान, पुष्पमाला को सर्प के समान, चिन्तामणि रत्न को ढेले के समान और चन्द्रमा की चान्दनी को ग्रीष्मऋतु के आतप के समान मानता है।

[1]धर्मं जागरयत्यघं विघटयत्युत्थापयत्युत्पथं,
भिन्ते मत्सरमुच्छिनत्ति कुनयं मथ्नाति मिथ्यामतिम् ।
वैराग्यं वितनोति पुष्यति कृपां मुष्णाति तृष्णां च यत्,
तज्जैनं मतमर्चति प्रथयति ध्यायत्यधीते कृती ।।२०।।

अन्वयः—

कृती यत् जैनं मतम् अर्चति, प्रथयति, ध्यायति, अधीते (सः) तत् धर्मं जागरयति, अघं विघटयति, उत्पथम् उत्थापयति, मत्सरं भिन्ते, कुनयम् उच्छिनत्ति, मिथ्यामतिं मथ्नाति, वैराग्यं वितनोति, कृपां पुष्यति, तृष्णां च मुष्णाति।

अर्थ—

जो विद्वान् जिस जिनशासन की अर्चना करता है, विस्तार करता है, उसके स्वरूप का चिन्तन करता है और उसका अध्ययन करता है वह उस (जिनशासन) धर्म का जागरण—उद्दीपन करता है, पाप का विघटन—नाश करता है, उन्मार्ग का उत्थापन—निवारण करता है, गुणिजनों के प्रति होने वाले द्वेषभाव को छिन्न करता है, कुनय—अनीति का उच्छेद करता है, कुमति को मथ डालता है, वैराग्य को बढ़ाता है, दया का पोषण करता है और तृष्णा—लोभ का निराकरण करता है।

४. संघप्रकरणम्

[2]रत्नानामिव रोहणक्षितिधरः खं तारकाणामिव,
स्वर्गः कल्पमहीरुहामिव सरः पङ्केरुहाणामिव ।
पाथोधिः पयसामिवेन्दुमहसां[3] स्थानं गुणानामसा-
वित्यालोच्य विरच्यतां भगवतः संघस्य पूजाविधिः।।२१।।

अन्वयः—

(यथा) रोहणक्षितिधरः रत्नानामिव, खं तारकाणामिव, स्वर्गः कल्पमहीरुहामिव, सरः पङ्केरुहाणामिव, पाथोधिः इन्दुमहसां पयसामिव (तथा) असौ (संघः) गुणानां स्थानमित्यालोच्य भगवतः संघस्य पूजाविधिः विरच्यताम्।

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

३. **'शशीव महसाम्'**— ऐसा पाठ मानने पर इसका अर्थ होगा—जैसे चन्द्रमा तेज का स्थान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

जिस प्रकार रोहणपर्वत रत्नों का, आकाश तारों का, स्वर्ग कल्पवृक्षों का, सरोवर कमलों का, समुद्र चन्द्रमा की भांति निर्मल जल का स्थान है उसी प्रकार साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप यह चतुर्विध संघ (ज्ञानदर्शनचारित्रादि) गुणों का स्थान है। ऐसा चिन्तन कर कल्याणस्वरूप संघ की पूजाविधि—भक्ति उपासना करनी चाहिए।

[1]यः संसारनिरासलालसमति[2]र्मुक्त्यर्थमुत्तिष्ठते,
यं तीर्थं कथयन्ति पावनतया येनास्ति नान्यः समः।
यस्मै तीर्थपतिर्नमस्यति सतां यस्माच्छुभं जायते,
स्फूर्त्ति[3]र्यस्य परा वसन्ति च गुणा यस्मिन् स संघोऽर्च्यताम् ।।२२।।

अन्वयः—

यः (संघः) संसारनिरासलालसमतिः (सन्) मुक्त्यर्थम् उत्तिष्ठते। (पुनः) यं (संघं) पावनतया तीर्थं कथयन्ति। येन (संघेन) समः अन्यः (कोऽपि) नास्ति। (एवं) यस्मै (संघाय) तीर्थपतिः (स्वयं) नमस्यति। यस्मात् (संघात्) सतां शुभं जायते। यस्य (संघस्य) स्फूर्त्तिः परा (वर्त्तते)। यस्मिन् (संघे) गुणाश्च वसन्ति। सः संघः अर्च्यताम्।

अर्थ—

भव्यप्राणियो! तुम उस संघ की अर्चा-पूजा करो जो संसार-त्याग की उत्सुकमति को उत्पन्न कर मुक्ति की साधना करने वालों के लिए सक्रिय होता है, जो पवित्रता के कारण तीर्थ कहलाता है, जिसके समान अन्य कोई भी (तीर्थ) नहीं है। (स्वयं) तीर्थंकर जिसे नमस्कार करते हैं, जिससे सज्जन व्यक्तियों का कल्याण होता है, जिसकी महिमा उत्कृष्ट है और जिसमें अनेक गुणों की विद्यमानता है।

[4]लक्ष्मीस्तं स्वयमभ्युपैति रभसा कीर्त्तिस्तमालिङ्गति,
प्रीतिस्तं भजते मतिः प्रयतते तं लब्धुमुत्कण्ठया।
स्वःश्रीस्तं परिरब्धुमिच्छति मुहुर्मुक्तिस्तमालोकते,
यः संघं गुणराशिकेलिसदनं श्रेयोरुचिः सेवते ।।२३।।

अन्वयः—

यः श्रेयोरुचिः गुणराशिकेलिसदनं संघं सेवते लक्ष्मीः तं रभसा स्वयमभ्युपैति, कीर्त्तिः तम् आलिङ्गति, प्रीतिः तं भजते, मतिः उत्कण्ठया तं लब्धुं प्रयतते,

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. संसारस्य निरासे—निराकरणे त्यागे लालसा—इच्छा यस्याः सा ईदृशी मतिर्यस्य सः।
३. स्फूर्त्तिः महिमेत्यर्थः।
४. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वःश्रीः तं मुहुः परिरब्धुमिच्छति, मुक्तिः तमालोकते।

अर्थ—

कल्याण में रुचि रखने वाला जो मनुष्य गुणसमूह के क्रीडागृह के समान संघ की सेवा—उपासना करता है, उसके लक्ष्मी स्वयं शीघ्रता से निकट आती है, कीर्त्ति उसका आलिंगन करती है, प्रीति उसकी सेवा करती है, बुद्धि उत्कंठित होकर उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, स्वर्गलक्ष्मी पुनःपुनः उससे आलिंगन—मिलना चाहती है और मुक्ति उसका अवलोकन करती है, प्राप्त हो जाती है।

[1]यद्भक्तेः फलमर्हदादिपदवीमुख्यं कृषेः सस्यवत्,
चक्रित्वं त्रिदशेन्द्रतादि तृणवत् प्रासङ्गिकं गीयते।
शक्तिं यन्महिमस्तुतौ न दधते वाचोऽपि वाचस्पतेः,
संघः सोऽघहरः पुनातु चरणन्यासैः सतां मन्दिरम् ।।२४।।

अन्वयः—

यद्भक्तेः अर्हदादिपदवीमुख्यं फलं कृषेः सस्यवत् । चक्रित्वं त्रिदशेन्द्रतादि प्रासङ्गिकं (फलं) तृणवत् गीयते। यन्महिमस्तुतौ वाचस्पतेः वाचोऽपि शक्तिं न दधते सः अघहरः संघः चरणन्यासैः सतां मन्दिरं पुनातु।

अर्थ—

धान्य की उत्पत्ति जैसे कृषि का मुख्य फल है और प्रासंगिक फल है—तृण आदि का मिलना, वैसे ही संघ की भक्ति का मुख्य फल है—अर्हत् आदि पदवी की प्राप्ति और उसका प्रासंगिक फल कहा जाता है—चक्रवर्तित्व तथा इन्द्रत्व आदि का प्राप्त होना। जिस संघ की महिमा का वर्णन करने में बृहस्पति (देवताओं के आचार्य) की वाणी भी समर्थ नहीं है वह पापहारी संघ अपने चरणन्यास से सत्पुरुषों के निकेतन को पवित्र करे।

५. अहिंसाप्रकरणम्

[2]क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजःसंहारवात्या भवो-
दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली संकेतदूती श्रियाम्।
निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला,
सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः परैः।।२५।।

अन्वयः—

सुकृतस्य क्रीडाभूः, दुष्कृतरजःसंहारवात्या, भवोदन्वन् नौः, व्यसनाग्निमेघपटली,

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रियां संकेतदूती, त्रिदिवौकसः निःश्रेणिः, मुक्तेः प्रियसखी, कुगत्यर्गला कृपैव सत्त्वेषु क्रियतां, परैरशेषैः क्लेशैः भवतु।

अर्थ—

करुणा पुण्य की क्रीडास्थली है, पापरूप रजों को समेटने के लिए अन्धड़ के समान है, भव-समुद्र को तैरने के लिए नौका है, कष्टरूप अग्नि का उपशमन करने के लिए बरसने वाले मेघ की घटा के तुल्य है, संपदाओं से मिलाने वाली दूती है, स्वर्गगृह के आरोहण के लिए सोपानपंक्ति है, मुक्ति की प्रियसहेली है और कुगति को रोकने के लिए आगल के समान है उस करुणा का ही तुम प्राणियों पर आचरण करो। अन्य सभी कायक्लेशों (शरीर को कष्ट देने वाले उपक्रमों) से क्या प्रयोजन?

[1]यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयति,
प्रतीच्यां सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि।
यदि क्ष्मापीठं स्यादुपरि सकलस्याऽपि जगतः,
प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम्।।२६।।

अन्वयः—

यदि ग्रावा तोये तरति। यदि तरणिः प्रतीच्याम् उदयति। यदि सप्तार्चिः शैत्यं भजति। यदि क्ष्मापीठं सकलस्यापि जगतः उपरि स्यात् तदपि सत्त्वानां वधः कथमपि क्वापि सुकृतं न प्रसूते।

अर्थ—

यदि पाषाण पानी पर तैरने लग जाए, यदि सूर्य पश्चिम में उदित होने लग जाए, यदि अग्नि शीतल हो जाए, यदि पृथ्वीतल समस्त जगत के ऊपर भी आ जाए तो भी प्राणियों की हिंसा किसी भी प्रकार से कहीं भी सुकृत—पुण्य को उत्पन्न नहीं कर सकती।

[2]स कमलवनमग्नेर्वासरं भास्वदस्ता-
दमृतमुरगवक्त्रात् साधुवादं विवादात्।
रुगपगममजीर्णाज्जीवितं कालकूटा-
दभिलषति वधाद्यः प्राणिनां धर्ममिच्छेत् ।।२७।।

अन्वयः—

यः प्राणिनां वधात् धर्ममिच्छेत् सः अग्नेः (सकाशात्) कमलवनम्, भास्वदस्तात् वासरम्, उरगवक्त्रात् अमृतम्, विवादात् साधुवादम्, अजीर्णात् रुगपगमम्, कालकूटात् जीवितमभिलषति।

---

१. शिखरिणीवृत्त।
२. मालिनीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

जो मनुष्य प्राणियों की हिंसा से धर्म की इच्छा करता है वह अग्नि से कमलवन की, सूर्य के अस्तंगत होने पर दिवस की, सर्प के मुख से अमृत की, विवाद से साधुवाद की, अजीर्ण से रोगोपशमन की और कालकूट विष से जीवित—प्राणधारण करने की अभिलाषा करता है।

[1]आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरं,
वित्तं भूरितरं बलं बहुतरं स्वामित्वमुच्चैस्तरम् ।
आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगति श्लाघ्यत्वमल्पेतरं,
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरं चेतः कृपार्द्रान्तरम् ।।२८।।

अन्वयः—

कृपार्द्रान्तरं चेतः आयुः दीर्घतरम्, वपुः वरतरम्, गोत्रं गरीयस्तरम्, वित्तं भूरितरम्, बलं बहुतरम्, स्वामित्वम् उच्चैस्तरम्, आरोग्यं विगतान्तरम्, त्रिजगति श्लाघ्यत्वम् अल्पेतरम्, संसारम्बुनिधिं सुतरं करोति ।

अर्थ—

करुणा से भीतर तक भीगा हुआ चित्त (अन्तःकरण) मनुष्य की आयु को प्रलम्ब, शरीर को अतिसुन्दर, कुल अथवा नाम को गुरुतर, धन को अतिप्रचुर, बल को वृद्धिंगत, स्वामित्व को उत्कृष्ट, आरोग्य को अविच्छिन्न, तीनों लोकों में श्लाघ्यता को अत्यधिक और संसाररूपी समुद्र को सुतर—सुखपूर्वक तैरने योग्य करता है।

६. सत्यप्रकरणम्

[2]विश्वासायतनं विपत्तिदलनं देवैः कृताराधनं,
मुक्तेः पथ्यदनं जलाग्निशमनं व्याघ्रोरगस्तम्भनम् ।
श्रेयःसंवननं समृद्धिजननं सौजन्यसंजीवनं,
कीर्त्तेः केलिवनं प्रभावभवनं सत्यं वचः पावनम् ।।२९।।

अन्वयः—

सत्यं वचः पावनम् (अस्ति), (तथैव) विश्वासायतनम्, विपत्तिदलनम्, देवैः कृताराधनम्, मुक्तेः पथ्यदनम्, जलाग्निशमनम्, व्याघ्रोरगस्तम्भनम्, श्रेयः-संवननम्, समृद्धिजननम्, सौजन्यसंजीवनम्, कीर्त्तेः केलिवनम्, प्रभावभवनम् ।

अर्थ—

सत्यवचन पावन है। उसी प्रकार वह विश्वास का आयतन—स्थान, आपदाओं का नाश करने वाला, देवों द्वारा उपासनीय, मुक्तिपथ का पाथेय, जल और अग्नि के उपद्रव को शान्त करने वाला, व्याघ्र और सर्प का स्तम्भन करने वाला, कल्याण अथवा

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष को वश में करने वाला, समृद्धि—ऐश्वर्य का जनक, सुजनता को पुनर्जीवित करने वाला, कीर्त्ति का क्रीडागृह तथा प्रभाव का आश्रयस्थान है।

[1]यशो यस्माद् भस्मीभवति वनवह्नेरिव वनं,
निदानं दुःखानां यदवनिरुहाणां जलमिव।
न यत्र स्याच्छायाऽऽतप इव तपःसंयमकथा,
कथंचित्तन्मिथ्यावचनमभिधत्ते न मतिमान् ।।३०।।

अन्वयः—

वनवह्नेः वनमिव यस्माद् यशो भस्मीभवति, अवनिरुहाणां जलमिव यद् दुःखानां निदानम्, आतपे छाया इव यत्र तपःसंयमकथा न, तत् मिथ्यावचनं मतिमान् कथंचित् न अभिधत्ते।

अर्थ—

जैसे वन की अग्नि अरण्य को जलाकर भस्मीभूत कर देती है वैसे ही मिथ्यावचन यश को भस्मसात् कर देता है। जैसे वृक्षों की उत्पत्ति का हेतु जल होता है वैसे ही दुःखोत्पत्ति का कारण मिथ्यावचन है। जैसे सूर्य के आतप में छाया नहीं होती वैसे ही मिथ्यावचन में तप और संयम की बात भी नहीं होती। अतः मतिमान् पुरुष किसी भी प्रकार से मिथ्यावचन—असत्यवचन नहीं बोलता।

[2]असत्यमप्रत्ययमूलकारणं, कुवासनासद्म समृद्धिवारणम् ।
विपन्निदानं परवञ्चनोर्जितं, कृतापराधं कृतिभिर्विवर्जितम् ।।३१।।

अन्वयः—

अप्रत्ययमूलकारणम्, कुवासनासद्म, समृद्धिवारणम्, विपन्निदानम्, परवञ्चनोर्जितम्, कृतापराधम् असत्यं कृतिभिः विवर्जितम्।

अर्थ—

सुधीजनों ने असत्य का विवर्जन किया है, क्योंकि वह अविश्वास का मूल कारण, कुसंस्कारों का घर, समृद्धि को रोकने वाला, विपत्तियों का कारण, दूसरों को ठगने में समर्थ तथा अपराधों को जन्म देने वाला है।

[3]तस्याग्निर्जलमर्णवः स्थलमरिर्मित्रं सुराः किङ्कराः,
कान्तारं नगरं गिरिर्गृहमहिर्माल्यं मृगारिर्मृगः।
पातालं बिलमस्त्रमुत्पलदलं व्यालः शृगालो विषं,
पीयूषं विषमं समं च वचनं सत्याञ्चितं वक्ति यः ।।३२।।

१. शिखरिणीवृत्त।
२. वंशस्थवृत्त।
३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः—

यः सत्याञ्चितं वचनं वक्ति तस्य (पुंसः) (सत्यप्रभावात्) अग्निर्जलम्, अर्णवः स्थलम्, अरिर्मित्रम्, सुराः किङ्कराः, कान्तारं नगरम्, गिरिर्गृहम्, अहिर्माल्यम्, मृगारिर्मृगः, पातालं बिलम्, अस्त्रम् उत्पलदलम्, व्यालः शृगालः, विषं पीयूषम्, विषमं समञ्च (स्यात्)।

अर्थ—

जो व्यक्ति सत्ययुक्त वचन बोलता है (सत्य के प्रभाव से) उसके लिए अग्नि जल, समुद्र स्थल तथा शत्रु मित्र के समान हो जाते हैं। देवता सेवक, अरण्य नगर तथा पर्वत गृह के समान हो जाते हैं। सर्प माला, सिंह हरिण तथा पाताल छिद्र के समान बन जाते हैं। अस्त्र (तलवार आदि) कमलदल, दुष्ट हाथी सियार, विष अमृत तथा विषम स्थान समतल के समान बन जाते हैं।

७. अस्तेयप्रकरणम्

[1]तमभिलषति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धि-
स्तमभिसरति कीर्त्तिर्मुञ्चते तं भवार्त्तिः।
स्पृहयति सुगतिस्तं नेक्षते दुर्गतिस्तं,
परिहरति विपत्तं यो न गृह्णात्यदत्तम् ।।३३।।

अन्वयः—

योऽदत्तं न गृह्णाति तं सिद्धिरभिलषति, तं समृद्धिः वृणीते, तं कीर्त्तिरभिसरति, तं भवार्त्तिः मुञ्चते, तं सुगतिः स्पृहयति, तं दुर्गतिः न ईक्षते, तं विपत् परिहरति।

अर्थ—

जो मनुष्य अदत्त—बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण नहीं करता उसकी अणिमादि सिद्धि अथवा मुक्ति अभिलाषा करती है, समृद्धि उसका वरण करती है, कीर्त्ति उसके सम्मुख जाती है, संसार की पीड़ा उसे छोड़ देती है, सुगति उसकी स्पृहा करती है, दुर्गति उसकी ओर दृष्टिपात नहीं करती और विपत्ति उसका परिहार कर देती है।

[2]अदत्तं नादत्ते कृतसुकृतकामः किमपि यः,
शुभश्रेणिस्तस्मिन् वसति कलहंसीव कमले।
विपत्तस्माद् दूरं व्रजति रजनीवाम्बरमणे-
र्विनीतं विद्येव त्रिदिवशिवलक्ष्मीर्भजति तम् ।।३४।।

१. मालिनीवृत्त।
२. शिखरिणीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः—

यः कृतसुकृतकामः (सन्) किमपि अदत्तं नादत्ते तस्मिन् कमले कलहंसीव शुभश्रेणिः वसति। तस्मात् अम्बरमणेः रजनीव विपत् दूरं व्रजति। विनीतं विद्येव त्रिदिवशिवलक्ष्मीः तं भजति।

अर्थ—

सुकृत की कामना करने वाला जो मनुष्य किसी भी प्रकार का अदत्त ग्रहण नहीं करता उसमें कल्याण की परम्परा वैसे ही निवास करती है जैसे कमल पर राजहंसी। उससे विपत्ति वैसे ही दूर चली जाती है जैसे सूर्य से रात्री। स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी उसकी वैसे ही उपासना करती है जैसे विद्या विनीत की।

[1]यन्निर्वर्त्तितकीर्त्तिधर्मनिधनं[2] सर्वागसां साधनं,
प्रोन्मीलद्वधबन्धनं विरचितक्लिष्टाशयोद्बोधनम्।
दौर्गत्यैकनिबन्धनं कृतसुगत्याश्लेषसंरोधनं,
प्रोत्सर्पत्प्रधनं जिघृक्षति[3] न तद् धीमानदत्तं धनम् ॥३५॥

अन्वयः—

यत् निर्वर्त्तितकीर्त्तिधर्मनिधनम्, सर्वागसां साधनम्, प्रोन्मीलद्वधबन्धनम्, विरचितक्लिष्टाशयोद्बोधनम्, दौर्गत्यैकनिबन्धनम्, कृतसुगत्याश्लेष-संरोधनम्, प्रोत्सर्पत्प्रधनम् तद् अदत्तं धनं धीमान् न जिघृक्षति।

अर्थ—

जो कीर्त्ति और धर्म का निधन—विनाश करता है, जो समस्त अपराधों का साधनभूत है, जिससे वध-बन्धन प्रकट होते हैं, जो दुष्ट आशय—अभिप्राय को जाग्रत करता है, जो दुर्गति का एकमात्र कारण है, जो सुगति-प्राप्ति को रोकता है और जिससे कलह बढ़ता है, उस अदत्त धन को बुद्धिमान् पुरुष ग्रहण करने की अभिलाषा नहीं करता।

[4]परजनमनःपीडाक्रीडावनं वधभावना-
भवनमवनिव्यापिव्यापल्लताघनमण्डलम्।
कुगतिगमने मार्गः स्वर्गापवर्गपुरार्गलं,
नियतमनुपादेयं स्तेयं नृणां हितकाङ्क्षिणाम् ।।३६।।

अन्वयः—

परजनमनःपीडाक्रीडावनम्, वधभावनाभवनम्, अवनिव्यापिव्यापल्लता-

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. निर्वर्त्तितं कृतं कीर्त्तिधर्मयोर्निधनं—विनाशो येन तत्।
३. ग्रहीतुम् इच्छति—जिघृक्षति। यह इच्छार्थक क्रियापद है।
४. हरिणीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घनमण्डलम्, कुगतिगमने मार्गः, स्वर्गापवर्गपुरार्गलं स्तेयं हितकाङ्क्षिणां नृणां नियतमनुपादेयम् (स्यात्)।

अर्थ—

चौर्य कर्म दूसरों के मन को पीड़ा पहुंचाने के लिए क्रीडावन है, हिंसा की भावना का उत्पत्ति-स्थल है, पृथ्वी पर फैलने वाली विपत्तिरूप लताओं के लिए मेघपटल है, कुगति में जाने का मार्ग है तथा स्वर्ग और मोक्षरूप नगर के लिए आगल है। अतः हित चाहने वाले मनुष्यों के लिए चौर्य कर्म निश्चित ही अनुपादेय है—त्याज्य है।

८. शीलप्रकरणम्

[1]दत्तस्तेन जगत्यकीर्त्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चकः,
चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः।
संकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः,
[2]शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः ।।३७।।

अन्वयः—

येन त्रैलोक्यचिन्तामणिः निजम् अखिलं शीलं विलुप्तं तेन जगति अकीर्त्ति-पटहो दत्तः, गोत्रे मषीकूर्चकः (दत्तः), चारित्रस्य जलाञ्जलिः (दत्तः), गुणगणारामस्य दावानलः (दत्तः), सकलापदां संकेतः (दत्तः), शिवपुरद्वारे दृढः कपाटः (दत्तः)।

अर्थ—

जो व्यक्ति तीनों लोकों में चिन्तामणि रत्न के समान अपने शील को सम्पूर्णरूप से खंडित कर देता है वह जगत् में अपयश के पटह को बजाता है, कुल की निर्मलता पर कालिख पोतता है, चारित्र को जलाञ्जलि देता है, गुणसमूहरूपी उपवन में दवाग्नि लगाता है, समस्त आपदाओं को आमन्त्रण देता है और मुक्तिनगर के द्वार पर दृढ कपाट लगाता है, उसे बन्द कर देता है।

[3]व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां व्रजन्ति क्षयं,
कल्याणानि समुल्लसन्ति विबुधाः सान्निध्यमध्यासते।
कीर्त्तिः स्फूर्त्तिमियर्त्ति यात्युपचयं धर्मः प्रणश्यत्यघं,
स्वर्निर्वाणसुखानि संनिदधते ये शीलमाबिभ्रते ।।३८।।

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

२. 'शीलं येन.....' इसके स्थान पर 'कामार्त्तस्त्यजति प्रबोधयति वा स्वस्त्रीं परस्त्रीं न यः' ऐसा पाठ मानने पर इसका अर्थ होगा—जो कामपीड़ित मनुष्य अपनी स्त्री से संतुष्ट नहीं होता और पराई स्त्री का त्याग नहीं करता, वह ....।

३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः—

ये शीलमाबिभ्रते तेषां व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदः क्षयं व्रजन्ति, कल्याणानि समुल्लसन्ति, विबुधाः सान्निध्यमध्यासते, कीर्त्तिः स्फूर्त्तिमियर्त्ति, धर्मः उपचयं याति, अघं प्रणश्यति, स्वर्निर्वाणसुखानि संनिदधते।

अर्थ—

जो व्यक्ति शील को धारण करते हैं उनके व्याघ्र, दुष्ट हाथी अथवा सर्प, जल और वह्नि आदि से होने वाली विपदाओं का क्षय हो जाता है। उनके श्रेयस् की वृद्धि होती है। देवता उनके सान्निध्य को प्राप्त करते हैं, उनका सहयोग करते हैं। उनकी कीर्त्ति विस्तृत होती है। उनके धर्म का उपचय होता है, पाप का प्रणाश होता है तथा स्वर्ग और निर्वाण के सुख निकट हो जाते हैं।

[1]हरति कुलकलङ्कं लुम्पते पापपङ्कं,
सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यतामातनोति।
नमयति सुरवर्गं हन्ति दुर्गोपसर्गं,
रचयति शुचिशीलं स्वर्गमोक्षौ सलीलम् ।।३९।।

अन्वयः—

शुचिशीलं कुलकलङ्कं हरति, पापपङ्कं लुम्पते, सुकृतम् उपचिनोति, श्लाघ्यताम् आतनोति, सुरवर्गं नमयति, दुर्गोपसर्गं हन्ति, स्वर्गमोक्षौ सलीलं रचयति।

अर्थ—

निर्मल शील कुल के कलंक को दूर करता है, पापरूप कीचड़ को नष्ट करता है, सुकृत का उपचय करता है, श्लाघ्यता को बढाता है, देवगण को नमाता है, भयंकर उपसर्गों को उपशान्त करता है और स्वर्ग तथा मोक्ष की सहज रचना करता है, प्राप्त कराता है।

[2]तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि सारङ्गति,
व्यालोऽप्यश्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूषति।
विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपां-
नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणां शीलप्रभावाद् ध्रुवम् ।।४०।।

अन्वयः—

नृणां शीलप्रभावाद् ध्रुवं अग्निरपि तोयति, अहिरपि स्रजति, व्याघ्रोऽपि सारङ्गति, व्यालोऽपि अश्वति, पर्वतोऽपि उपलति, क्ष्वेडोऽपि पीयूषति, विघ्नोऽपि उत्सवति, अरिरपि प्रियति, अपांनाथोऽपि क्रीडातडागति, अटव्यपि स्वगृहति।

---

१. मालिनीवृत्त।
२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

मनुष्यों के शील के प्रभाव से निश्चित ही अग्नि भी जल की तरह शीतल हो जाती है। सर्प भी पुष्पमाला के समान और सिंह भी हरिण के समान हो जाता है। दुष्ट हाथी भी घोड़े के समान और पर्वत भी पाषाणखंड के समान प्रतीत होता है। विष भी अमृत की भांति और विघ्न भी उत्सव की भांति हो जाता है। शत्रु भी प्रियजन के समान आचरण करता है। समुद्र भी क्रीडासरोवर की भांति और अटवी भी स्वगृह की भान्ति हो जाती है।

९. परिग्रहत्यागप्रकरणम्

[1]कालुष्यं जनयन् जडस्य रचयन् धर्मद्रुमोन्मूलनं,
क्लिश्यन्नीतिकृपाक्षमाकमलिनीर्लोभाम्बुधिं वर्धयन्।
मर्यादातटमुद्रुजन् शुभमनोहंसप्रवासं दिशन्,
किं न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिं गतः[2] ।।४१।।

अन्वयः—

प्रवृद्धिं गतः (सन्) परिग्रहनदीपूरः जडस्य कालुष्यं जनयन्, धर्मद्रुमोन्मूलनं रचयन्, नीतिकृपाक्षमाकमलिनीः क्लिश्यन्, लोभाम्बुधिं वर्धयन्, मर्यादातटम् उद्रुजन्, शुभमनोहंसप्रवासं दिशन् किं क्लेशकरः न (स्यात्)?

अर्थ—

बढा हुआ परिग्रहरूप नदी का पूर—प्रवाह जड़—परिग्रहासक्त मनुष्य को कलुषित बनाता हुआ, धर्मरूपी वृक्ष का उन्मूलन करता हुआ, नीति, करुणा और क्षान्तिरूपी कमलिनी को क्लेश पहुंचाता हुआ, लोभरूपी समुद्र को वृद्धिंगत करता हुआ, मर्यादा के तटों को तोड़ता हुआ तथा शुभ मनरूप हंस को प्रवास में भेजता हुआ क्या-क्या क्लेश करने वाला नहीं होता?

[3]कलहकलभविन्ध्यः क्रोधगृध्रश्मशानं,
व्यसनभुजगरन्ध्रं द्वेषदस्युप्रदोषः।
सुकृतवनदवाग्निर्मार्दवाम्भोदवायु-
र्नयनलिनतुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ।।४२।।

अन्वयः—

अत्यर्थम् अर्थानुरागः कलहकलभविन्ध्यः, क्रोधगृध्रश्मशानम्, व्यसनभुजगरन्ध्रम्, द्वेषदस्युप्रदोषः, सुकृतवनदवाग्निः, मार्दवाम्भोदवायुः, नयनलिनतुषारः (इव अस्ति)।

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

२. इस श्लोक में प्रयुक्त जनयन्, रचयन्, क्लिश्यन्, वर्धयन्, उद्रुजन् (उत्पूर्वक रुजोंज् भङ्गे), दिशन् शतृप्रत्ययान्त शब्दरूप हैं।

३. मालिनीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

धन के प्रति अत्यधिक अनुराग कलहरूपी बाल हस्ती के लिए विन्ध्यपर्वत के समान, क्रोधरूपी गीध के लिए श्मशान के तुल्य, विपत्तिरूपी सर्प के लिए बिल की तरह, द्वेषरूपी चोर के लिए रात्रि के प्रारम्भ काल के समान, पुण्यरूपी वन के लिए दवाग्नि की तरह, मार्दवरूपी मेघ के लिए वायु के समान तथा न्यायरूपी कमल के लिए पाले के समान है।

[1]प्रत्यर्थी प्रशमस्य मित्रमधृतेर्मोहस्य विश्रामभूः,
पापानां खनिरापदां पदमसद्ध्यानस्य लीलावनम्।
व्याक्षेपस्य निधिर्मदस्य सचिवः शोकस्य हेतुः कलेः,
केलिवेश्म परिग्रहः परिहृतेर्योग्यो विविक्तात्मनाम् ।।४३।।

अन्वयः—

प्रशमस्य प्रत्यर्थी, अधृतेः मित्रम्, मोहस्य विश्रामभूः, पापानां खनिः, आपदां पदम्, असद्ध्यानस्य लीलावनम्, व्याक्षेपस्य निधिः, मदस्य सचिवः, शोकस्य हेतुः, कलेः केलिवेश्म परिग्रहो विविक्तात्मनां परिहृतेः योग्यः (अस्ति)।

अर्थ—

परिग्रह उपशम का शत्रु तथा अधृति—असन्तोष का मित्र है। वह मोह की विश्रामस्थली, पापों की खान और आपदाओं का स्थान है। वह असद्ध्यान (आर्त्त-रौद्र) का क्रीडावन, व्याकुलता की निधि, अहंकार का सचिव, शोक का हेतु तथा कलह का क्रीडागृह है। अतः विवेकी पुरुषों के लिए परिग्रह का त्याग करना उचित है।

[2]वह्निस्तृप्यति नेन्धनैरिह यथा नाम्भोभिरम्भोनिधि-
स्तद्वन्मोहघनो घनैरपि धनैर्जन्तुर्न संतुष्यति।
न त्वेवं मनुते विमुच्य विभवं निःशेषमन्यं भवं,
यात्यात्मा तदहं मुधैव विदधाम्येनांसि भूयांसि किम् ।।४४।।

अन्वयः—

यथा वह्निः (घनैरपि) इन्धनैः, अम्भोनिधिः (घनैरपि) अम्भोभिः न तृप्यति तद्वत् मोहघनो जन्तुः इह घनैरपि धनैः न संतुष्यति। न तु एवं मनुते (यत्) आत्मा निःशेषं विभवं विमुच्य अन्यं भवं याति तदहं मुधैव भूयांसि एनांसि किं विदधामि ?

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

जैसे अग्नि अत्यधिक इन्धन से और समुद्र अत्यधिक जल से तृप्त नहीं होता वैसे ही सघन मोह से ग्रस्त प्राणी प्रचुर धन पाकर भी इस संसार में संतुष्ट नहीं होता। वह ऐसा मानता ही नहीं कि यह आत्मा समस्त वैभव को यहीं छोड़कर परभव में जाती है, तब व्यर्थ ही मैं प्रचुर पापों का आचरण क्यों करूं?

१०. क्रोधत्यागप्रकरणम्

[1]यो मित्रं मधुनो विकारकरणे संत्राससम्पादने,
सर्पस्य प्रतिबिम्बमङ्गदहने सप्तार्चिषः सोदरः ।
चैतन्यस्य निषूदने विषतरोः सब्रह्मचारी चिरं,
स क्रोधः कुशलाभिलाषकुशलैः प्रोन्मूलमुन्मूल्यताम् ।।४५।।

अन्वयः—

यः विकारकरणे मधुनो मित्रम्, संत्राससम्पादने सर्पस्य प्रतिबिम्बम्, अङ्गदहने सप्तार्चिषः सोदरः, चैतन्यस्य निषूदने विषतरोः चिरं सब्रह्मचारी स क्रोधः कुशलाभिलाषकुशलैः प्रोन्मूलमुन्मूल्यताम् ।

अर्थ—

जो व्यक्ति कल्याण चाहते हैं उन कुशल व्यक्तियों को उस क्रोध का जड़मूल से उन्मूलन करना चाहिए, जो (चित्त को) विकृत करने में मद्य का मित्र है, जो संत्रास उत्पन्न करने में सर्प की प्रतिच्छाया है, जो शरीर को जलाने में अग्नि का सहोदर है, जो चैतन्य को विनष्ट करने में विषवृक्ष का चिरकालिक साथी है।

[2]फलति कलितश्रेयःश्रेणिप्रसूनपरम्परः,
प्रशमपयसा सिक्तो मुक्तिं तपश्चरणद्रुमः।
यदि पुनरसौ प्रत्यासत्तिं प्रकोपहविर्भुजो,
भजति लभते भस्मीभावं तदा विफलोदयः।।४६।।

अन्वयः—

कलितश्रेयःश्रेणिप्रसूनपरम्परः तपश्चरणद्रुमः प्रशमपयसा सिक्तः (सन्) मुक्तिं फलति। यदि पुनः असौ (तपश्चरणद्रुमः) प्रकोपहविर्भुजः प्रत्यासत्तिं भजति तदा विफलोदयः (सन्) भस्मीभावं लभते।

अर्थ—

कल्याण की श्रेणिरूप पुष्पों की शृंखला से युक्त वह तपश्चर्यारूपी वृक्ष

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. हरिणीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशमजल से सिक्त होकर मोक्ष को फलित करता है। यदि वह क्रोधरूपी अग्नि की समीपता को प्राप्त होता है तो वह फलविहीन होकर भस्मसात् हो जाता है।

[1]सन्तापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय-
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम्।
कीर्त्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं,
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम् ।।४७।।

अन्वयः—

यः सन्तापं तनुते, विनयं भिनत्ति, सौहार्दम् उत्सादयति, उद्वेगं जनयति, अवद्यवचनं सूते, कलिं विधत्ते, कीर्त्तिं कृन्तति, दुर्मतिं वितरति, पुण्योदयं व्याहन्ति, कुगतिं दत्ते स सदोषः रोषः सतां हातुम् उचितः(अस्ति)।

अर्थ—

जो संताप को बढ़ाता है, विनय का भेदन करता है, सौहार्द को मिटाता है, उद्वेग को उत्पन्न करता है, पापकारी वचन को जन्म देता है, कलह को कराता है, कीर्त्ति को काटता है, दुर्बुद्धि को बांटता है, पुण्य के उदय को रोकता है और कुगति देता है, ऐसे अनेक दोषों से युक्त वह क्रोध सत्पुरुषों के लिए त्यागने योग्य है।

[2]यो धर्मं दहति द्रुमं दव इवोन्मथ्नाति नीतिं लतां,
दन्तीवेन्दुकलां विधुन्तुद इव क्लिश्नाति कीर्त्तिं नृणाम्।
स्वार्थं वायुरिवाम्बुदं विघटयत्युल्लासयत्यापदं,
तृष्णां घर्म इवोचित कृतकृपालोपः स कोपः कथम्? ॥४८॥

अन्वयः—

दवो द्रुममिव यो धर्मं दहति, दन्ती लतामिव नीतिम् उन्मथ्नाति। विधुन्तुदः इन्दुकलामिव नृणां कीर्त्तिं क्लिश्नाति, वायुः अम्बुदमिव स्वार्थं विघटयति, घर्मः तृष्णामिव आपदम् उल्लासयति स कृतकृपालोपः कोपः कथम् उचितः(स्यात्)?

अर्थ—

जैसे दवाग्नि वृक्ष को जला देती है वैसे ही क्रोध धर्म को भस्मसात् कर देता है। जैसे हाथी लता को रौंद डालता है वैसे ही क्रोध नीति—न्याय को मथ देता है। जैसे राहू चन्द्रमा को ग्रसित कर लेता है वैसे ही क्रोध मनुष्यों की कीर्त्ति को विबाधित करता है। जैसे वायु बादल को छिन्न-भिन्न करता है वैसे ही क्रोध स्वार्थ को विघटित करता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु प्यास को वृद्धिंगत करती है वैसे ही क्रोध आपदा का विस्तार करता है। इस प्रकार करुणा को लुप्त करने वाला वह क्रोध कैसे उचित हो सकता है?

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. मानत्यागप्रकरणम्

[1]यस्मादाविर्भवति वितर्तिर्दुस्तरापन्नदीनां,
यस्मिन् शिष्टाभिरुचितगुणग्रामनामापि नास्ति।
यश्च व्याप्तं वहति वधधीधूम्यया[2] क्रोधदावं,
तं मानाद्रिं परिहर दुरारोहमौचित्यवृत्तेः।।४९।।

अन्वयः—

यस्माद् दुस्तरापन्नदीनां विततिः[3] आविर्भवति। यस्मिन् शिष्टाभिरुचित-गुणग्रामनामापि नास्ति। यश्च वधधीधूम्यया व्याप्तं क्रोधदावं वहति। तम् औचित्यवृत्तेः दुरारोहं मानाद्रिं परिहर।

अर्थ—

जिस अहंकाररूपी पर्वत से आपत्तिरूपी नदियों का विस्तार प्रकट होता है, उनको पार करना कठिन होता है। जिस अहंकार में शिष्टपुरुषों के प्रीतिजनक गुणसमूह (ज्ञान-औदार्य आदि) का नामोनिशान भी नहीं होता। जो अहंकार क्रोधरूपी दावानल को वहन करता है, वह हिंसाबुद्धि के धूम्रसमूह से व्याप्त है। उस अहंकार-पर्वत पर आरोहण करना कष्टप्रद होता है। उसका तुम औचित्यवृत्ति—विनयोपचार से परिहार करो।

[4]शमालानं भञ्जन् विमलमतिनाडीं विघटयन्,
किरन् दुर्वाक्पांशूत्करमगणयन्नागमशृणिम्।
भ्रमन्नुर्व्यां स्वैरं विनयनयवीथिं विदलयन्,
जनः कं नानर्थं जनयति मदान्धो द्विप इव ।।५०।।

अन्वयः—

मदान्धो जनः द्विप इव शमालानं भञ्जन्, विमलमतिनाडीं विघटयन्, दुर्वाक्पांशूत्करं किरन्, आगमशृणिम् अगणयन्, उर्व्यां स्वैरं भ्रमन्, विनयनयवीथिं विदलयन् कम् अनर्थं न जनयति।

अर्थ—

जैसे मदोन्मत्त हाथी आलान (हाथी बान्धने का स्तम्भ) को उखाड़ देता है, बन्धन-रज्जु (सांकल) को तोड़ देता है, धूलिसमूह को उछालता है, अंकुश की परवाह नहीं करता, सारी मर्यादाओं को तोड़कर स्वच्छन्दता से विचरण करता है वैसे ही अहंकार से अन्धा बना हुआ व्यक्ति उपशमरूपी आलान को उखाड़ता हुआ, निर्मल

---

१. मन्दाक्रान्तावृत्त।
२. धूमस्य समूहः—'धूम्या' इत्यत्र **'पाशादेश्च त्यः'** (अष्टा० ६।३।२५) त्यप्रत्ययः, लकारः स्त्रीत्वार्थः।
३. विततिः—विस्तार इत्यर्थः।
४. शिखरिणीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धिरूपी रज्जु को तोड़ता हुआ, दुर्वचनरूपी धूलिसमूह को बिखेरता हुआ, आगमरूपी (सिद्धान्तरूपी) अंकुश की अवमानना करता हुआ, पृथ्वी पर स्वेच्छा से घूमता हुआ तथा विनयरूपी न्यायमार्ग का विध्वंस करता हुआ क्या-क्या अनर्थ उत्पन्न नहीं करता?

[1]औचित्याचरणं विलुम्पति पयोवाहं नभस्वानिव,
प्रध्वंसं विनयं नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम्।
कीर्त्तिं कैरविणीं मतङ्गज इव [2]प्रोज्जासयत्यञ्जसा,
मानो नीच इवोपकारनिकरं हन्ति त्रिवर्गं नृणाम् ।।५१।।

अन्वयः—

नभस्वान् पयोवाहमिव (मानः) औचित्याचरणं विलुम्पति। अहिः जीवितमिव (मानः) प्राणस्पृशां विनयं प्रध्वंसं नयति। मतङ्गजः कैरविणीमिव (मानः) अञ्जसा कीर्त्तिं प्रोज्जासयति। नीच उपकारनिकरमिव मानो नृणां त्रिवर्गं हन्ति।

अर्थ—

जैसे पवन बादलों को नष्ट कर देता है वैसे ही अहंकार उचित आचरण को नष्ट कर देता है। जैसे सर्प जीवन को विनष्ट कर देता है वैसे ही अहंकार प्राणियों के विनय का नाश कर देता है। जैसे हाथी कमलिनी का उन्मूलन कर देता है वैसे ही अहंकार कीर्ति का शीघ्रता से उन्मूलन कर देता है। जैसे नीच व्यक्ति उपकारसमूह को भुला देता है, उसे नष्ट कर देता है वैसे ही अहंकार व्यक्तियों के त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम को नष्ट कर देता है।

[3]मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थं,[4]
सञ्जीवनं विनयजीवितमङ्गभाजाम् ।
जात्यादिमानविषजं विषमं विकारं,
तं मार्दवामृतरसेन नयस्व शान्तिम् ।।५२।।

अन्वयः—

यः (मानः) अङ्गभाजां कृतसमस्तसमीहितार्थं सञ्जीवनं विनयजीवितं मुष्णाति तं जात्यादिमानविषजं विषमं विकारं मार्दवामृतरसेन शान्तिं नयस्व।

अर्थ—

प्राणियों का विनयगुण से भावित जीवन समस्त वांछित प्रयोजनों को सिद्ध करने

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

२. प्रोज्जासयति—यह प्र+उत् उपसर्ग के साथ संयोग होने पर 'जसुण् हिंसायाम्' का रूप है।

३. वसन्ततिलकावृत्त।

४. कृताः सिद्धाः समस्ताः—सकलाः समीहितार्थाः वांछितप्रयोजनानि येन तद्।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

वाला तथा संजीवनी बूटी के समान होता है। उसको अहंकार चुरा लेता है, उसका नाश कर देता है। वह अहंकार जाति आदि (लाभ-कुल-ऐश्वर्य-बल-रूप-तप और श्रुत) के मदरूपी विष से उत्पन्न होता है। उस विषम विकार को तुम मार्दवरूपी अमृतरस से शान्त करो, उसको मिटाओ।

१२. मायात्यागप्रकरणम्

[1]कुशलजननवन्ध्यां सत्यसूर्यास्तसन्ध्यां,
कुगतियुवतिमालां मोहमातङ्गशालाम्।
शमकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं,
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम् ।।५३।।

अन्वयः—

कुशलजननबन्ध्याम्, सत्यसूर्यास्तसन्ध्याम्, कुगतियुवतिमालाम्, मोहमातङ्गशालाम्, शमकमलहिमानीम्, दुर्यशोराजधानीम्, व्यसनशतसहायां मायां दूरतो मुञ्च।

अर्थ—

तुम माया को दूर से छोड़ दो। वह कल्याण को जन्म देने में बन्ध्या स्त्री के समान तथा सत्यरूपी सूर्य को अस्त करने के लिए सन्ध्या के समान है। वह कुगतिरूपी युवति का वरण करने के लिए वरमाला के समान तथा मोहरूपी हाथी के रहने के लिए शाला के समान है। वह उपशमरूपी कमलों के विनाश के लिए अत्यधिक हिम के समान, अपयश की राजधानी के समान तथा सैंकड़ों कष्टों को सहयोग देने वाली है।

[2]विधाय मायां विविधैरुपायैः परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति।
ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्ग-सुखान्महामोहसखाः स्वमेव ।।५४।।

अन्वयः—

ये विविधैरुपायैः मायां विधाय परस्य वञ्चनम् आचरन्ति ते महामोहसखाः (सन्तः) त्रिदिवापवर्गसुखात् स्वमेव वञ्चयन्ति।

अर्थ—

जो मनुष्य नाना प्रकार के उपायों से माया करके दूसरों को ठगते हैं वे महामोह के साथी होकर—महामोह से युक्त होकर स्वर्ग और मोक्ष के सुख से अपने आपको ही वञ्चित कर लेते हैं।

[3]मायामविश्वासविलासमन्दिरं,
दुराशयो यः कुरुते धनाशया।
सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते,
यथा बिडालो लगुडं पयः पिबन् ।।५५।।

१. मालिनीवृत्त।
२. उपेन्द्रवज्रावृत्त।
३. इन्द्रवज्रावृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः—

यो दुराशयो धनाशया अविश्वासविलासमन्दिरं मायां कुरुते स पतन्तम् अनर्थसार्थं न ईक्षते, यथा बिडालो पयः पिबन् (पतन्तं) लगुडं (न ईक्षते)।

अर्थ—

माया अविश्वास का क्रीडागृह है। दुष्ट अभिप्राय वाला जो मनुष्य धन की कामना से माया करता है वह स्वयं पर आने वाले अनर्थ समूह को वैसे ही नहीं देखता जैसे दूध पीता हुआ बिडाल दंड के प्रहार को।

[1]मुग्धप्रतारणपरायणमुज्जिहीते,[2]
यत्पाटवं कपटलम्पटचित्तवृत्तेः।
जीर्यत्युपप्लवमवश्यमिहाप्यकृत्वा,
नापथ्यभोजनमिवामयमायतौ तत् ।।५६।।

अन्वयः—

इह कपटलम्पटचित्तवृत्तेः यत्पाटवं मुग्धप्रतारणपरायणम् (सत्) उज्जिहीते तत् (पाटवम्) अवश्यम् आयतौ उपप्लवम् अकृत्वा न जीर्यति अपथ्यभोजनम् आमयमिव।

अर्थ—

इस संसार में कपट में लिप्त चित्तवृत्ति वाले मनुष्यों का जो पाटव भोले मनुष्यों को ठगने में तत्पर होकर उभरता है वह पाटव निश्चित ही भविष्य में उपद्रव किए बिना परिणत नहीं होता, जैसे अपथ्य भोजन रोग उत्पन्न किए बिना जीर्ण नहीं होता, नहीं पचता।

१३. लोभत्यागप्रकरणम्

[3]यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं,
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरं,
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम् ।।५७।।

अन्वयः—

धनान्धितधियो यद्दुर्गाम् अटवीम् अटन्ति, विकटं देशान्तरं क्रामन्ति, गहनं समुद्रं गाहन्ते, अतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते, कृपणं पतिं सेवन्ते, गजघटासंघट्टदुःसंचरं प्रधनं सर्पन्ति तत् लोभविस्फूर्जितम्।

---

१. वसन्ततिलकावृत्त।

२. उज्जिहीते—यह उत्पूर्वक 'ओहांङ् गतौ' धातुरूप है।

३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

धन से अन्धी बनी हुई मति वाले मनुष्य जिस धन के कारण दुर्गम अटवी में घूमते हैं, विकट देशान्तर में जाते हैं, गहन समुद्र का अवगाहन करते हैं, बहुकष्टसाध्य कृषि करते हैं, कृपण स्वामी की सेवा करते हैं, हस्तिसमूह के संघट्टन—मुठभेड़ के कारण दुःशक्य संचरण वाले युद्ध में जाते हैं, वह सब लोभ का ही परिणाम है।

[1]मूलं मोहविषद्रुमस्य सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भवः,
क्रोधाग्नेररणिः प्रतापतरणिप्रच्छादने तोयदः।
क्रीडासद्म कलेर्विवेकशशिनः स्वर्भानुरापन्नदी-
सिन्धुः कीर्त्तिलताकलापकलभो लोभः पराभूयताम् ।।५८।।

अन्वयः—

मोहविषद्रुमस्य मूलम्, सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भवः, क्रोधाग्नेः अरणिः, प्रतापतरणिप्रच्छादने तोयदः, कलेः क्रीडासद्म, विवेकशशिनः स्वर्भानुः, आपन्नदीसिन्धुः, कीर्त्तिलताकलापकलभः लोभः पराभूयताम्।

अर्थ—

जो मोहरूपी विषवृक्ष का मूल है, पुण्यरूपी समुद्र के शोषण के लिए जो अगस्त्य ऋषि के तुल्य है, जो क्रोधरूपी अग्नि को उत्पन्न करने के लिए अरणि काष्ठ के समान है, जो प्रतापरूपी सूर्य को आच्छादित करने में बादल के सदृश है, जो कलह का क्रीडागृह है, जो विवेकरूपी चन्द्रमा को ग्रसित करने के लिए राहु है, जो आपदारूपी नदियों के संगम के लिए समुद्र है, जो कीर्त्तिरूपी लतासमूह के नाश के लिए हस्तिशिशु है उस लोभ को तुम पराजित करो, उसे छोड़ो।

[2]निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे,
दुःखौघभस्मनि विसर्पदकीर्त्तिधूमे।
बाढं धनेन्धनसमागमदीप्यमाने,
लोभानले शलभतां लभते गुणौघः।।५९।।

अन्वयः—

निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे, दुःखौघभस्मनि, विसर्पदकीर्त्तिधूमे, बाढं धनेन्धनसमागमदीप्यमाने लोभानले गुणौघः शलभतां लभते।

अर्थ—

जो समस्त धर्मरूपी वन को जलाने के कारण विस्तार पा रहा है, जिसमें दुःखसमूह

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. वसन्ततिलकावृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपी भस्म है, जिसमें फैलता हुआ अपकीर्त्तिरूपी धूआं उठ रहा है तथा जो अत्यधिक धनरूपी इन्धन मिलने के कारण प्रज्वलित है, ऐसे लोभरूपी अग्नि में गुणों का समूह शलभ की भांति जलकर भस्मसात् हो जाता है।

[1]जातः कल्पतरुः पुरः सुरगवी तेषां प्रविष्टा गृहं,
चिन्तारत्नमुपस्थितं करतले प्राप्तो निधिः सन्निधिम् ।
विश्वं वश्यमवश्यमेव सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियः,
ये सन्तोषमशेषदोषदहनध्वंसाम्बुदं बिभ्रते ।।६०।।

अन्वयः—

ये अशेषदोषदहनध्वंसाम्बुदं सन्तोषं बिभ्रते तेषां पुरः कल्पतरुः जातः, सुरगवी गृहं प्रविष्टा, करतले चिन्तारत्नम् उपस्थितम्, निधिः सन्निधिं प्राप्तः, विश्वम् अवश्यमेव वश्यम्, स्वर्गापवर्गश्रियः सुलभाः।

अर्थ—

सन्तोष समस्त दोषरूपी अग्नि के उपशमन के लिए मेघ के समान है। जो मनुष्य उसको धारण करते हैं उनके सामने कल्पवृक्ष प्रकट हो जाता है, उनके घर में कामधेनु प्रविष्ट हो जाती है, उनके करतल में चिन्तामणि रत्न आ जाता है, निधि उनके समीप हो जाती है, जगत् निश्चित ही उनके वश में हो जाता है, तथा स्वर्ग और मोक्ष की संपदाएं उनके लिए सुलभ हो जाती हैं।

१४. सौजन्यप्रकरणम्

[2]वरं क्षिप्तः पाणिः कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे,
वरं झम्पापातो ज्वलदनलकुण्डे विरचितः।
वरं प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तर्विनिहितो,
न जन्यं दौर्जन्यं तदपि विपदां सद्म विदुषा ।।६१।।

अन्वयः—

कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे पाणिः क्षिप्तः वरम्। ज्वलदनलकुण्डे झम्पापातो विरचितो वरम्। प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तः विनिहितो वरम्, तदपि विदुषा विपदां सद्म दौर्जन्यं न जन्यम्।

अर्थ—

कुपित सर्प के मुखरूपी विवर में हाथ डालना अच्छा हो सकता है। जलते हुए अग्निकुंड में झम्पापात करना अच्छा हो सकता है। भाले की नोक को तत्काल उदर में

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. शिखरिणीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घुसेड़ना भी अच्छा हो सकता है। फिर भी ज्ञानी पुरुषों को दुर्जनता का आश्रय नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वह विपदाओं का घर है।

[1]सौजन्यमेव विदधाति यशश्चयं च,
श्वःश्रेयसं[2] च विभवं च भवक्षयं च।
दौर्जन्यमावहसि यत्कुमते! तदर्थं,
धान्येऽनलं दिशसि तज्जलसेकसाध्ये ।।६२।।

अन्वयः—

सौजन्यमेव (पुंसां) यशश्चयं च श्वःश्रेयसं च विभवं च भवक्षयं च विदधाति। कुमते! तदर्थं यत् दौर्जन्यम् आवहसि तत् जलसेकसाध्ये धान्ये अनलं दिशसि।

अर्थ—

सुजनता ही मनुष्यों के यश का संचय करती है, कल्याण करती है, वैभव का विस्तार करती है तथा भव—जन्म-मरण का क्षय करती है। अतः हे दुर्बुद्धे! उन (यश-वैभव आदि) के लिए तुम जिस दुर्जनता का आचरण करते हो तुम्हारा वह कार्य जलसिंचन से साध्य धान्य के खेत में अग्नि फेंकने जैसा है।

[3]वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः संपदः।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं,
विपाकविरसा न तु श्वयथुसंभवा स्थूलता ।।६३।।

अन्वयः—

सुजनभावभाजां नृणां विभववन्ध्यता वरं, न पुनः असाधुचरितार्जिता ऊर्जिताः संपदः। सहजं कृशत्वमपि आयतौ सुन्दरं शोभते न तु श्वयथुसंभवा विपाकविरसा स्थूलता।

अर्थ—

सौजन्य का आचरण करने वाले मनुष्यों के लिए निर्धनता अच्छी है, किन्तु अनैतिक आचरण से अर्जित प्रचुर संपदाएं अच्छी नहीं हैं। सहज कृशता भी भविष्य में सुन्दर लगती है, किन्तु शोथ से उत्पन्न स्थूलता अच्छी नहीं होती, क्योंकि उसका विपाक—परिणाम विरस होता है।

---

१. वसन्ततिलकावृत्त।
२. स्वश्रेयसमित्यपि पाठः।
३. पृथ्वीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहं,
सन्तोषं वहते परर्द्धिषु पराऽबाधासु धत्ते शुचम्।
स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लङ्घय-
त्युक्तोप्यप्रियमक्षमां न रचयत्येतच्चरित्रं सताम् ।।६४।।

अन्वयः—

(यः) परदूषणं न ब्रूते, अल्पमपि परगुणम् अन्वहं वक्ति, परर्द्धिषु सन्तोषं वहते, पराबाधासु शुचं धत्ते, स्वश्लाघां न करोति, नयं नोज्झति, औचित्यं न उल्लङ्घयति, अप्रियम् उक्तोऽपि अक्षमां न रचयति। सताम् एतत् चरित्रं (वर्त्तते)।

अर्थ—

जो परदोष का कथन नहीं करता, जो दूसरों के अल्प गुणों का भी सदा वर्णन करता है, जो पर-सम्पदाओं में सन्तोष—अमत्सरभाव को धारण करता है, जो दूसरों की पीड़ा में खिन्नता व्यक्त करता है, जो अपनी श्लाघा नहीं करता, जो न्याय को नहीं छोड़ता, जो औचित्य का उल्लंघन नहीं करता, जो अप्रिय कहने पर भी क्रोध नहीं करता—यह सज्जन पुरुषों का चारित्र है।

१५. गुणिसङ्गप्रकरणम्

[2]धर्मं ध्वस्तदयो यशश्च्युतनयो वित्तं प्रमत्तः पुमान्,
काव्यं निष्प्रतिभस्तपः शमदयाशून्योऽल्पमेधाः श्रुतम्।
वस्त्वालोकमलोचनश्चलमना ध्यानं च वाञ्छत्यसौ,
यः सङ्गं गुणिनां विमुच्य विमतिः कल्याणमाकाङ्क्षति ।।६५।।

अन्वयः—

यो विमतिः गुणिनां सङ्गं विमुच्य कल्याणम् आकाङ्क्षति असौ पुमान् ध्वस्तदयो धर्मम्, च्युतनयो यशः, प्रमत्तः वित्तम्, निष्प्रतिभः काव्यम्, शमदयाशून्यः तपः, अल्पमेधाः श्रुतम्, अलोचनो वस्त्वालोकम्, चलमनाः ध्यानं च वाञ्छति।

अर्थ—

जो मतिविहीन व्यक्ति गुणिजनों के संग को छोड़कर कल्याण की आकांक्षा करता है वह दयारहित होकर धर्म की इच्छा करता है, न्याय से च्युत होकर यश की कामना करता है, प्रमादी होकर धन प्राप्त करना चाहता है, प्रतिभा विकल होकर काव्य करने की अभिलाषा करता है, शम और दया से शून्य होकर तप की वांछा करता है, तुच्छ बुद्धि होकर श्रुत की आराधना करना चाहता है, लोचनविहीन होकर वस्तुओं को देखना चाहता है और चंचलमन होकर ध्यान करना चाहता है।

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]हरति कुमतिं भिन्त्ते मोहं करोति विवेकितां,
वितरति रतिं सूते नीतिं तनोति विनीतताम्[2]।
प्रथयति यशो धत्ते धर्मं व्यपोहति दुर्गतिं,
जनयति नृणां किं नाभीष्टं गुणोत्तमसङ्गमः॥६६॥

अन्वयः—

गुणोत्तमसङ्गमः नृणां किम् अभीष्टं न जनयति। (गुणोत्तमसङ्गमः) कुमतिं हरति, मोहं भिन्त्ते, विवेकितां करोति, रतिं वितरति, नीतिं सूते, विनीततां तनोति, यशः प्रथयति, धर्मं धत्ते, दुर्गतिं व्यपोहति।

अर्थ—

गुणोत्तम पुरुषों का संगम मनुष्यों को क्या-क्या अभीष्ट फल नहीं देता? वह कुमति को दूर करता है, मोह का भेदन करता है, विवेकशीलता को बढ़ाता है, प्रीति को बांटता है, न्याय को जन्म देता है, नम्रता को विस्तृत करता है, यश को फैलाता है, धर्म को धारण कराता है और दुर्गति का निवारण करता है।

[3]लब्धुं बुद्धिकलापमापदमपाकर्तुं विहर्तुं पथि,
प्राप्तुं कीर्त्तिमसाधुतां विधुवितुं धर्मं समासेवितुम्।
रोद्धुं पापविपाकमाकलयितुं स्वर्गापवर्गश्रियं,
चेत्त्वं चित्त! समीहसे गुणवतां सङ्गं तदङ्गीकुरु[4]॥६७॥

अन्वयः—

चित्त! चेत् त्वं बुद्धिकलापं लब्धुम्, आपदमपाकर्तुम्, पथि विहर्तुम्, कीर्त्तिं प्राप्तुम्, असाधुतां विधुवितुम्, धर्मं समासेवितुम्, पापविपाकं रोद्धुम्, स्वर्गापवर्गश्रियम् आकलयितुं समीहसे तत् गुणवतां सङ्गम् अङ्गीकुरु।

अर्थ—

हे चित्त! यदि तुम बुद्धिसमूह को प्राप्त करना, आपदाओं को दूर करना, न्यायमार्ग पर विहरण करना, कीर्त्ति को पाना, असज्जनता को धूनना—हटाना, धर्म का आसेवन करना, पापों के विपाक को रोकना तथा स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहते हो तो तुम गुणिजनों का संग अंगीकार करो।

---

१. हरिणीवृत्त।
२. अत्र गुणावलिमित्यपि पाठो लभ्यते।
३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
४. प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त लब्धुम्, अपाकर्तुम्, विहर्तुम्, प्राप्तुम्, विधुवितुम्, समासेवितुम्, रोद्धुम्, आकलयितुम्–ये सभी शब्दरूप तुम्प्रत्ययान्त हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]हिमति महिमाम्भोजे चण्डानिलत्युदयाम्बुदे,
द्विरदति दयारामे क्षेमक्षमाभृति वज्रति।
समिधति कुमत्यग्नौ कन्दत्यनीतिलतासु यः,
किमभिलषता श्रेयः श्रेयः स निर्गुणसङ्गमः[2] ।।६८।।

अन्वयः—

यो महिमाम्भोजे हिमति, उदयाम्बुदे चण्डाऽनिलति, दयारामे द्विरदति, क्षेमक्षमाभृति वज्रति, कुमत्यग्नौ समिधति, अनीतिलतासु कन्दति स निर्गुणसङ्गमः श्रेयोऽभिलषता किं श्रेयः?

अर्थ—

निर्गुण व्यक्तियों की संगति महिमारूपी कमल पर हिमपात के समान है, उदय—धनधान्य आदि की वृद्धि करने वाले मेघ के लिए प्रचंड वायु के सदृश है, दयारूपी उपवन को रौंदने के लिए हाथी के तुल्य है, कल्याणरूपी गिरि को तोड़ने के लिए वज्र के समान है, कुमतिरूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए इन्धन के समान है तथा अन्यायरूपी लताओं को पनपने के लिए कन्द के समान है क्या ऐसी संगति कल्याण की अभिलाषा करने वाले पुरुषों के लिए आश्रयणीय है?

१६. इन्द्रियदमनप्रकरणम्

[3]आत्मानं कुपथेन निर्गमयितुं यः शूकलाश्वायते,
कृत्याकृत्यविवेकजीवितहृतौ यः कृष्णसर्पायते।
यः पुण्यद्रुमखण्डखण्डनविधौ स्फूर्जत्कुठारायते,
तं लुप्तव्रतमुद्रमिन्द्रियगणं जित्वा शुभंयुर्भव[4] ।।६९।।

अन्वयः—

यः आत्मानं कुपथेन निर्गमयितुं शूकलाश्वायते, यः कृत्याऽकृत्यविवेक-जीवितहृतौ कृष्णसर्पायते, यः पुण्यद्रुमखण्डखण्डनविधौ स्फूर्जत् कुठारायते, तं लुप्तव्रतमुद्रम् इन्द्रियगणं जित्वा शुभंयुर्भव।

अर्थ—

जो आत्मा को कुपथ पर ले जाने के लिए दुष्ट घोड़े के समान है, जो कृत्य और अकृत्य के विवेकरूपी जीवन को हरण करने के लिए काले नाग की भांति है, जो पुण्यरूपी वृक्षों के वन को खंड-खंड करने के लिए तीक्ष्ण कुठार के समान है, उस

१. हरिणीवृत्त।
२. इस श्लोक में प्रयुक्त हिमति, चण्डानिलति, द्विरदति, वज्रति, समिधति तथा कन्दति—ये सभी नामधातुएं हैं।
३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
४. प्रस्तुत श्लोक में शूकलाश्वायते, कृष्णसर्पायते, कुठारायते—ये सभी नामधातुएं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियसमूह को जीतकर तुम कल्याणयुक्त बनो, क्योंकि वह व्रतों की मुद्रा—मर्यादा को भंग करने वाला है।

[1]प्रतिष्ठां यन्निष्ठां नयति नयनिष्ठां विघटय-
त्यकृत्येष्वाधत्ते मतिमतपसि प्रेम तनुते।
विवेकस्योत्सेकं विदलयति दत्ते च विपदं,
पदं तद् दोषाणां करणनिकुरम्बं कुरु वशे ।।७०।।

अन्वयः—

यत् प्रतिष्ठां निष्ठां नयति, नयनिष्ठां विघटयति, अकृत्येषु मतिम् आधत्ते, अतपसि प्रेम तनुते, विवेकस्य उत्सेकं विदलयति, विपदं च दत्ते तद् दोषाणां पदं करणनिकुरम्बं वशे कुरु।

अर्थ—

जो प्रतिष्ठा का नाश करता है, न्याय की मर्यादा का विघटन करता है, अकृत्य—अनाचरणीय कार्यों में मति को स्थापित करता है, अतपस्या—असंयम में प्रेम का विस्तार करता है, विवेक के उदय का विध्वंस करता है तथा विपदाओं को देता है वह इन्द्रियसमूह दोषों का स्थान है। अतः तुम उसका निग्रह करो।

[2]धत्तां मौनमगारमुज्झतु विधिप्रागल्भ्यमभ्यस्यता-
मस्त्वन्तर्गणमागमश्रममुपादत्तां तपस्तप्यताम्।
श्रेयःपुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावातं न चेदिन्द्रिय-
व्रातं जेतुमवैति भस्मनि हुतं जानीत सर्वं ततः ।।७१।।

अन्वयः—

(भवान्) मौनं धत्ताम्, अगारम् उज्झतु, विधिप्रागल्भ्यम् अभ्यस्यताम्, अन्तर्गणम् अस्तु, आगमश्रमम् उपादत्ताम्, तपस्तप्यताम् चेत् श्रेयःपुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावातं इन्द्रियव्रातं जेतुं न अवैति ततः सर्वं भस्मनि हुतं जानीत।

अर्थ—

हे आत्मन् ! इन्द्रियसमूह कल्याणपुंजरूपी निकुंज को ध्वस्त करने में महावायु के समान है। यदि तुम उसको जीतना नहीं जानते हो तो चाहे तुम मौन धारण करो, घर का त्याग करो, आचार-व्यवहार की दक्षता का अभ्यास करो, गण के भीतर वास करो,

---

१. शिखरिणीवृत्त।
२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहे तुम आगम-अध्ययन में श्रम करो तथा तप तपो–इन सारे प्रयत्नों को तुम राख में आहुति देने के समान निष्फल जानो।

[1]धर्मध्वंसधुरीणमभ्रमरसाऽवारीणमापत्प्रथा-
लङ्कर्मीणमशर्मनिर्मितकलापारीणमेकान्ततः।
सर्वान्नीनमनात्मनीनमनयात्यन्तीनमिष्टे यथा-
कामीनं कुपथाध्वनीनमजयन्नक्षौघमक्षेमभाक्[2] ।।७२।।

अन्वयः—

धर्मध्वंसधुरीणम्, अभ्रमरसाऽवारीणम्, आपत्प्रथाऽलङ्कर्मीणम्, अशर्मनिर्मितकलापारीणम्, एकान्ततः सर्वान्नीनम्, अनात्मनीनम्, अनयाऽत्यन्तीनम्, इष्टे यथाकामीनम्, कुपथाध्वनीनम् अक्षौघम् अजयन् अक्षेमभाक् (भवति)।

अर्थ—

जो (इन्द्रियसमूह) धर्म का ध्वंस करने में मुख्य है, अभ्रमरस अर्थात् सत्यज्ञान को आच्छादित करने वाला है, आपदाओं को फैलाने में समर्थ है, दुःखों की निर्माण कला में पारंगत है, एकान्ततः सर्वभक्षी है, आत्मा का अहित करने वाला है, अन्यायमार्ग पर तीव्रता से चलने वाला है, प्रिय वस्तुओं में स्वेच्छाचारी है, कुपथ का पथिक है, ऐसे इन्द्रियसमूह को नहीं जीतता हुआ प्राणी कल्याण का अधिकारी नहीं होता।

१७. लक्ष्मीस्वभावप्रकरणम्

[3]निम्नं गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव विष्कम्भते,[4]
चैतन्यं मदिरेव पुष्यति मदं धूम्येव दत्तेऽन्धताम्।
चापल्यं चपलेव चुम्बति दवज्वालेव तृष्णां नय-
त्युल्लासं कुलटाङ्गनेव कमला स्वैरं परिभ्राम्यति ।।७३।।

अन्वयः—

कमला निम्नगा इव निम्नं गच्छति, निद्रेव नितरां चैतन्यं विष्कम्भते, मदिरेव मदं पुष्यति, धूम्येव अन्धतां दत्ते, चपलेव चापल्यं चुम्बति, दवज्वालेव तृष्णां उल्लासं नयति, कुलटाङ्गनेव स्वैरं परिभ्राम्यति।

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त ।

२. इस श्लोक में प्रयुक्त धुरीणम्– धुरं वहति, आवारीणम्–आवरणाय समर्थः, अलङ्कर्मीणम्–अलं कर्मणे, पारीणम्–पारं गामी, सर्वान्नीनम्–सर्वान्नम् अत्ति, अनात्मनीनम्–अनात्मने हितम्, अत्यन्तीनम्–अत्यन्तं भृशं गामी, यथाकामीनम्–यथाकामं गामी, अध्वनीनम्–अध्वानमलंगामी–ये सभी ईनप्रत्ययान्त शब्द हैं।

३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त ।

४. यह धातुरूप विपूर्वक 'स्कभिङ् स्तम्भे' का है।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

अर्थ—

जैसे नदी नीचे की ओर बहती है वैसे ही लक्ष्मी नीच पुरुषों के पास जाती है। जैसे निद्रा मनुष्य को चैतन्यशून्य करती है वैसे ही लक्ष्मी मनुष्य को निरन्तर ज्ञानशून्य—विवेकविकल बनाती है। जैसे मदिरा उन्माद को पैदा करती है वैसे ही लक्ष्मी अहंकार को पुष्ट करती है। जैसे धूम्रसमूह देखने में बाधा उत्पन्न करता है वैसे ही लक्ष्मी मनुष्य को अन्धा बनाती है। जैसे बिजली में चपलता होती है वैसे ही लक्ष्मी चपल होती है। जैसे वन की ज्वाला प्यास को बढ़ाती है वैसे ही लक्ष्मी लोभ को वृद्धिंगत करती है। जैसे कुलटा स्त्री स्वेच्छा से भटकती है वैसे ही लक्ष्मी स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करती है, एक स्थान पर नहीं रहती।

[1]दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो,
गृह्णन्तिच्छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात्।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठाद्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग्बह्वधीनं धनम् ।।७४।।

अन्वयः—

दायादाः (धनं) स्पृहयन्ति, तस्करगणा मुष्णन्ति, भूमीभुजो छलमाकलय्य गृह्णन्ति, हुतभुक् क्षणात् भस्मीकरोति, अम्भः प्लावयते, क्षितौ विनिहितं (धनं) यक्षा हठाद् हरन्ते, दुर्वृत्तास्तनया निधनं नयन्ति, (एवं) बह्वधीनं धनं धिगऽस्तु।

अर्थ—

पैतृक सम्पत्ति के दावेदार धन की स्पृहा करते हैं, चोर जिसको चुरा लेते हैं, राजा छलपूर्वक जिसको अपने अधिकार में ले लेते हैं, अग्नि क्षणभर में जिसे जलाकर भस्मसात् कर देती है, पानी जिसको बहा देता है, भूमि में गड़े हुए धन का यक्ष बलपूर्वक अपहरण कर लेते हैं और दुराचारी पुत्र जिसका नाश कर देते हैं, ऐसे बहुतों के अधीन रहने वाले धन को धिक्कार है।

[2]नीचस्याऽपि चिरं चटूनि रचयन्त्यायान्ति नीचैर्नतिं,
शत्रोरप्यगुणात्मनोऽपि विदधत्युच्चैर्गुणोत्कीर्त्तनम्।
निर्वेदं न विदन्ति किञ्चिदकृतज्ञस्यापि सेवाक्रमे,
कष्टं किं न मनस्विनोऽपि मनुजाः कुर्वन्ति वित्तार्थिनः ।।७५।।

अन्वयः—

मनस्विनोऽपि मनुजाः वित्तार्थिनः (सन्तः) किं कष्टं न कुर्वन्ति? (ते) नीचस्याऽपि चिरं चटूनि रचयन्ति, नीचैर्नतिं आयान्ति, शत्रोरपि अगुणात्मनोऽपि उच्चैर्गुणोत्कीर्त्तनं विदधति, अकृतज्ञस्यापि सेवाक्रमे किञ्चित् निर्वेदं न विदन्ति।

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

मनस्वी व्यक्ति भी धन के अर्थी होकर क्या-क्या कष्ट नहीं उठाते? उनको नीच पुरुषों की भी सदा चापलूसी करनी पड़ती है, नीच पुरुषों के आगे झुकना पड़ता है, निर्गुणी शत्रु का भी उच्चस्वर से गुणोत्कीर्त्तन करना पड़ता है तथा अकृतज्ञ स्वामी की सेवा करने में वे तनिक भी निर्वेद—खेद या विरक्ति का अनुभव नहीं करते।

[1]लक्ष्मीः सर्पति नीचमर्णवपयःसङ्गादिवाम्भोजिनी-
संसर्गादिव कंटकाकुलपदा न क्वापि धत्ते पदम्।
चैतन्यं विषसन्निधेरिव नृणामुज्जासयत्यञ्जसा,
धर्मस्थाननियोजनेन गुणिभिर्ग्राह्यं तदस्याः फलम् ।।७६।।

अन्वयः—

लक्ष्मीः अर्णवपयःसङ्गादिव नीचं सर्पति, अम्भोजिनीसंसर्गादिव कंटकाकुलपदा क्वापि पदं न धत्ते, विषसन्निधेरिव नृणां चैतन्यम् अञ्जसा उज्जासयति तद् गुणिभिः धर्मस्थाननियोजनेन अस्याः फलं ग्राह्यम् ।

अर्थ—

जैसे जल का स्वभाव नीचे की ओर गति करने का है वैसे ही लक्ष्मी समुद्र-जल की संगति से नीच पुरुषों की ओर जाती है।[2] जैसे कमलिनी में कांटे होते हैं वैसे ही लक्ष्मी कमलिनी के संसर्ग से पैरों में कांटे लगने से कहीं भी एक स्थान पर पैर टिका नहीं पाती।[3] जैसे विष प्राणी का घातक होता है वैसे ही लक्ष्मी की विष के साथ समीपता रहने से वह मनुष्यों की चेतना (ज्ञान) को तीव्रता से नष्ट करती है।[4] अतः गुणवान् पुरुषों को चाहिए कि वे लक्ष्मी का धर्मस्थान में नियोजन कर उसका फल पाएं।

१८. दानप्रकरणम्[5]

[6]चारित्रं चिनुते तनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं,
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमम्।
पुण्यं कन्दलयत्यऽघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमात्,
निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रं धनम् ।।७७।।

---

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त

२. लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्र से मानी जाती है।

३. लक्ष्मी का आसन कमलिनी है।

४. विष और लक्ष्मी—दोनों का उत्पत्ति-स्थल समुद्र है।

५. दान के दो प्रकार हैं—सांसारिक दान और मोक्ष दान। संयमी को संयमजीवन के निर्वाह के लिए जिस कल्पनीय वस्तु का दान दिया जाता है, वह मोक्ष दान है, मोक्षाभिमुख दान है। जिस दान में धन का विनिमय होता है और जो असंयमी को दिया जाता है वह सांसारिक दान है, सामाजिक दान है। वह संसाराभिमुख दान है। वह मोक्ष का हेतु नहीं बनता।

६. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः—

पात्रे निहितं पवित्रं धनं चारित्रं चिनुते, विनयं तनोति, ज्ञानम् उन्नतिं नयति, प्रशमं पुष्णाति, तपः प्रबलयति, आगमम् उल्लासयति, पुण्यं कन्दलयति, अघं दलयति, स्वर्गं ददाति, क्रमात् निर्वाणश्रियम् आतनोति।

अर्थ—

न्याय से उपार्जित धन सुपात्र को दिए जाने पर वह चारित्र का उपचय करता है, विनय को वृद्धिंगत करता है, ज्ञान की समृद्धि करता है, उपशम को पुष्ट करता है, तप को प्रबल करता है, आगमज्ञान को उल्लसित करता है, पुण्य को अंकुरित करता है, पाप का नाश करता है, स्वर्ग देता है और क्रमशः मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कराता है।

[1]दारिद्र्यं न तमीक्षते न भजते दौर्गत्यमालम्बते,
नाऽकीर्त्तिर्न पराभवोऽभिलषते न व्याधिरास्कन्दति।
दैन्यं नाद्रियते दुनोति न दरः क्लिश्नन्ति नैवापदः,
पात्रे यो वितरत्यनर्थदलनं दानं निदानं श्रियाम् ।।७८।।

अन्वयः—

यः पात्रे अनर्थदलनं श्रियां निदानं दानं वितरति तं दारिद्र्यं न ईक्षते, दौर्गत्यं न भजते, अकीर्त्तिः नालम्बते, पराभवो नाभिलषते, व्याधिर्नास्कन्दति, दैन्यं नाद्रियते, दरो न दुनोति, नैव आपदः क्लिश्नन्ति।

अर्थ—

जो मनुष्य सुपात्र को दान देता है उसको दारिद्र्य कभी नहीं देखता, उसे दुर्गति प्राप्त नहीं होती, अपयश उसका आलम्बन नहीं लेता, पराभव उसकी अभिलाषा नहीं करता, व्याधि उस पर आक्रमण नहीं करती, दीनता उसका आश्रय नहीं लेती, भय उसको नहीं सताता और न ही आपदाएं उसको क्लेश देती हैं। अतः सुपात्रदान अनर्थ का नाश करने वाला और संपदाओं का कारणभूत है।

[2]लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्त्तिस्तमालोकते,
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगताऽलिङ्गति।
श्रेयःसंहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति-
र्मुक्तिर्वाञ्छति यः प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थमर्थं निजम् ।।७९।।

अन्वयः—

यः पुमान् पुण्यार्थं निजम् अर्थं प्रयच्छति तं लक्ष्मीः कामयते, मतिर्मृगयते, कीर्त्तिरालोकते, प्रीतिश्चुम्बति, सुभगता सेवते, नीरोगताऽलिङ्गति, श्रेयःसंहतिरभ्युपैति, स्वर्गोपभोगस्थितिः वृणुते, मुक्तिर्वाञ्छति।

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

जो मनुष्य पुण्य—परोपकार के लिए अपने अर्थ का दान करता है लक्ष्मी उस पुरुष की कामना करती है, मति उसको खोजती है, कीर्त्ति उसको देखती है, प्रीति उसका आश्लेष करती है, सौभाग्य उसकी सेवा करता है, आरोग्य उसका आलिंगन करता है, कल्याण का समूह उसके सम्मुख आता है, स्वर्ग के उपभोग की स्थिति उसका वरण करती है और मुक्ति उसकी वांछा करती है।

[1]तस्यासन्ना रतिरनुचरी कीर्त्तिरुत्कण्ठिता श्रीः,
स्निग्धा बुद्धिः परिचयपरा चक्रवर्त्तित्वऋद्धिः।
पाणौ प्राप्ता त्रिदिवकमला कामुकी मुक्तिसंपत्,
सप्तक्षेत्र्यां वपति विपुलं वित्तबीजं निजं यः ।।८०।।

अन्वयः—

यो निजं विपुलं वित्तबीजं सप्तक्षेत्र्यां वपति तस्य रतिरासन्ना, कीर्त्तिरनुचरी, श्रीः उत्कण्ठिता, बुद्धिः स्निग्धा, चक्रवर्त्तित्वऋद्धिः परिचयपरा, त्रिदिवकमला पाणौ प्राप्ता, मुक्तिसंपत् कामुकी।

अर्थ—

जो व्यक्ति अपने विपुल वित्तरूपी बीजों को सप्तक्षेत्र[2]—सात क्षेत्रों में वपन करता है उसके आनन्द समीपवर्ती हो जाता है, कीर्त्ति उसकी अनुचरी हो जाती है, लक्ष्मी उससे मिलने के लिए उत्कंठित रहती है, उसकी बुद्धि स्निग्ध हो जाती है, चक्रवर्त्ती की ऋद्धि उससे सुपरिचित हो जाती है, स्वर्गलक्ष्मी उसके हस्तगत हो जाती है और मोक्षलक्ष्मी उसकी कामना करती है।

[3]पात्रे धर्मनिबन्धनं तदितरे श्रेष्ठं दयाख्यापकं,
मित्रे प्रीतिविवर्धनं तदितरे वैरापहारक्षमम्।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सम्मानसत्पादकं,
भट्टादौ सुयशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो निष्फलम् ।।८१।।

अन्वयः—

पात्रे वितरणं धर्मनिबन्धनं तदितरे श्रेष्ठं दयाख्यापकम्, मित्रे प्रीतिविवर्धनं तदितरे वैरापहारक्षमम्, भृत्ये भक्तिभरावहम्, नरपतौ सम्मानसत्पादकम्, भट्टादौ सुयशस्करम्। अहो! (वितरणं) क्वापि निष्फलं न (भवति)।

---

१. मन्दाक्रान्तावृत्त।

२. मूर्तिपूजक मान्यता के अनुसार जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर, श्रुतज्ञान, मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविका—ये सप्तक्षेत्र हैं।

३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

सुपात्र को दिया गया दान धर्म का हेतु बनता है तथा उससे अन्य को दिया हुआ दान दया की श्रेष्ठता को ख्यापित करने वाला होता है। मित्र को दिया गया दान प्रीति को बढ़ाने वाला होता है तथा उससे अन्य अर्थात् शत्रु को दिया हुआ दान वैर को दूर करने में सक्षम होता है। नौकर को दिया गया दान भक्ति को बढ़ाने वाला होता है और राजा को दिया हुआ उपहार-स्वरूप धन सम्मान देने वाला होता है तथा भाट (चारण) अथवा विद्वान् को दिया हुआ दान सुयश करने वाला होता है। अहो! दान कहीं भी निष्फल नहीं होता!

१९. तपःप्रकरणम्

[1]यत्पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशं यत्कामदावानल-
ज्वालाजालजलं यदुग्रकरणग्रामाहिमन्त्राक्षरम्।
यत्प्रत्यूहतमःसमूहदिवसं यल्लब्धिलक्ष्मीलता-
मूलं तद् द्विविधं यथाविधि तपः कुर्वीत वीतस्पृहः ।।८२।।

अन्वयः—

यत् पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशम्, यत् कामदावानलज्वालाजालजलम्, यद् उग्रकरणग्रामाहिमन्त्राक्षरम्, यत् प्रत्यूहतमःसमूहदिवसम्, यत् लब्धिलक्ष्मी-लतामूलम् तद् द्विविधं तपः वीतस्पृहः (सन्) यथाविधि कुर्वीत।

अर्थ—

जो तप पूर्वभव में अर्जित कर्मरूपी पर्वतों को तोड़ने के लिए वज्र की भांति है, जो कामरूपी दावानल के ज्वालासमूह के शमन के लिए जल के समान है, जो दारुण इन्द्रियसमूहरूपी सर्प को वश में करने के लिए मन्त्राक्षर तुल्य है, जो विघ्नरूपी अन्धकारसमूह को नष्ट करने के लिए दिन की तरह है, जो लब्धिरूपी संपत्लता को उत्पन्न करने के लिए मूल के समान है वह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। उसका कामनारहित होकर यथाविधि आचरण करना चाहिए।

[2]यस्माद् विघ्नपरम्परा विघटते दास्यं सुराः कुर्वते,
कामः शाम्यति दाम्यतीन्द्रियगणः कल्याणमुत्सर्पति।
उन्मीलन्ति महर्द्धयः कलयति ध्वंसं चयः कर्मणां,
स्वाधीनं त्रिदिवं शिवं च भवति श्लाघ्यं तपस्तन्न किम्?।।८३।।

अन्वयः—

यस्माद् (तपसः) विघ्नपरम्परा विघटते, सुराः दास्यं कुर्वते, कामः शाम्यति,

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियगणः दाम्यति, कल्याणम् उत्सर्पति, महर्द्धयः उन्मीलन्ति, कर्मणां चयः ध्वंसं कलयति, त्रिदिवं शिवं च स्वाधीनं भवति तत् तपः किं श्लाघ्यं न?

अर्थ—

जिस तप से विघ्नों की परम्परा विघटित होती है, देवता दासता को स्वीकार करते हैं, काम का उपशमन होता है, इन्द्रियों के समूह का दमन होता है, कल्याण का प्रसार होता है, महान् ऋद्धियां विकसित होती हैं, कर्मसमूह का नाश होता है और स्वर्ग तथा मोक्ष स्वयं के अधीन हो जाते हैं वह तप क्या श्लाघ्य नहीं है?

[1]कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना,
दावाग्निं न यथापरः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरम् ।
निष्णातः पवनं विना निरसितुं नान्यो यथाम्भोधरं,
कर्मौघं तपसा विना किमपरो हन्तुं समर्थस्तथा ।।८४।।

अन्वयः—

यथा कान्तारं ज्वलयितुं दवाग्निं विना इतरो दक्षः न, यथा दावाग्निं शमयितुम् अम्भोधरं विना अपरः शक्तो न, यथा अम्भोधरं निरसितुं पवनं विना अन्यो निष्णातो न, तथा कर्मौघं हन्तुं तपसा विना अपरः किं समर्थः?

अर्थ—

जैसे वन को जलाने के लिए दावानल के बिना अन्य कोई समर्थ नहीं है, जैसे दावानल को बुझाने के लिए मेघ के सिवाय दूसरा कोई शक्तिमान् नहीं है, जैसे मेघ को छिन्न-भिन्न करने के लिए पवन के बिना अन्य कोई सशक्त नहीं है, वैसे ही कर्मसमूह का क्षय करने के लिए तप के बिना क्या अन्य कोई समर्थ है?

[2]सन्तोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः,
पञ्चाक्षीरोधशाखः स्फुरदभयदलः शीलसंपत्प्रवालः।
श्रद्धाम्भःपूरसेकाद् विपुलकुलबलैश्वर्यसौन्दर्यभोगः,
स्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः शिवपदफलदः स्यात्तपःपादपोऽयम् ।।८५।।

अन्वयः—

अयं तपःपादपः सन्तोषस्थूलमूलः, प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः, पञ्चाक्षी-रोधशाखः, स्फुरदभयदलः, शीलसंपत्प्रवालः, श्रद्धाम्भःपूरसेकाद् विपुलकुल-बलैश्वर्यसौन्दर्यभोगः, स्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः, शिवपदफलदः स्यात् ।

अर्थ—

यह तपरूपी वृक्ष है। सन्तोष इसका पुष्ट मूल है। उपशम इसका परिकर—

१. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।
२. स्रग्धरावृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्कन्धबन्ध का विस्तार है। पांच इन्द्रियों का निग्रह इसकी शाखाएं हैं। देदीप्यमान अभय इसके पत्र हैं। शीलसंपदा इसके नवपल्लव हैं। यह श्रद्धारूपी जलपूर के सिञ्चन से विपुल कुल, बल, ऐश्वर्य और सौन्दर्य को विस्तीर्ण करने वाला है। स्वर्ग आदि की प्राप्ति इसके पुष्प हैं तथा यह शिवपदरूप फल को देने वाला है।

२०. भावनाप्रकरणम्

[1]नीरागे तरुणीकटाक्षितमिव त्यागव्यपेतप्रभौ,
सेवाकष्टमिवोपरोपणमिवाम्भोजन्मनामश्मनि ।
विष्वग्वर्षमिवोषरक्षितितले दानार्हदर्चातपः-
स्वाध्यायाध्ययनादि निष्फलमनुष्ठानं विना भावनाम् ।।८६।।

अन्वयः—

नीरागे तरुणीकटाक्षितमिव, त्यागव्यपेतप्रभौ सेवाकष्टमिव, अश्मनि अम्भोजन्मनाम् उपरोपणमिव, ऊषरक्षितितले विष्वग्वर्षमिव, भावनां विना दानार्हदर्चातपःस्वाध्यायाध्ययनादि (सर्वं) अनुष्ठानं निष्फलम् (स्यात्)।

अर्थ—

शुभ भावना (अनित्य-अशरण आदि) के बिना दान, अर्हतों की अर्चना, तप, स्वाध्याय तथा अध्ययन आदि अनुष्ठान वैसे ही निष्फल होते हैं जैसे रागरहित पुरुष के प्रति तरुणियों का कटाक्ष, दानवियुक्त—कृपण स्वामी की सेवा का श्रम, पाषाण पर कमलों का उपरोपण—वपन, ऊपर—बंजर भूमि पर सर्वत्र बरसने वाली वर्षा निष्फल होती है।

[2]सर्वं ज्ञीप्सति पुण्यमीप्सति दयां धित्सत्यघं भित्सति[3],
क्रोधं दित्सति दानशीलतपसां साफल्यमादित्सते।
कल्याणोपचयं चिकीर्षति भवाम्भोधेस्तटं लिप्सते,
मुक्तिस्त्रीं परिरिप्सते यदि जनस्तद् भावयेद् भावनाम्[4] ।।८७।।

अन्वयः—

यदि जनः सर्वं ज्ञीप्सति, पुण्यमीप्सति, दयां धित्सति, अघं भित्सति, क्रोधं दित्सति, दानशीलतपसां साफल्यमादित्सते, कल्याणोपचयं चिकीर्षति,

१-२. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

३. यह आर्षप्रयोग है। इसका सन्नन्तरूप बिभित्सति बनता है। कहीं भित्सति के स्थान पर मित्सति रूप मिलता है।

४. प्रस्तुत श्लोक में सन्नन्त क्रियापदों का प्रयोग किया गया है, यथा—ज्ञीप्सति—ज्ञातुम् इच्छति। ईप्सति—आप्तुम् इच्छति। धित्सति—धातुम् इच्छति। भित्सति—भेत्तुम् इच्छति। दित्सति—दातुम् इच्छति (दोच् अवखण्डने इत्यस्य रूपम्)। आदित्सते—आदातुम् इच्छति। चिकीर्षति—कर्तुम् इच्छति। लिप्सते—लब्धुम् इच्छति। परिरिप्सते—परिरब्धुम् इच्छति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवाम्भोधेः तटं लिप्सते, मुक्तिस्त्रीं परिरिप्सते तद् भावनां भावयेद् ।

अर्थ—

यदि मनुष्य सब कुछ जानना चाहता है, पुण्य को प्राप्त करना चाहता है, दया को धारण करना चाहता है, पाप का भेदन करना चाहता है, क्रोध का नाश करना चाहता है, दान, शील और तप की सफलता को प्राप्त करना चाहता है, कल्याण का उपचय करना चाहता है, भवसागर के तट को पाना चाहता है तथा मुक्तिरूपी स्त्री का आलिंगन करना चाहता है, उसे हस्तगत करना चाहता है तो वह शुभ भावना से अपने आपको भावित करे।

[1]विवेकवनसारिणीं प्रशमशर्मसंजीवनीं,
भवार्णवमहातरीं मदनदावमेघावलीम् ।
चलाक्षमृगवागुरां गुरुकषायशैलाशनिं,
विमुक्तिपथवेसरीं भजत भावनां किं परैः ?।।८८।।

अन्वयः—

विवेकवनसारिणीम्, प्रशमशर्मसंजीवनीम्, भवार्णवमहातरीम्, मदनदावमेघावलीम्, चलाक्षमृगवागुराम्, गुरुकषायशैलाशनिम्, विमुक्तिपथवेसरीं भावनां भजत, परैः किम् ?

अर्थ—

जो विवेकरूपी वन (उपवन) का सिंचन करने के लिए जलनालिका है, उपशमसुखों की संजीवनी है, भवसागर को तैरने के लिए महानौका है, कामरूपी दावानल को बुझाने के लिए मेघश्रेणी है, चपल इन्द्रियरूपी मृगों को फंसाने के लिए मृगजालिका है, महाकषायरूपी पर्वतों को तोड़ने के लिए वज्र है तथा मोक्षपथ तक जाने के लिए वेसरी—खच्चरी है, ऐसी भावना का तुम आचरण करो, अन्य अनुष्ठानों से क्या?

[2]घनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमखिलं,
क्रियाकाण्डं चण्डं रचितमवनौ सुप्तमसकृत् ।
तपस्तीव्रं तप्तं चरणमपि चीर्णं चिरतरं,
न चेच्चित्ते भावस्तुषवपनवत्सर्वमफलम् ।।८९।।

अन्वयः—

घनं वित्तं दत्तम्, अखिलं जिनवचनमभ्यस्तम्, चण्डं क्रियाकाण्डं रचितम्, अवनौ असकृत् सुप्तम्, तीव्रं तपस्तप्तम्, चरणमपि चिरतरं चीर्णम्, चेत् चित्ते भावो न (तदा) तुषवपनवत् सर्वमफलम् ।

---

१. पृथ्वीवृत्त ।
२. शिखरिणीवृत्त ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

हे प्राणिन्! तुमने प्रचुर धन का दान किया, समस्त जिनवाणी का अभ्यास किया, भयंकर क्रियाकाण्ड किए, बार-बार जमीन पर शयन किया, तीव्र तप तपा, चारित्र का भी दीर्घकालीन आचरण किया, (इतना होते हुए भी) यदि चित्त में शुभभावना नहीं है तो वे सभी आचरण 'तुषवपन' की तरह निष्फल हैं।

२१. वैराग्यप्रकरणम्

[1]यदशुभरजःपाथो दृप्तेन्द्रियद्विरदाङ्कुशं,
कुशलकुसुमोद्यानं माद्यन्मनःकपिशृङ्खला।
विरतिरमणीलीलावेश्म स्मरज्वरभेषजं,
शिवपथरथस्तद् वैराग्यं विमृश्य भवाऽभयः ।।९०।।

अन्वयः—

यत् (वैराग्यं) अशुभरजःपाथः, दृप्तेन्द्रियद्विरदांकुशम्, कुशलकुसुमोद्यानम्, माद्यन्मनःकपिशृङ्खला, विरतिरमणीलीलावेश्म, स्मरज्वरभेषजम्, शिवपथरथः तद् वैराग्यं विमृश्य अभयो भव।

अर्थ—

जो पापरूपी रजों को दूर करने के लिए जल है, उन्मत्त इन्द्रियरूपी हाथियों को वश में करने के लिए अंकुश है, कल्याणरूपी कुसुमों के लिए उद्यान है, मत्त मनरूपी वानर को निगृहीत करने के लिए शृंखला है, विरति (संयम) रूपी रमणी के लिए क्रीडागृह है, कामरूपी ज्वर के उपशमन के लिए औषध है, शिवमार्ग पर चलने के लिए रथ है, उस वैराग्य का तुम विमर्श कर, अपनाकर अभय बनो—संसार के भय से मुक्त बनो।

[2]चण्डानिलः स्फुरितमब्दचयं दवार्चि-
र्वृक्षव्रजं तिमिरमण्डलमर्कबिम्बम्।
वज्रं महीध्रनिवहं नयते यथान्तं,
वैराग्यमेकमपि कर्म तथा समग्रम् ।।९१।।

अन्वयः—

यथा चण्डानिलः स्फुरितम् अब्दचयम्, दवार्चिः वृक्षव्रजम्, अर्कबिम्बं तिमिरमण्डलम्, वज्रं महीध्रनिवहं अन्तं नयते तथा एकमपि वैराग्यं समग्रं कर्म (अन्तं नयते)।

---

१. हरिणीवृत्त।
२. वसन्ततिलकावृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—

जैसे प्रचण्ड वायु उमड़ती हुई मेघघटा का अन्त कर देती है, दवाग्नि वृक्षसमूह को जला देती है, सूर्यबिम्ब अन्धकारसमूह को मिटा देता है, वज्र पर्वतसमूह का भेदन कर देता है, वैसे ही अकेला वैराग्य भी समग्र कर्मों का अन्त—अवसान कर देता है।

[1]नमस्या देवानां चरणवरिवस्या शुभगुरो-
स्तपस्या निःसीमक्लमपदमुपास्या गुणवताम्।
निषद्यारण्ये स्यात् करणदमविद्या च शिवदा,
विरागः क्रूरागःक्षपणनिपुणोऽन्तः स्फुरति चेत् ।।९२।।

अन्वयः—

चेत् क्रूरागःक्षपणनिपुणः[2] विरागः अन्तः स्फुरति (तदा) देवानां नमस्या, शुभगुरोश्चरणवरिवस्या, निःसीमक्लमपदं तपस्या, गुणवताम् उपास्या, अरण्ये निषद्या, करणदमविद्या च शिवदा स्यात्।

अर्थ—

यदि अन्तःकरण में अनिष्टकर दोषों को दूर करने में निपुण वैराग्य स्फुरित होता है तब ही देवों को किया जाने वाला नमस्कार, सद्गुरु की चरणसेवा, असीम कष्टकर तपस्या का आचरण, गुणिजनों की उपासना, अरण्य में निवास तथा इन्द्रियों के दमन की विधि—ये सारे उपक्रम मोक्ष देने वाले होते हैं।

[3]भोगान् कृष्णभुजङ्गभोगविषमान् राज्यं रजःसन्निभं,
बन्धून् बन्धनिबन्धनानि विषयग्रामं विषान्नोपमम्।
भूतिं भूतिसहोदरां तृणतुलं स्त्रैणं विदित्वा त्यजन्,
तेष्वासक्तिमनाविलो विलभते मुक्तिं विरक्तः पुमान् ।।९३।।

अन्वयः—

भोगान् कृष्णाभुजङ्गभोगविषमान्, राज्यं रजःसन्निभम्, बन्धून् बन्धनिबन्धनानि, विषयग्रामं विषान्नोपमम्, भूतिं भूतिसहोदराम्, स्त्रैणं तृणतुलम् विदित्वा तेषु आसक्तिं त्यजन् अनाविलो विरक्तः पुमान् मुक्तिं विलभते।

अर्थ—

जो भोगों को काले नाग के फन की तरह भयंकर जानकर, राज्य को धूलि के समान मानकर, स्वजनों को कर्मबन्ध का हेतु मानकर, इन्द्रियों के विषयसमूह को विषाक्त अन्न के समान जानकर, ऐश्वर्य को राख के सदृश मानकर तथा स्त्रीसमूह को

१. शिखरिणीवृत्त।
२. क्रूरं–अनिष्टकरं, आगः–दोषः, तस्य क्षपणे–क्षयकरणे, निपुणः–दक्षः सः..।
३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृणतुल्य जानकर उनमें होने वाली आसक्ति का परित्याग करता है वह अकलुषित और विरक्त मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है।

[1]जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः सत्त्वानुकम्पा शुभपात्रदानम् ।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि ।।९४।।

अन्वयः—

जिनेन्द्रपूजा, गुरुपर्युपास्तिः, सत्त्वाऽनुकम्पा, शुभपात्रदानम्, गुणानुरागः, आगमस्य श्रुतिः, अमूनि नृजन्मवृक्षस्य फलानि (सन्ति)।

अर्थ—

मनुष्यजन्मरूपी वृक्ष के ये फल हैं—जिनेन्द्रपूजा, गुरु की पर्युपासना, प्राणियों पर दया, सुपात्र-दान, गुणानुराग, आगम-श्रवण।

सामान्योपदेशः

[2]त्रिसन्ध्यं देवार्चां विरचय चयं प्रापय यशः,
श्रिय. पात्रे वापं जनय नयमार्गं नय मनः।
स्मरक्रोधाद्यारीन् दलय कलय प्राणिषु दयां,
जिनोक्तं सिद्धान्तं शृणु वृणु जवान्मुक्तिकमलाम् ।।९५।।

अन्वयः—

त्रिसन्ध्यं देवार्चां विरचय, यशः चयं प्रापय, श्रियः पात्रे वापं जनय, मनः नयमार्गं नय, स्मरक्रोधाद्यारीन् दलय, प्राणिषु दयां कलय, जिनोक्तं सिद्धान्तं शृणु, (एतानि कृत्वा) जवात् मुक्तिकमलां वृणु।

अर्थ—

हे भव्यजन! तुम तीनों सन्ध्याओं में वीतराग देव की अर्चा करो, यश का उपचय करो, लक्ष्मी का सुपात्र में वपन करो अर्थात् लक्ष्मी का सद्कार्यों में विसर्जन करो, मन को न्यायमार्ग पर ले जाओ, कामक्रोध आदि शत्रुओं का नाश करो, प्राणियों पर दया करो, जिनभगवान द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का श्रवण करो। (इन सबको करते हुए) तुम शीघ्र ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण करो।

[3]कृत्वाऽर्हत्पदपूजनं यतिजनं नत्वा विदित्वाऽगमं,
हित्वा सङ्गमधर्मकर्मठधियां पात्रेषु दत्वा धनम्।
गत्वा पद्धतिमुत्तमक्रमजुषां जित्वाऽन्तरारिव्रजं,
स्मृत्वा पञ्चनमस्क्रियां कुरु करक्रोडस्थमिष्टं सुखम् ।।९६।।

१. उपजातिवृत्त।
२. शिखरिणीवृत्त।
३. शार्दूलविक्रीडितवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयः—

अर्हत्पदपूजनं कृत्वा, यतिजनं नत्वा, आगमं विदित्वा, अधर्मकर्मठधियां सङ्गं हित्वा, पात्रेषु धनं दत्वा, उत्तमक्रमजुषां पद्धतिं गत्वा, अन्तरारिव्रजं जित्वा, पञ्चनमस्क्रियां स्मृत्वा इष्टं सुखं करक्रोडस्थं कुरु।

अर्थ—

अर्हतों के चरण की पूजा—आराधना कर, संयमी पुरुष को नमस्कार कर, आगम (सिद्धान्त) को जानकर, अधर्म में संलग्न बुद्धि वाले पुरुषों का संग छोड़कर, सुपात्र को धन देकर अर्थात् परोपकारक कार्य में धन का विसर्जन कर, उत्तमपथ का आचरण करने वाले व्यक्तियों के मार्ग को अपनाकर, आन्तरिक शत्रुसमूह को जीतकर, पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण कर तुम इष्ट—मनोभिलषित सुख को हस्तगत करो।

[1]प्रसरति यथा कीर्त्तिर्दिक्षु क्षपाकरसोदराऽ-
भ्युदयजननी याति स्फीतिं यथा गुणसन्ततिः।
कलयति यथा वृद्धिं धर्मः कुकर्महतिक्षमः,
कुशलसुलभे न्याये कार्यं तथा पथि वर्तनम् ।।९७।।

अन्वयः—

कुशलसुलभे न्याये पथि तथा वर्तनं कार्यं यथा दिक्षु क्षपाकरसोदरा कीर्त्तिः प्रसरति, यथा अभ्युदयजननी गुणसन्ततिः स्फीतिं याति, यथा कुकर्महतिक्षमः धर्मो वृद्धिं कलयति।

अर्थ—

कुशल पुरुषों द्वारा सुप्राप्य न्यायमार्ग का वैसे अनुवर्तन करना चाहिए जिससे चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल कीर्त्ति चारों दिशाओं में प्रसृत हो, जिससे अभ्युदय की जनक गुणपरम्परा का विस्तार हो तथा जिससे बुरे कर्मों (पापों) का क्षय करने में समर्थ धर्म की वृद्धि हो।

[2]करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनं,
मुखे सत्या वाणी श्रुतमधिगतं च श्रवणयोः।
हृदि स्वच्छा वृत्तिर्विजयि भुजयोः पौरुषमहो,
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ।।९८।।

अन्वयः—

करे त्यागः श्लाघ्यः, शिरसि गुरुपादप्रणमनम्, मुखे सत्या वाणी,

१. हरिणीवृत्त।
२. शिखरिणीवृत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रवणयोश्च अधिगतं श्रुतम्, हृदि स्वच्छा वृत्तिः, भुजयोः विजयि पौरुषम् अहो! ऐश्वर्येण विनाऽपि प्रकृतिमहताम् इदं मण्डनम्!

अर्थ—

अहो! ऐश्वर्य के बिना भी प्रकृति से महान् पुरुषों के ये भूषण हैं—हाथ का भूषण है दान, शिर का भूषण है गुरु चरणों में प्रणमन, मुख का भूषण है सत्य वाणी का उच्चारण, कानों का भूषण है पठित श्रुत का श्रवण, हृदय का भूषण है निर्मल वृत्ति, भुजाओं का भूषण है विजय को प्राप्त कराने वाला पौरुष।

[1]**भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं,**
तदानीं मा कार्षीर्विषयविषवृक्षेषु वसतिम्।
यतश्छायाप्येषां प्रथयति महामोहमचिरा-
दयं जन्तुर्यस्मात् पदमपि न गन्तुं प्रभवति ।।९९।।

अन्वयः—

यदि (त्वं) भवारण्यं मुक्त्वा मुक्तिनगरीं जिगमिषुः तदानीं विषयविषवृक्षेषु वसतिं मा कार्षीः। यतः एषां छायाऽपि अचिरात् महामोहं प्रथयति। यस्मात् अयं जन्तुः पदमपि गन्तुं न प्रभवति।

अर्थ—

हे भव्यजन! यदि तुम संसाररूपी अरण्य को छोड़कर मुक्ति नगरी में जाने के इच्छुक हो तो विषयरूपी विषवृक्षों के नीचे निवास मत करो। क्योंकि उनकी छाया भी तत्क्षण महामोह (मूढता, अज्ञानता) को फैलाती है, जिससे यह प्राणी एक कदम भी चलने में समर्थ नहीं होता।

[2]**सोमप्रभाचार्य[3]भा च यन्न पुंसां तमःपङ्कमपाकरोति।**
तदप्यमुष्मिन्नुपदेशलेशे निशम्यमानेऽनिशमेति नाशम् ।।१००।।

अन्वयः—

सोमप्रभा अर्यमभा च पुंसां यत्तमःपङ्कं न अपाकरोति तदपि (तमःपङ्कं) अमुष्मिन् उपदेशलेशे निशम्यमाने अनिशं नाशम् एति।

अर्थ—

चन्द्रमा की प्रभा और सूर्य की प्रभा भी व्यक्तियों के जिस अन्धकाररूपी पंक को दूर नहीं कर सकती, वह अज्ञानरूपी पंक भी अल्प उपदेश वाले उस 'सिन्दूरप्रकर' ग्रन्थ के निरन्तर श्रवण से नष्ट हो जाता है।

---

१. शिखरिणीवृत्त।

२. उपजातिवृत्त।

३. अत्र 'सोमप्रभाचार्य' इति ग्रन्थकारेण स्वनामापि सूचितम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्तिः

[1]अभजदजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रि-
द्युमणिविजयसिंहाचार्यपादारविन्दे।
मधुकरसमतां यस्तेन सोमप्रभेण,
व्यरचि मुनिपनेत्रा सूक्तिमुक्तावलीयम् ।।१०१।।

अन्वयः—

यः (सोमप्रभः) अजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रिद्युमणिविजयसिंहाचार्यपादारविन्दे मधुकरसमताम् अभजत्। तेन मुनिपनेत्रा सोमप्रभेण इयं सूक्तिमुक्तावली व्यरचि।

अर्थ—

आचार्य अजितदेव के पट्टरूपी उदयाचल पर सूर्य के समान (तेजस्वी) आचार्य विजयसिंह सुशोभित हुए। उनके चरणकमल में भ्रमरतुल्य आचार्य सोमप्रभ हुए। उन सूरीश्वर सोमप्रभ ने इस सूक्तिमुक्तावली नामक ग्रन्थ (अपर नाम सिन्दूरप्रकर) की रचना की।

सूक्तिमुक्तावली अपरनामा
सिन्दूरप्रकरश्चेति ग्रन्थः
संपन्नः।

●●●

१. मालिनीवृत्त ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकारादिश्लोकानुक्रमः

	श्लोकसं.	पृष्ठसं.
अ–५		
अदत्तं नादत्ते कृतसुकृतकामः किमपि यः	३४	२१
अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवम्	०७	८
अभजदजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रि-	१०१	५४
अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते	१३	११
असत्यमप्रत्ययमूलकारणम्	३१	२०
आ–२		
आत्मानं कुपथेन निर्गमयितुं यः शूकलाश्वायते	६९	३८
आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरम्	२८	१९
औ–१		
औचित्याचरणं विलुम्पति पयोवाहं नभस्वानिव	५१	३०
क–९		
कदाचिन्नातङ्कः कुपित इव पश्यत्यभिमुखम्	११	१०
करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनम्	९८	५२
कलहकलभविन्ध्यः क्रोधगृध्रश्मशानम्	४२	२५
कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं...	८४	४६
कालुष्यं जनयन् जडस्य रचयन् धर्मद्रुमो....	४१	२५
किं ध्यानेन भवत्वशेषविषयत्यागैस्तपोभिः....	१६	१३
क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजःसंहारवात्या....	२५	१७
कुशलजननवन्ध्यां सत्यसूर्यास्तसन्ध्याम्	५३	३१
कृत्वार्हत्पदपूजनं यतिजनं नत्वा विदित्वागमम्	९६	५१
घ–१		
घनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमखिलम्	८९	४८
च–२		
चण्डानिलः स्फुरितमब्दचयं दवार्चिः	९१	४९
चारित्रं चिनुते तनोति विनयं ज्ञानं....	७७	४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज–२		
जातः कल्पतरुः पुरः सुरगवी तेषां प्रविष्टा...	६०	३४
जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः सत्त्वानुकम्पा...	९४	५१
त–७		
तमभिलषति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धिः	३३	२१
तस्याग्निर्जलमर्णवः स्थलमरिर्मित्रं सुराः.....	३२	२०
तस्यासन्ना रतिरनुचरी कीर्त्तिरुत्कण्ठिता श्रीः	८०	४४
ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमम्	०६	७
तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि....	४०	२४
त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं.....	०३	६
त्रिसन्ध्यं देवार्चा विरचय चयं प्रापय यशः	९५	५१
द–३		
दत्तस्तेन जगत्यकीर्त्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चकः	३७	२३
दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति....	७४	४१
दारिद्र्यं न तमीक्षते न भजते दौर्गत्यमालम्बते	७८	४३
ध–४		
धत्तां मौनमगारमुज्झतु विधिप्रागल्भ्य...	७१	३९
धर्मं जागरयत्यघं विघटयत्युत्थापयत्युत्पथम्	२०	१५
धर्मं ध्वस्तदयो यशश्च्युतनयो वित्तं प्रमत्तः...	६५	३६
धर्मध्वंसधुरीणमभ्रमरसावारीणमापत्प्रथा-	७२	४०
न–७		
न देवं नादेवं न शुभगुरुमेवं न कुगुरुम्	१७	१३
न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहम्	६४	३६
नमस्या देवानां चरणवरिवस्या शुभगुरोः	९२	५०
निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे	५९	३३
निम्नं गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव....	७३	४०
नीचस्यापि चिरं चटूनि रचयन्त्यायान्ति...	७५	४१
नीरागे तरुणीकटाक्षितमिव त्यागव्यपेतप्रभौ	८६	४७
प–८		
परजनमनःपीडाक्रीडावनं वधभावना-	३६	२२
पात्रे धर्मनिबन्धनं तदितरे श्रेष्ठं.....	८१	४४
पापं लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदम्	०९	९
पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः	१५	१२
पीयूषं विषवज्जलं ज्वलनवत्तेजस्तमस्तोमवत्	१९	१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिष्ठां यन्निष्ठां नयति नयनिष्ठां विघटय-	७०	३९
प्रत्यर्थी प्रशमस्य मित्रमधृतेर्मोहस्य विश्रामभूः	४३	२६
प्रसरति यथा कीर्त्तिर्दिक्षु क्षपाकरसोदरा-	९७	५२
फ–१		
फलति कलितश्रेयःश्रेणिप्रसूनपरम्परः	४६	२७
भ–३		
भक्तिं तीर्थकरे गुरौ जिनमते संघे च....	०८	८
भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीम्	९९	५३
भोगान् कृष्णभुजङ्गभोगविषमान् राज्यं....	९३	५०
म–५		
मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं व्यर्थं वृथा....	१८	१४
मायामविश्वासविलासमन्दिरम्	५५	३१
मुग्धप्रतारणपरायणमुज्जिहीते	५६	३२
मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थम्	५२	३०
मूलं मोहविषद्रुमस्य सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भवः	५८	३३
य–१४		
यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः.....	१२	११
यः प्राप्य दुष्प्रापमिदं नरत्वम्	०४	७
यः संसारनिरासलालसमतिर्मुक्त्यर्थमुत्तिष्ठते	२२	१६
यत्पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशं यत्कामदावानल-	८२	४५
यदशुभरजःपाथो दृप्तेन्द्रियद्विरदाङ्कुशम्	९०	४९
यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयति	२६	१८
यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति....	५७	३२
यद्भक्तेः फलमर्हदादिपदवीमुख्यं कृषेः....	२४	१७
यन्निर्वर्त्तितकीर्त्तिधर्मनिधनं सर्वागसां साधनम्	३५	२२
यशो यस्माद् भस्मीभवति दनवह्नेरिव वनम्	३०	२०
यस्मादाविर्भवति विततिर्दुस्तरापन्नदीनाम्	४९	२९
यस्माद् विघ्नपरम्परा विघटते दास्यं सुराः.....	८३	४५
यो धर्मं दहति द्रुमं दव इवोन्मथ्नाति नीतिं....	४८	२८
यो मित्रं मधुनो विकारकरणे संत्राससंपादने	४५	२७
र–१		
रत्नानामिव रोहणक्षितिधरः खं तारकाणामिव	२१	१५
ल–४		
लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्त्तिस्तमालोकते	७९	४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्मीः सर्पति नीचमर्णवपयःसङ्गादिव...	७६	४२
लक्ष्मीस्तं स्वयमभ्युपैति रभसा कीर्त्तिः...	२३	१६
लब्धुं बुद्धिकलापमापदमपाकर्तुं विहर्तुं पथि	६७	३७
व–८		
वरं क्षिप्तः पाणिः कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे	६१	३४
वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणाम्	६३	३५
वह्निस्तृप्यति नेन्धनैरिह यथा नाम्भोभिः....	४४	२६
विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थम्	१४	१२
विधाय मायां विविधैरुपायैः परस्य ये....	५४	३१
विवेकवनसारिणीं प्रशमशर्मसंजीवनीम्	८८	४८
विश्वासायतनं विपत्तिदलनं देवैः कृताराधनम्	२९	१९
व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां व्रजन्ति क्षयम्	३८	२३
श–१		
शमालानं भञ्जन् विमलमतिनाडीं विघटयन्	५०	२९
स–१०		
स कमलवनमग्नेर्वासरं भास्वदस्तात्	२७	१८
सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचां विचारो...	०२	६
सन्तापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय-	४७	२८
सन्तोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः	८५	४६
सर्वं ज्ञीप्सति पुण्यमीप्सति दयां धित्सत्यघं....	८७	४७
सिन्दूरप्रकरस्तपःकरिशिरःक्रोडे कषायाटवी-	०१	५
सोमप्रभाचार्यमभा च यत्न पुंसां तमःपङ्कम्...	१००	५३
सौजन्यमेव विदधाति यशश्चयं च	६२	३५
स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणं सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः....	१०	१०
स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते	०५	७
ह–३		
हरन्ति कुलकलङ्कं लुम्पते पापपङ्कम्	३९	२४
हरति कुमतिं भिन्ते मोहं करोति विवेकिताम्	६६	३७
हिमति महिम्नाम्भोजे चण्डानिलत्युदयाम्बुदे	६८	३८

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरण-विमर्श

श्लो. १. **पातु वः**–यहां युष्मान् के स्थान पर **'पदादेकवाक्ये...'** (अष्टा. २।१।५६) सूत्र से वस् आदेश हुआ है।

श्लो. ५. **दुष्प्रापम्**–दुःखेन प्राप्यते तद्...ऐसा विग्रह करने पर **'दुःस्वीषत्सु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्'** (अष्टा. ६।१।१७) इस सूत्र से खल् प्रत्यय।

श्लो. १३. **स्वहितैषिणा**–स्वस्मै हित इति स्वहितः, तमिच्छतीत्येवंशीलः, ऐसा विग्रह करने पर **'अजातौ ताच्छील्ये'** (अष्टा. ५।२।८५) सूत्र से ताच्छील्य अर्थ में धातु से णिन्, **'उपधायाः लघोः'** (अष्टा. ४।२।४) से गुण होने पर–स्वहित एषिन्, इस अवस्था में **'एदैतोरैत्'** (अष्टा. १।२।१९) से एकारसहित हित के अकार को ऐकारादेश–स्वहितैषिन्। प्रथमा विभक्ति का एक वचन–स्वहितैषी, तेन स्वहितैषिणा, **'अवकुप्वनुस्वार....'** (अष्टा. २।२।७०) सूत्र से नकार को णकार।

श्लो. १५. **निमज्जन्तम्**–यह निपूर्वक 'टुमस्जोंज् शुद्धौ' धातु से शतृप्रत्यय का रूप है। मस्ज–यहां **'स्तोः श्चुभिः श्चुः'** (अष्टा. १।३।५) सूत्र से स् को श्, **'झबे जबा झसानाम्'** (अष्टा. १।३।४३) सूत्र से श् को ज् होने पर मज्ज, फिर **'शतृशानौ वर्तमाने...'** (अष्टा. ५।३।४) से शतृप्रत्यय तथा **'तुदादेरन्'** (अष्टा ३।४।२८) सूत्र से अन् होने पर–मज्ज+अन्+शतृ, **'अदेतोऽपदान्तेऽतः'** (अष्टा. २।१।३१) से मज्ज के अकार का लोप, फिर **'उदृदितो नुम्'** (अष्टा. १।४।५८) सूत्र से नुम् का आगम होने पर मज्जन्, तं निपूर्वकं निमज्जन्तम्।

श्लो. १७. **गुणपरिणद्धम्**–गुणैः–परिणद्धम्–बद्धमित्यर्थः। परिणद्धम्–यहां परिपूर्वक 'णहंन्च् बन्धने' धातु है। **'भ्वादेरादेर्णो नः'** (अष्टा. ४।३।१) से णह् धातु के ण् को न्, **'क्तक्तवतु'** (अष्टा. ५।२।१०५) सूत्र से क्त प्रत्यय करने पर–नह्+क्त, **'नहो धः'** (अष्टा. २।१।११५) सूत्र से ह् को ध्–नध्+त, **'झभात्तथोर्धोऽधः'** (अष्टा. २।१।१११) सूत्र से क्त के त को ध करने पर तथा **'झबे जबा झसानाम्'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अष्टा. १।३।४३) सूत्र से पूर्व ध् को द् करने पर–नद्ध। परिपूर्वक नद्ध को **'उपसर्गाण्णोपदेशस्य'** (अष्टा. २।२।८५) से न् को ण् करने पर तथा द्वितीया विभक्ति के एकवचन में 'परिणद्धम्' रूप बनता है।

श्लो. १९. इस श्लोक में प्रयुक्त विषवत्, ज्वलनवत्, तमस्तोमवत्, शात्रववत्, भुजगवत्, लोष्ठवत्, ग्रीष्मजवत् शब्दों में वत् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। इन सभी में **'तस्य'** (अष्टा. ७।३।५५) सूत्र से इव अर्थ में वत् प्रत्यय होता है। जैसे–विषस्येव–विषवत् पीयूषं मनुते।

श्लो. २१. **क्षितिधरः**–क्षितिं धरति, ऐसा विग्रह करने पर **'धृनः प्रहरणादि...'** (अष्टा. ५।२।२३) सूत्र से धृन् को अच् तथा **'नामिनो गुणोऽक्ङिति'** (अष्टा. ४।२।१) से धृ को गुण करने पर–क्षितिधर्+अच्, 'स्वरहीनं परेण संयोज्यम्' से क्षितिधर, प्रथमा विभक्ति एकवचन में–क्षितिधरः पर्वत इत्यर्थः।

महीरुहाम्–महयां रोहति, ऐसा विग्रह करने पर **'क्विप्'** (अष्टा. ५।२।७९) सूत्र से क्विप्, **'वेर्लोपः'** (अष्टा. ४।४।४८) से वि का लोप होने पर–महीरुह्+सि। **'हसेपः सेर्लोपः'** (अष्टा. १।४।२७) से सि विभक्ति का लोप होने पर–महीरुह्, तेषां महीरुहाम् वृक्षाणामित्यर्थः।

श्लो. २२. **नमस्यति**–नमः करोति–इस विग्रह में **'नमोवरिवश्चित्रङो....'** (अष्टा. ४।१।३२) सूत्र से अर्चा अर्थ में करण अर्थ में क्यच् प्रत्यय होता है।

श्लो. २८. प्रस्तुत श्लोक में प्रयुज्यमान दीर्घतरम्, वरतरम्, भूरितरम्, बहुतरम् तथा उच्चैस्तरम् शब्दों में प्रकृष्ट अर्थ में तर प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। इन सभी प्रयोगों में **'द्वयोर्विभज्ये च तरः'** (अष्टा. ८।२।२) सूत्र से तर प्रत्यय होता है। एवं गरीयस्तरम्–अयमनयोरतिशयेन गुरुः, ऐसा विग्रह करने पर **'गुणाङ्गादिष्ठेयसू...'** (अष्टा. ८।२।५) सूत्र से ईयस् प्रत्यय तथा **'प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरु.....'** (अष्टा. ८।४।३८) से गुरु को गर आदेश होने पर–गर+ईयस्, **'टेः'** (अष्टा. ८।४।४४) सूत्र से टि का लोप होने पर–गरीयस्। **'क्वचित् स्वार्थे'** (अष्टा. ८।२।३) सूत्र से तर प्रत्यय होने पर गरीयस्तरम् रूप बनता है।

श्लो. ३०. **भस्मीभवति**–यह च्विप्रत्ययान्त रूप है। अभस्म भस्म भवति, ऐसा विग्रह करने पर **'अभूततद्भावे.....'** (अष्टा. ८।२।१८)। सूत्र से अभूततद्भाव अर्थ में च्विप्रत्यय होने पर–भस्मन् अम् च्वि, **'तद्धिताः'** (अष्टा. ६।२।१) सूत्र से तद्धितसंज्ञा, **'समासप्रत्यययोः'** (अष्टा. ३।२।६) सूत्र से विभक्ति का

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

लुक्-भस्मन्-च्वि, **'नाम्नो नोऽनहः'** (अष्टा. २।१।१२१) से न् का लोप तथा **'ईश्च्वाववर्णस्याऽनव्ययस्य'** (अष्टा. ४।१।६०) सूत्र से अकार को ईकार-भस्मी च्वि, च् अनुबन्ध, **'वेर्लोपः'** (अष्टा. ४।४।४८) से वि का लोप तथा प्रथमा विभक्ति के एकवचन में सि प्रत्यय आने और **'अव्ययस्य'** (अष्टा. ३।२।७) से सि का लुक् होने पर भस्मीभवति रूप सिद्ध होता है।

श्लो. ४०. इस श्लोक में प्रयुक्त तोयति, स्रजति, सारङ्गति, अश्वति, उपलति, पीयूषति, उत्सवति, प्रियति, क्रीडातडागति तथा स्वगृहति-ये सभी नामधातुएं हैं। जैसे तोयमिवाचरति-तोयति। पीयूषमिवाचरति-पीयूषति। क्रीडायास्तडागः-क्रीडातडाग इवाचरति-क्रीडातडागति। स्वगृहमिवाचरति-स्वगृहति। इन सभी प्रयोगों में आचार अर्थ में **'कर्तुः क्विब्....'** (अष्टा. ४।१।२०) सूत्र से क्विप्, **'वेर्लोपः'** (अष्टा. ४।४।४८) से लोप तथा **'आयादिव्यन्तः'** (अष्टा. १।१।३३) से धातुसंज्ञा होने पर तिप् आदि प्रत्यय लगते हैं।

श्लो. ५२. **अङ्गभाजाम्**-अङ्गं भजते, ऐसा विग्रह करने पर **'भजिसहिवहिभ्यो विण्'** (अष्टा. ५।२।७३) से विण् प्रत्यय तथा **'वेर्लोपः'** (अष्टा. ४।४।४८) से वि का लोप होने पर-अङ्ग+भज्। तत्पश्चात् भज् धातु के ज् को ग् और ग् को क् तथा प्रत्यय का णित् भकार को वृद्धि का सूचक है। प्रथमा विभक्ति के एक वचन का रूप बनेगा-अङ्गभाक्, तेषाम् अङ्गभाजाम्।

श्लो. ६८. हिमति-हिममिवाचरति। चण्डाऽनिलति-चण्डः प्रचण्डः, अनिलः वायुः। चण्डश्चासौ अनिलश्च चण्डाऽनिलः, स इवाचरति। द्विरदति- द्विरदवत् गजवदाचरति। वज्रति-वज्र इवाचरति। समिधति-समित्-इन्धनं, तदिवाचरति। कन्दति-कन्द इवाचरति। इन प्रयोगों में **'कर्तुः, क्विब्.....'** (अष्टा. ४।१।२०) सूत्र से क्विप्, लोप, **'आयादिव्यन्तः'** (अष्टा. १।१।३३) से धातुसंज्ञा, तत्पश्चात् तिबादिप्रत्ययः।

श्लो. ६९. शूकलाश्वायते-शूकलः दुर्विनीतः, अश्वः हयः। शूकलश्चासौ अश्वश्च शूकलाश्वः, स इवाचरति। कृष्णसर्पायते-कृष्णसर्प इवाचरति। कुठारायते-कुठार इवाचरति। ये नामधातुएं **'क्यङ्'** (अष्टा. ४।१।२१) सूत्र से क्यङ् प्रत्यय, **'च्वियग्यङ्क्यादादि....'** (अष्टा. ४।१।५१) से पूर्वस्वर को दीर्घ करने पर सिद्ध होती हैं।

शुभंयुः-शुभमस्याऽस्ति, ऐसा विग्रह करने पर **'ऊर्णाहं-शुभमः'** (अष्टा. ८।१।८६) सूत्र से मतु अर्थे में युस् प्रत्यय, **'स्रोर्विसर्गः'** (अष्टा. २।१।१०३) से सकार को विसर्ग आदेश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लो. ७२. प्रस्तुत श्लोक में प्रयुज्यमान धुरीणम्, अवारीणम्, अलङ्कर्मीणम्, पारीणम्, सर्वान्नीनम्, अनात्मनीनम्, अत्यन्तीनम्, यथाकामीनम, अध्वनीनम् शब्दों में ईन प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। धुरीणम्–धुरं वहति। यहां 'परमतमनुमतं स्वमतं भवति' इति मतान्तरेण ईन प्रत्यय होता है। अवारीणम्[1]–अवारं गामी, पारीणम्–पारं गामी–इन दोनों प्रयोगों में **'पारावारेभ्यो गामी'** (अष्टा. ७।३।१०१) सूत्र से 'गामी' अर्थ में ईन प्रत्यय तथा न् को ण् होता है। अलङ्कर्मीणम्–अलं कर्मणे, ऐसा विग्रह करने पर **'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या'** (अष्टा. ३।१।९५) से समास करने पर तत्पश्चात् **'अषडक्षाशितंग्वलंकर्मालं-पुरुषादीनः'** (अष्टा. ७।३।१०७) इस सूत्र से स्वार्थ में ईन प्रत्यय होता है, नकार को णकार। सर्वान्नीनम्–सर्वप्रकारमन्नं–सर्वान्नं, तदत्ति–सर्वान्नीनम्–यहां **'सर्वान्नादऽत्ति'** (अष्टा. ७।३।९९) सूत्र से अत्ति अर्थ में ईन प्रत्यय होता है। अनात्मनीनम्–न आत्मा अनात्मा, तस्मै हितम्–अनात्मनीनम्। यहां **'भोगान्तात्मभ्यामीनः'** (अष्टा. ७।३।४०) सूत्र से 'तस्मै हितेऽर्थे' ईन प्रत्यय। **'नोऽपदस्य तद्धिते'** (अष्टा. ८।४।६२) सूत्र से टिलोप की प्राप्ति, किन्तु **'अध्वात्मनोरीने'** (अष्टा. ८।४।४९) से टिलोप का निषेध। अत्यन्तीनम्–अत्यन्तं भृशं गामी, ऐसा विग्रह करने पर **'यथाकामाऽनुकामाऽत्यन्तात्'** (अष्टा. ७।३।१०२) सूत्र से गामी अर्थ में ईन प्रत्यय। इसी प्रकार यथाकामीनम्–यथाकामं गामी–यथाकामीनं–यथेच्छं गामीत्यर्थः। अध्वनीनम्–अध्वानमलंगामी, ऐसा विग्रह करने पर **'अध्वनो येनौ'** (अष्टा. ७।३।१०४) सूत्र से 'अलंगामी' अर्थ में ईन प्रत्यय, **'नोऽपदस्य तद्धिते'** (अष्टा. ८।४।६२) से टिलोप की प्राप्ति, **'अध्वात्मनोरीने'** (अष्टा. ८।४।४९) से टिलोप का प्रतिषेध।

श्लो. ९१. महीध्रः–महीं धरति, ऐसा विग्रह करने पर **'मूलविभुजादयः'** (अष्टा. ५।२।७७) सूत्र से क प्रत्यय होने पर निपातन से सिद्ध होता है।

---

१. ग्रन्थ के टीकाकार ने आवारीणं मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है–आवरणाय आच्छादनाय समर्थः आवारीणः–आच्छादकस्तम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ में प्रयुक्त धातुएं

श्लो.१

पातु–पांक् रक्षणे

श्लो.२

सन्तु–असक् भुवि

सूते–षूङ्क् प्राणिगर्भविमोचने

वितन्वन्ति–विपूर्वक तनुन्व् विस्तारे

श्लो.३

वदन्ति–वद व्यक्तायां वाचि

श्लो.४

करोति–डुकृंन् करणे

पातयति–पत्लृं पतने, प्रेरणार्थक

श्लो.५

क्षिपति–क्षिपंन्ज् प्रेरणे

विधत्ते–विपूर्वक डुधांन्क् धारणे च

वाहयति–वहंन् प्रापणे, प्रेरणार्थक

विकिरति–विपूर्वक कृज् विक्षेपे

गमयति–गम्लृं गतौ, प्रेरणार्थक

श्लो.६

वपन्ति–टुवपंन् बीजसन्ताने

स्वीकुर्वते–अस्वं स्वं करोति, च्वि-प्रत्ययान्त

क्रीणन्ति–डुक्रींन्श् द्रव्यविनिमये

धावन्ति–धावुन् गतिशुद्ध्योः

श्लो.७

कुर्याद्–डुकृंन् करणे

प्रयतते–प्रपूर्वक यतीङ् प्रयत्ने

श्लो.८

कुरुष्व–डुकृंन् करणे

श्लो.९

लुम्पति–लुप्लृंन्ज् छेदने

दलयति–दल विशरणे, दलण् विदारणे, प्रेरणार्थक

व्यापादयति–वि+आङ्पूर्वक पदंङ्च् गतौ, प्रेरणार्थक

संचिनुते–सम्पूर्वक चिंन्त् चयने

वितनुते–विपूर्वक तनुन्व् विस्तारे

पुष्णाति–पुषश् पुष्टौ

विदधाति–विपूर्वक डुधांन्क् धारणे च

पल्लवयति–पल्लवं करोति, नामधातु

प्रसूते–प्रपूर्वक षूङ्क् प्राणिगर्भ-विमोचने

यच्छति–दांम् दाने

रचयति–रचण् प्रतियत्ने

श्लो.१०

विलसति–विपूर्वक लस श्लेषण-क्रीडनयोः

लुठति–लुठज् संश्लेषणे

विधत्ते–विपूर्वक डुधांन्क् धारणे च

श्लो.११

पश्यति–दृशृं प्रेक्षणे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नश्यति–णशूच् अदर्शने
त्यजति–त्यजं हानौ
मुञ्चति–मुच्लृंन्ज् मोक्षणे

श्लो.१२

अर्चति–अर्च पूजायाम्
वन्दते–अभिवादनस्तुत्योः
स्तौति–ष्टुंन्क् स्तुतौ
ध्यायति–ध्यैं चिन्तायाम्

श्लो.१३

प्रवर्तते–प्रपूर्वक वृतुङ् वर्तने
प्रवर्तयति–प्रपूर्वक वृतुङ् वर्तने प्रेरणार्थक

श्लो.१४

विदलयति–विपूर्वक दल विशरणे, दलण् विदारणे, प्रेरणार्थक
बोधयति–बुधंङ्च् ज्ञाने, प्रेरणार्थक
व्यनक्ति–विपूर्वक अञ्जूर् व्यक्ति-म्रक्षणकान्तिगतिषु
अवगमयति–अवपूर्वक गम्लृं गतौ, प्रेरणार्थक

श्लो.१६

कुरु–डुकृंन् करणे

श्लो.१७

विलोकन्ते–विपूर्वक लोकृङ् दर्शने

श्लो.१८

वदन्ति–वद व्यक्तायां वाचि

श्लो.१९

मनुते–मनुङ्व् बोधने
मन्यते–मनंङ्च् ज्ञाने

श्लो.२०

जागरयति–जागृक् निद्राक्षये, प्रेरणार्थक
विघटयति–विपूर्वक घटषङ् चेष्टायाम्, प्रेरणार्थक
उत्थापयति–उत्पूर्वक ष्ठां गतिनिवृत्तौ, प्रेरणार्थक
भिन्ते–भिदृंन्र् विदारणे
उच्छिनत्ति–छिदृंन्र् द्वैधीकरणे
मथ्नाति–मन्थश् विलोडने
वितनोति–विपूर्वक तनुन्व् विस्तारे
पुष्यति–पुषंच् पुष्टौ
मुष्णाति–मुषश् स्तेये
अर्चति–अर्च पूजायाम्
प्रथयति–प्रथषङ् प्रख्याने, प्रेरणार्थक
ध्यायति–ध्यैं चिन्तायाम्
अधीते–अधिपूर्वक इंङ्क् अध्ययने

श्लो.२१

विरच्यताम्–विपूर्वक रचण् प्रतियत्ने, भावकर्म

श्लो.२२

उत्तिष्ठते–उत्पूर्वक ष्ठां गतिनिवृत्तौ
कथयन्ति–कथण् वाक्यप्रबन्धे
नमस्यति–नमः करोति, नामधातु
जायते–जनीङ्च् प्रादुर्भावे
वसन्ति–वसं निवासे
अर्च्यताम्–अर्च पूजायाम्, भावकर्म

श्लो.२३

अभ्युपैति–अभि+उपपूर्वक इंण्क् गतौ
आलिङ्गति–आङ्पूर्वक लिगि गतौ
भजते–भजंन् सेवायाम्
प्रयतते–प्रपूर्वक यतीङ् प्रयत्ने
आलोकते–आङ्पूर्वक लोकृङ् दर्शने
सेवते–षेवृङ् सेवने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लो.२४

गीयते–गै शब्दे, भावकर्म
दधते–डुधांन्क् धारणे च
पुनातु–पून्श् पवने

श्लो.२५

क्रियताम्–डुकृंन् करणे, भावकर्म
भवतु–भू सत्तायाम्

श्लो.२६

तरति–तृ प्लवनतरणयोः
उदयति–उत्पूर्वक अयङ् गतौ
भजति–भजंन् सेवायाम्
स्यात्–असक् भुवि
प्रसूते–प्रपूर्वक षूङ्क् प्राणिगर्भ-विमोचने

श्लो.२७

अभिलषति–अभिपूर्वक लषन् कान्तौ
इच्छेत्–इषज् इच्छायाम्

श्लो.२८

करोति–डुकृंन् करणे

श्लो.३०

भस्मीभवति–अभस्म भस्म भवति, च्विप्रत्ययान्त
अभिधत्ते–अभिपूर्वक डुधांन्क् धारणे च

श्लो.३२

वक्ति–वचंक् भाषणे

श्लो.३३

अभिलषति–अभिपूर्वक लषन् कान्तौ
वृणीते–वृङ्श् संभक्तौ
अभिसरति–अभिपूर्वक सृं गतौ
मुञ्चते–मृच्लृंन्ज् मोक्षणे
स्पृहयति–स्पृहण् ईप्सायाम्
ईक्षते–ईक्षङ् दर्शने
परिहरति–परिपूर्वक हृंन् हरणे
गृह्णाति–ग्रहन्श् उपादाने

श्लो.३४

आदत्ते–आङ्पूर्वक डुदांन्क् दाने
वसति–वसं निवासे
व्रजति–वज्र गतौ
भजति–भजंन् सेवायाम्

श्लो.३५

जिघृक्षति–ग्रहन्श् उपादाने, इच्छार्थक

श्लो.३८

व्रजन्ति–व्रज गतौ
समुल्लसन्ति–सम्+उत्पूर्वक लस श्लेषणक्रीडनयोः
अध्यास्ते–अधिपूर्वक आसङ्क् उपवेशने
इयर्त्ति–ऋंक् गतौ
याति–यांक् गतौ
प्रणश्यति–प्रपूर्वक णशूच् अदर्शने
संनिदधते–सम्+निपूर्वक दधङ् धारणे
आबिभ्रते–आङ्पूर्वक डुभृंन्क् पोषणे च

श्लो.३९

हरति–हृंन् हरणे
लुम्पते–लुप्लृंन्ज् छेदने
उपचिनोति–उपपूर्वक चिंन्त् चयने
आतनोति–आङ्पूर्वक तनुन्व् विस्तारे
नमयति–नमः करोति, नामधातु
हन्ति–हनंक् हिंसागत्योः
रचयति–रचण् प्रतियत्ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लो.४०

तोयति–तोयमिवाचरति, नामधातु
स्रजति–स्रगिवाचरति, नामधातु
सारङ्गति–सारङ्ग इवाचरति, नामधातु
अश्वति–अश्व इवाचरति, नामधातु
उपलति–उपल इवाचरति, नामधातु
पीयूषति–पीयूषमिवाचरति, नामधातु
उत्सवति–उत्सव इवाचरति, नामधातु
प्रियति–प्रिय इवाचरति, नामधातु
क्रीडातडागति–क्रीडातडाग इवाचरति, नामधातु
स्वगृहति–स्वगृहमिवाचरति, नामधातु

श्लो.४४

तृप्यति–तृपूच् तृप्तौ
संतुष्यति–सम्पूर्वक तुषंच् तुष्टौ
मनुते–मनुङ्व् बोधने
याति–यांक् गतौ
विदधामि–विपूर्वक डुधांन्क् धारणे च

श्लो.४५

उन्मूल्यताम्–उत्पूर्वक मूल प्रतिष्ठायाम्, मूलण् रोहणे, भावकर्म

श्लो.४६

फलति–फल निष्पत्तौ
भजति–भजंन् सेवायाम्
लभते–डुलभंषङ् प्राप्तौ

श्लो.४७

तनुते–तनुन्व् विस्तारे
भिनत्ति–भिदृंन्र् विदारणे
उत्सादयति–षद्लृं विशरणगत्यवसादनेषु, प्रेरणार्थक
जनयति–जनीङ्च् प्रादुर्भावे, प्रेरणार्थक
सूते–षूङ्क् प्राणिगर्भविमोचने
विधत्ते–विपूर्वक डुधांन्क् धारणे च
कृन्तति–कृतीज् छेदने
वितरति–विपूर्वक तृ प्लवनतरणयोः
व्याहन्ति–वि+आङ्पूर्वक हनंक् हिंसागत्योः
दत्ते–डुदांन्क् दाने

श्लो.४८

दहति–दहं भस्मीकरणे
उन्मथ्नाति–उत्पूर्वक मन्थश् विलोडने
क्लिश्नाति–क्लिशूश् विबाधने
विघटयति–विपूर्वक घटषङ् चेष्टायाम्, प्रेरणार्थक
उल्लासयति–उत्पूर्वक लस श्लेषण-क्रीडनयोः, प्रेरणार्थक

श्लो.४९

आविर्भवति–आविस् इति अव्ययपूर्वक भू सत्तायाम्
अस्ति–असक् भुवि
वहति–वहंन् प्रापणे
परिहर–परिपूर्वक हृंन् हरणे

श्लो.५०

जनयति–जनीङ्च् प्रादुर्भावे, प्रेरणार्थक

श्लो.५१

विलुम्पति–विपूर्वक लुप्लृंन्ज् छेदने
नयति–णींन् प्रापणे
प्रोज्जासयति–प्र+उत्पूर्वक जसुण् हिंसायाम्
हन्ति–हनंक् हिंसागत्योः

श्लो.५२

मुष्णाति–मुषश् स्तेये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नयस्व–णींन् प्रापणे

श्लो.५३

मुञ्च–मुच्लृंन्ज् मोक्षणे

श्लो.५४

आचरन्ति–आङ्पूर्वक चर भक्षणे च
वञ्चयति–वञ्चु गतौ, प्रेरणार्थक

श्लो.५५

कुरुते–डुकृंन् करणे
ईक्षते–ईक्षङ् दर्शने

श्लो.५६

उज्जिहीते–उत्पूर्वक ओहांङ्क् गतौ
जीर्यति–जृष्च् वयोहानौ

श्लो.५७

अटन्ति–अट गतौ
क्रामन्ति–क्रमु पादविक्षेपे
गाहन्ते–गाहूङ् विलोडने
कुर्वते–डुकृंन् करणे
सेवन्ते–षेवृङ् सेवने
सर्पन्ति–सृप्लृं गतौ

श्लो.५८

पराभूयताम्–परापूर्वक भू सत्तायाम् भावकर्म

श्लो.५९

लभते–डुलभंषङ् प्राप्तौ

श्लो.६०

बिभ्रते–डुभृंन्क् पोषणे च

श्लो.६१

विदधाति–विपूर्वक डुधांन्क् धारणे च
आवहसि–आङ्पूर्वक वहंन् प्रापणे
दिशसि–दिशंन्ज् दाने

श्लो.६३

शोभते–शुभङ् दीप्तौ

श्लो.६४

ब्रूते–ब्रूंन्क् व्यक्तायां वाचि
वक्ति–वचंक् भाषणे
वहते–वहंन् प्रापणे
धत्ते–डुधांन्क् धारणे च
करोति–डुकृंन् करणे
उज्झति–उज्झज् उत्सर्गे
उल्लङ्घयति–उत्पूर्वक लघिङ् भोजननिवृत्तौ च, प्रेरणार्थक
रचयति–रचण् प्रतियत्ने

श्लो.६५

वाञ्छति–वाछि इच्छायाम्
आकाङ्क्षति–आङ्पूर्वक काङ्क्षि कांक्षायाम्

श्लो.६६

हरति–हृंन् हरणे
भिन्ते–भिदृंन्र् विदारणे
करोति–डुकृंन् करणे
वितरति–विपूर्वक तृ प्लवनतरणयोः
सूते–षूङ्क् प्राणिगर्भविमोचने
तनोति–तनुन्व् विस्तारे
प्रथयति–प्रथषङ् प्रख्याने, प्रेरणार्थक
धत्ते–डुधांन्क् धारणे च
व्यपोहति–वि+अपपूर्वक ऊहङ् वितर्के
जनयति–जनीङ्च् प्रादुर्भावे, प्रेरणार्थक

श्लो.६७

समीहसे–सम्पूर्वक ईहङ् चेष्टायाम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अङ्गीकुरु–अनङ्गम् अङ्गं करोति, च्विप्रत्ययान्त

श्लो.६८

हिमति–हिममिवाचरति, नामधातु
चण्डानिलति–चण्डानिल इवाचरति, नामधातु
द्विरदति–द्विरदवदाचरति, नामधातु
वज्रति–वज्रवदाचरति, नामधातु
समिधति–समिधिवाचरति, नामधातु
कन्दति–कन्द इवाचरति, नामधातु

श्लो.६९

शूकलाश्वायते–शूकलाश्व इवाचरति, नामधातु
कृष्णसर्पायते–कृष्णसर्प इवाचरति नामधातु
कुठारायते–कुठार इवाचरति, नामधातु
भव–भू सत्तायाम्

श्लो.७०

नयति–णींन् प्रापणे
विघटयति–विपूर्वक घटषङ् चेष्टायाम्, प्रेरणार्थक
आधत्ते–आङ्पूर्वक डुधांन्क् धारणे च
तनुते–तनुन्व् विस्तारे
विदलयति–विपूर्वक दल विशरणे, दलण् विदारणे, प्रेरणार्थक
दत्ते–डुदांन्क् दाने
कुरु–डुकृंन् करणे

श्लो.७१

धत्ताम्–डुधांन्क् धारणे च
उज्झतु–उज्झज् उत्सर्गे
अभ्यस्यताम्–अभिपूर्वक असुच् क्षेपणे, भावकर्म
अस्तु–असक् भुवि
उपादत्ताम्–उप+आङ्पूर्वक डुदांन्क् दाने
तप्यताम्–तपं सन्तापे, भावकर्म
अवैति–अवपूर्वक इंण्क् गतौ
जानीत–ज्ञांश् अवबोधने

श्लो.७३

गच्छति–गम्लृं गतौ
विष्कम्भते–विपूर्वक स्कभिङ् स्तम्भे
पुष्यति–पुषंच् पुष्टौ
दत्ते–डुदांन्क् दाने
चुम्बति–चुबि वक्त्रसंयोगे
नयति–णींन् प्रापणे
परिभ्राम्यति–परिपूर्वक भ्रमुच् अनवस्थाने

श्लो.७४

स्पृहयन्ति–स्पृहण् ईप्सायाम्
मुष्णन्ति–मुषश् स्तेये
गृह्णन्ति–ग्रहन्श् उपादाने
भस्मीकरोति–अभस्म भस्म करोति, च्विप्रत्ययान्त
प्लावयते–प्लुंङ् गतौ, प्रेरणार्थक
हरन्ते–हृंन् हरणे
नयन्ति–णींन् प्रापणे

श्लो.७५

रचयन्ति–रचण् प्रतियत्ने
आयान्ति–आङ्पूर्वक यांक् गतौ
विदधति–विपूर्वक डुधांन्क् धारणे च
विदन्ति–विदक् ज्ञाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुर्वन्ति–डुकृंन् करणे

श्लो.७६

सर्पति–सृप्लृं गतौ
धत्ते–डुधांन्क् धारणे च
उज्जासयति–उत्पूर्वक जसुण् हिंसायाम्

श्लो.७७

चिनुते–चिंन्त् चयने
तनोति–तनुन्व् विस्तारे
नयति–णींन् प्रापणे
पुष्णाति–पुषश् पुष्टौ
प्रबलयति–प्रपूर्वक बल प्राणन-धान्यावरोधयोः, प्रेरणार्थक
उल्लासयति–उत्पूर्वक लस श्लेषण-क्रीडनयोः, प्रेरणार्थक
कन्दलयति–कन्दलं करोति, नामधातु
दलयति–दल विशरणे, दलण् विदारणे, प्रेरणार्थक
ददाति–डुदांन्क् दाने
आतनोति–आङ्पूर्वक तनुन्व् विस्तारे

श्लो.७८

ईक्षते–ईक्षङ् दर्शने
भजते–भजंन् सेवायाम्
आलम्बते–आङ्पूर्वक लबिङ् अवस्रंसने च
अभिलषते–अभिपूर्वक लषन् कान्तौ
आस्कन्दति–आङ्पूर्वक स्कन्दृं गतिशोषणयोः
आद्रियते–आङ्पूर्वक दृङ्ज् आदरे
दुनोति–टुदुंन् उपतापे
क्लिश्नन्ति–क्लिशूश् विबाधने
वितरति–विपूर्वक तृ प्लवनतरणयोः

श्लो.७९

कामयते–कमुङ् कान्तौ
मृगयते–मृगङ्ण् अन्वेषणे
आलोकते–आङ्पूर्वक लोकृङ् दर्शने
चुम्बति–चुबि वक्त्रसंयोगे
सेवते–षेवृङ् सेवने
आलिङ्गति–आङ्पूर्वक लिगि गतौ
अभ्युपैति–अभि+उपपूर्वक इंण्क् गतौ
वृणुते–वृन्त् वरणे
वाञ्छति–वाछि इच्छायाम्
प्रयच्छति–प्रपूर्वक दांम् दाने

श्लो.८०

वपति–टुवपंन् बीजसन्ताने

श्लो.८२

कुर्वीत–डुकृंन् करणे

श्लो.८३

विघटते–विपूर्वक घटषङ् चेष्टायाम्
कुर्वते–डुकृंन् करणे
शाम्यति–शमुच् उपशमे
दाम्यति–दमुच् उपशमे
उत्सर्पति–उत्पूर्वक सृप्लृं गतौ
उन्मीलन्ति–उत्पूर्वक मील निमेषणे
कलयति–कलण् संख्यानगत्योः
भवति–भू सत्तायाम्

श्लो.८५

स्यात्–असक् भुवि

श्लो.८७

ज्ञीप्सति–ज्ञांश् अवबोधने, इच्छार्थक
ईप्सति–आप्लृंत् व्याप्तौ, इच्छार्थक
धित्सति–डुधांन्क् धारणे च, इच्छार्थक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भित्सति–भिदृंन्र् विदारणे, इच्छार्थक
दित्सति–दोंच् अवखण्डने, इच्छार्थक
आदित्सते–आङ्पूर्वक डुदांन्क् दाने, इच्छार्थक
चिकीर्षति–डुकृंन् करणे, इच्छार्थक
लिप्सते–डुलभंषङ् प्राप्तौ, इच्छार्थक
परिरिप्सते–परिपूर्वक रभंङ् राभस्ये, इच्छार्थक
भावयेद्–भू सत्तायाम्, प्रेरणार्थक

श्लो.८८

भजत–भजंन् सेवायाम्

श्लो.९०

भव–भू सत्तायाम्

श्लो.९१

नयते–णींन् प्रापणे

श्लो.९२

स्यात्–असक् भुवि
स्फुरति–स्फुरज् स्फुरणे

श्लो.९३

विलभते–विपूर्वक डुलभंषङ् प्राप्तौ

श्लो.९५

विरचय–विपूर्वक रचण् प्रतियत्ने
प्रापय–प्रपूर्वक आप्लृंत् व्याप्तौ, प्रेरणार्थक
जनय–जनीङ्च् प्रादुर्भावे, प्रेरणार्थक
नय–णींन् प्रापणे
दलय–दल विशरणे, दलण् विदारणे, प्रेरणार्थक
कलय–कलण् संख्यानगत्योः
शृणु–श्रुंत् श्रवणे
वृणु–वृन्त् वरणे

श्लो.९६

कुरु–डुकृंन् करणे

श्लो.९७

प्रसरति–प्रपूर्वक सृं गतौ
याति–यांक् गतौ
कलयति–कलण् संख्यानगत्योः

श्लो.९९

अकार्षीः–डुकृंन् करणे
प्रथयति–प्रथषङ् प्रख्याने, प्रेरणार्थक
प्रभवति–प्रपूर्वक भू सत्तायाम्

श्लो.१००

अपाकरोति–अप+आङ्पूर्वक डुकृंन् करणे
एति–इंण्क् गतौ

श्लो.१०१

अभजत–भजंन् सेवायाम्
व्यरचि–विपूर्वक रचण् प्रतियत्ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोश-विमर्श

श्लो.	शब्द	अर्थ	प्रमाण	प्रमाणसंख्या
१	सिन्दूरम्	सिन्दूर	सिन्दूरं नागजं नागरक्तं..	अभि.चि.४।१२७
	अटवी	जंगल	अरण्यमटवी सत्रं....	४।१७६
	कुङ्कुमम्	कुंकुम	वाह्लीकं कुङ्कुमं.....	३।३०९
	पल्लवः	नया पत्ता	...किसलं पल्लवोऽत्र तु	४।१८९
७	तरलितः	कम्पित	प्रेङ्खोलितं तरलितं....	६।११६
८	उपरमम्	निवृत्ति	निवृत्तिः स्यादुपरमो...	६।१५८
	निर्वृत्तिः	मोक्ष	निर्वाणं ब्रह्म निर्वृतिः	१।७४
११	आतङ्कः	भय अथवा	भयं भीर्भीतिरातङ्क...	२।२१५
		रोग	रोगो रुजा रुगातङ्को...	३।१२६
	चकितः	भयभीत	दरितश्चकितो भीतो...	३।२९
१३	अवद्यम्	पाप	अवद्यं काण्डकुत्सिते	६।७८
१९	पण्यम्	बेचने योग्य वस्तु	पणितव्यं तु विक्रेयं पण्यं....	३।५३५
	आपणः	दूकान	हट्टो विपणिरापणः	४।६८
२०	कृती	विद्वान्	ज्ञः प्राप्तरूपकृति...	३।५
२४	वाचस्पतिः	बृहस्पति	वाचस्पतिर्द्वादशार्चिः...	२।३२
२६	तरणिः	सूर्य	मार्तण्डस्तरणिः...	२।९
	समार्चिः	अग्नि	विभावसुः समोदर्चिः	४।१६६
२९	संवननम्	वश में करना	संवननं वशक्रिया	६।१३४
३५	प्रधनम्	कलह	आस्कन्दनाजिप्रधनान्यनीक..	३।४६१
३७	पटहः	नगाडा	पटहाडम्बरौ तुल्यौ	३।४६३
४०	क्ष्वेडः	विष	विषः क्ष्वेडो रसस्तीक्ष्णं...	४।२६१
४३	प्रत्यर्थी	शत्रु	प्रत्यर्थ्यमित्रावभिमात्यराती	३।३९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लो	शब्द	अर्थ	प्रमाण	प्रमाणसंख्या
	खनिः	खान	स्यादाकरः खनिः खानि....	४।१०२
४५	निषूदनम्	मारना	निर्वापणालम्भनिषूदनानि	३।३५
	सब्रह्मचारी	सहपाठी	एकब्रह्मव्रताचारा मिथः स्युर्ब्रह्मचारिणः	१।८०
४७	कलिः	कलह, लड़ाई	युद्धं तु सङ्ख्यं कलिः	३।४६०
४८	विधुन्तुदः	राहु	स्वर्भाणुस्तु विधुन्तुदः	२।३५
५०	आलानम्	हाथी बांधने का खंभा	आलानं बन्धस्तम्भः ...	४।२९६
५१	कैरविणीम्	कमलिनी	कैरविण्यां कुमुदवती	४।२२९
५६	प्रतारणम्	ठगना	वञ्चनं तु प्रतारणम्	३।४३
	परायणः	तत्पर	प्रसितश्च परायणः	३।४९
	आयतिः	उत्तरकाल	आयतिस्तूत्तरः कालः	२।७६
	आमयः	रोग	आम आमय आकल्यम्	३।१२६
५७	घटा	हाथियों का झुंड	बहूनां घटना घटा	४।२८९
६१	प्रासः	भाला	भिन्दिपाले सृगः कुन्ते प्रासोः...	३।४४९
६२	श्वःश्रेयसम्	कल्याण	श्वःश्रेयसं शुभशिवे	१।८६
६३	श्वयथुः	सूजन	शोथस्तु श्वयथुः शोफे	३।१३२
६९	शुभंयुः	कल्याणयुक्त	शुभंयुः शुभसंयुक्तः	३।९७
७०	करणम्	इन्द्रिय	हृषीकमक्षं करणं स्रोतः...	६।१९
	निकुरम्बम्	समूह	समवायो निकुरम्बं....	६।४८
७२	धुरीणम्	मुख्य	धुरीणधुर्यधौरेयः...	४।३२८
	अलङ्कर्मीणम्	काम में समर्थ	कर्मक्षमाऽलङ्कर्मीणः....	३।१८
	सर्वान्नीनम्	सर्वभक्षी	उदरपिशाचः सर्वान्नीनः...	३।९२
	अत्यन्तीनम्	अधिक चलने वाला	अत्यन्तीनोऽत्यन्तगामिनि	३।१५९
	यथाकामीनम्	स्वेच्छाचारी	यथाकामी स्वरुचिश्च...	३।१९
	अध्वनीनम्	पथिक	अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः...	३।१५७
७५	चटु	खुशामदी	चटु चाटु प्रियप्रायं...	२।१७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लो	शब्द	अर्थ	प्रमाण	प्रमाणसंख्या
७८	दरः	भय	आशङ्का साध्वसं दरः	२।२१५
७९	संहतिः	समूह	पुञ्जोत्करौ संहतिः	६।४७
८२	कुलिशम्	वज्र	व्याधामः कुलिशो...	२।१५
८६	विष्वग्	सब ओर	परितः सर्वतो विष्वक्...	६।१६५
८८	वागुरा	मृगजालिका	वागुरा मृगजालिका...	३।५१२
९२	वरिवस्या	सेवा	शुश्रूषाराधनोपास्तिवरिवस्या	३।१६०
९३	अनाविलम्	शुद्ध	अवदातमनाविलम्	६।७२
९५	त्रिसन्ध्यम्	प्रातः आदि तीनों समय	त्रिसन्ध्यं तूपवैणवम्	२।५४
	जवः	शीघ्र	जवो वाजः प्रसरश्च	३।१५९
१००	सोमः	चन्द्रमा	सोमोऽमृतश्वेतहिमद्युतिर्ग्लौः	२।१९
	अर्यमा	सूर्य	आदित्यः सवितार्यमा	२।९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा विभाग

दिशावबोध

प्रस्तुत विभाग में काव्य के प्रत्येक
विषय का दिग्दर्शन देने वाला
अवबोध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवबोध-निर्देशिका

अवबोधसं.	विषय	पृष्ठसं.
१.	मंगलाचरण	७९
२.	ग्रन्थकर्ता का आवेदन	८३
३.	धर्म की प्रधानता	८६
४.	मनुष्यजन्म की दुर्लभता	९२
५.	इक्कीस प्रकरण	९९
६.	जिनपूजन प्रकरण	१०२
७.	गुरु का महत्त्व	१०६
८.	जिनमत प्रकरण	११२
९.	संघ प्रकरण	११५
१०.	अहिंसा प्रकरण	११९
११.	सत्य प्रकरण	१२४
१२.	अस्तेय प्रकरण	१३३
१३.	शील प्रकरण	१३७
१४.	परिग्रहत्याग प्रकरण	१४५
१५.	क्रोधत्याग प्रकरण	१५२
१६.	मानत्याग प्रकरण	१६१
१७.	मायात्याग प्रकरण	१६६
१८.	लोभत्याग प्रकरण	१७३
१९.	सौजन्य प्रकरण	१८०
२०.	गुणिसंग प्रकरण	१८६
२१.	इन्द्रियदमन प्रकरण	१९१
२२.	लक्ष्मीस्वभाव प्रकरण	१९८
२३.	दान प्रकरण	२०४
२४.	तप प्रकरण	२१०
२५.	भावना प्रकरण	२१६
२६.	वैराग्य प्रकरण	२२३
२७.	सामान्योपदेश	२२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१.अवबोध

व्यक्तित्व और कर्तृत्व का एक समवाय है—व्यक्ति। व्यक्ति-विकास में व्यक्तित्व भी निमित्त बनता है और कर्तृत्व भी । व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारने वाला कर्तृत्व ही मुख्यरूप से सहायक होता है। जब व्यक्तित्व के दीवट पर कर्तृत्व का दीपक जलता है तब व्यक्ति का व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है, वह पूर्णरूपेण प्रकाशित हो जाता है। जब कर्तृत्व मुखर होता है तब अनेक परिस्थितियां और विघ्न-बाधाओं के आने की संभावना बनी रहती है। मनुष्य सदा अपने आपको परिस्थितियों से बचाने का प्रयास करता है, विघ्न-बाधाओं के निवारण का उपाय खोजता है। वह अपने पौरुष और श्रम को तभी सार्थक और सफल मानता है जब उसका प्रारब्ध कार्य निष्पत्ति तक पहुंच जाता है। कार्य अपने आप में छोटा या बड़ा नहीं होता। कार्य की सानन्द संपन्नता ही कार्य की सबसे बड़ी सफलता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य कार्य का प्रारंभ करने से पूर्व उसकी सफलता पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। सफलता के मुख्यतया तीन बिन्दु हैं—

- प्रारब्ध कार्य की निरापद संपन्नता।
- कार्य की निरन्तर गतिशीलता।
- विघ्न-बाधाओं आदि का निरसन।

आचार्य सोमप्रभ ने अपनी लघुकृति 'सूक्तिमुक्तावली' का प्रारंभ मंगलाचरण से किया है। यह कृति अपर नाम 'सिन्दूरप्रकर' से प्रसिद्ध है। अभीष्ट सिद्धि के लिए मंगलाचरण एक मन्त्र भी है और शुभकार्य के लिए की जाने वाली मंगलकामना का भी द्योतक है। कृतिकार सूरीश्वर ने अपनी गहन आस्था को भगवान पार्श्वनाथ के प्रति अभिव्यक्त किया है। भगवान पार्श्व जैन परम्परा में होने वाले इस युग के तेईसवें तीर्थंकर हैं। उनका नाम मन्त्राक्षरसम है। उनकी शरण स्वयं मंगल है। जो स्वयं मंगल होता है वही दूसरों को मंगल दे सकता है, वही दूसरों की विघ्नबाधाओं को दूर कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य सोमप्रभ ने अभिवन्दना के स्वरों में प्राणिमात्र के कष्टनिवारण हेतु लिखा है—'आपके चरणनखों की अत्यधिक आभा तुम्हारी अर्थात् प्राणिमात्र की रक्षा करे।' प्रश्न हो सकता है कि चरणनखों का ही आलम्बन क्यों? शरणागत में आने वाला सर्वप्रथम पैरों में ही लुठता है। इसलिए पैर ही शरणागत का आलम्बन बनता है। वैज्ञानिकदृष्टि से पैरों का विश्लेषण करें तो शरीर के कुछेक अवयव ऐसे हैं, जिनसे प्राण-ऊर्जा का निर्गमन बहुत अधिक होता है। उनमें मुख्यतया हाथ, पैर, वाणी और चक्षु हैं। जैन परम्परा में पाद-विहार की परम्परा है। भूमि के साथ पैरों का सीधा संपर्क होता है। पैरों की एड़ियां भूमि से विद्युत् ग्रहण कर सारे शरीर को पहुंचाती हैं। एक्यूप्रेशर के सिद्धान्त से भी पैरों के महत्त्व को समझा जा सकता है। इस शरीर में थाइरॉइड् ग्लैण्ड् (Thyroid Gland), पिच्यूटरि ग्लैण्ड् (Pituitary Gland) तथा पिनियल ग्लैण्ड् (Pineal Gland) आदि अनेक ग्लैण्ड् विद्यमान हैं। पर पैर में भी इन ग्लैण्डों के संवादी केन्द्र विद्यमान हैं। जिस आंख से देखा जाता है, कान से सुना जाता है उनके संवादी केन्द्र भी मनुष्य के पैर में हैं। जितने भी केन्द्र मस्तिष्क में विद्यमान हैं उन सबके संवादी केन्द्र पैरों के अंगूठे और अंगुलियों में पाए जाते हैं। शरीर का ऐसा एक भी अवयव नहीं है जिसका संवादी केन्द्र पैर में न हो। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि पैर तथा पैर का अंगूठा या अंगुलियां इतनी अधिक शक्तिशाली हैं कि वे पूरे शरीर का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। एक्यूप्रेशर (Accupressure) से अस्वास्थ्य की समस्याओं का भी निराकरण होता है। नंगे पैर भूमि पर चलने से स्वतः ही पैर के पॉइन्टों पर दबाव पड़ता है। जिस पॉइन्ट का जिस रोग से संबंध होता है वह पॉइन्ट सम्यक् प्रकार से दबने पर उस रोग की चिकित्सा हो जाती है। पैरों का यह मूल्यांकन शारीरिक तथा स्वास्थ्यस्तर पर किया गया है।

आचार्य सोमप्रभ ने पैरों का मूल्यांकन आध्यात्मिक दृष्टि से किया है। पैर आध्यात्मिक यात्रा के प्रतीक हैं, संयम यात्रा के प्रतीक हैं। कैसे चलें? जिससे पापकर्मों का बन्ध न हो। भगवान पार्श्व उस संयम यात्रा के प्रतीक हैं, वीतराग पुरुष हैं। उनकी चेतना भवबीज को उत्पन्न करने वाले रागद्वेष से मुक्त है। वे पूर्णतया विशुद्ध और पवित्रात्मा हैं। ऐसे पवित्रात्मा के चरणों की शरण लेना स्वयं के लिए सुरक्षा कवच का निर्माण करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरणागत के लिए भगवान के पैरों का स्पर्श करना और उसमें भी अंगूठे और अंगुलियों का स्पर्श करना अति प्रभावकारी और चमत्कारी होता है। आज के वैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य के अंगूठे और अंगुलियों के आभामण्डल (Aura) का फोटो लिया जा सकता है। भगवान की चेतना स्फटिक की भांति निर्मल और पारदर्शी होती है। उनका आभावलय बहुत ही शक्तिशाली और तेजस्वी होता है। जब व्यक्ति अपना सिर उनके पैरों में झुकाता है तो वह उनकी आभा से प्रभावित होता है। भगवान का चुम्बकीय आकर्षण उसे अपने प्रभावक्षेत्र में ले लेता है और तब होता है–ईप्सित रूपान्तरण।

भारतीय साधना-पद्धति में शक्तिपात का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा है। हाथ और पैर—दोनों विद्युत्-ऊर्जा निर्गमन के शक्तिशाली स्रोत हैं। सिर उस ऊर्जा को ग्रहण करने का माध्यम है। शिष्य गुरु के पास जाता है। गुरु-चरणों में सिर झुकाकर वन्दन करता है। गुरु उसके मस्तक पर अपना हाथ रखते हैं। गुरु के हाथ-पैर से संक्रान्त होने वाली ऊर्जा शिष्य के मस्तक में प्रविष्ट होती है। यही शक्तिपात का रहस्य है। भगवान के चरण-कमल भी उसी ऊर्जा के संवाहक है।

पैरों में प्रणत होने का दूसरा अर्थ है—स्वयं के अहंकार को दूसरों में विलीन कर देना। वह विनम्रता के बिना नहीं हो सकता। जो व्यक्ति झुकना जानता है वही वस्तुतः विनम्रता की साधना कर सकता है, उसे कभी अहंकार का नाग नहीं डसता। अहंकार ही व्यक्ति को भवभ्रमण कराने वाला है। जो व्यक्ति उससे मुक्त होता है अथवा जिसका अहंकार भगवान के चरणों में विसर्जित हो जाता है तो भगवान के चरण भी उसको जन्म-मरण से उबार लेते हैं, वे उसकी रक्षा करते हैं।

भगवान के चरणों के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए ग्रंथकार कहते हैं—उनके चरणनख अत्यधिक रक्ताभवर्ण आभा वाले हैं। आभा शरीर से निःसृत होने वाला सहज सौन्दर्य है। वह आभा भी रक्ताभवर्ण वाली है। उसकी तुलना आचार्य सोमप्रभ ने सिन्दूर, अग्निज्वाला, सूर्योदय, कुंकुम तथा वृक्ष के नवपल्लवों से की है। सहज ही मन में प्रश्न उभरता है कि सौन्दर्य तो मन को लुभाने वाला होता है, रंग का उसके साथ जुड़ना व्यक्ति के लिए किस प्रकार रक्षाकारक हो सकता है? यह सत्य है कि प्रथम दर्शन में व्यक्ति बाहरी सौन्दर्य से ही प्रभावित होता है। भगवान का वह बाह्य सौन्दर्य भी आन्तरिक सौन्दर्य का ही प्रतिबिम्ब है। क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान वीतराग चेतना से युक्त हैं। जब चेतना सब प्रकार की विकृति या विजातीय तत्त्व से मुक्त होती है तो उस पारदर्शिता तथा विशुद्ध लेश्या का प्रभाव भी शरीर पर घटित होता है। उसी भावधारा के कारण उनका सारा शरीर रश्मिमय हो जाता है। उनके रोम-रोम और अणु-अणु से सहज कान्ति टपकती है। व्यक्ति उस सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है। भगवान के सौन्दर्य के साथ रक्ताभवर्ण का होना मणिकांचन योग है। रंग-चिकित्सा में रंगों का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रत्येक रंग अपना प्रभाव अवश्य छोड़ता है। नारंगी रंग उत्साह, सृजन, प्रसन्नता, जीवन के सूक्ष्म रहस्यों को खोजने वाला, समर्पण और सबसे अधिक सुरक्षा का प्रतीक माना जाता है। शायद आचार्य ने सुरक्षा की दृष्टि से भगवान के चरणों को रक्ताभवर्ण के रूप में दर्शाया है।

आज के शरीरशास्त्री मानते हैं कि दोनों आंखों और भृकुटियों के बीच पिच्यूटरि ग्लैण्ड् का स्थान है। योग की भाषा में इसे तृतीय नेत्र कहा गया है। प्रातिभज्ञान और अतीन्द्रिय क्षमताओं के जागरण के लिए प्रेक्षाध्यान पद्धति में दर्शन केन्द्र पर नारंगी रंग अथवा उगते हुए बाल सूर्य का ध्यान करना तृतीय नेत्र को जाग्रत करता है। संभवतः भगवान के चरणों में झुकने वाला केवल उनकी प्राण-ऊर्जा का ही ग्रहण नहीं करता, अपितु अपनी चेतना का रूपान्तरण भी करता है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—

- भगवान के चरण रक्षा के प्रतीक हैं, वे प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं।
- वे चेतना का रूपान्तरण करते हैं।
- वे अतीन्द्रिय क्षमताओं का जागरण करते हैं।

इसी उद्देश्य से कहा गया— 'प्रभु पार्श्व के चरणनख की आभा तुम्हारी रक्षा करे'।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२.अवबोध

संस्कृत का एक सुन्दर सूक्त है—**'प्रयोजनमन्तरेण न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'** बिना प्रयोजन के मन्द व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब मन्द व्यक्ति भी निष्प्रयोजन कोई प्रवृत्ति नहीं करना चाहता तो बुद्धिमान् कहलाने वाला व्यक्ति अकारण उसमें क्यों प्रवृत्त होगा?

यह एक सचाई है कि प्रत्येक कार्य के साथ व्यक्ति की अपनी एक कामना जुड़ी हुई है। वह कामना, आकांक्षा, अभिलाषा अथवा प्रयोजन ही व्यक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। उस कामना या प्रयोजन से ही प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वह प्रयोजन स्वयं की यशप्राप्ति का हो सकता है, प्रतिष्ठा का हो सकता है, अपने आपको आगे लाने का हो सकता है अथवा स्वयं के विकास या स्वसन्तोष के लिए भी हो सकता है। प्रयोजन के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उसके आधार पर कार्य भी अनेक शाखाओं में बंट जाता है। किसी का कार्यक्षेत्र साहित्यलेखन है तो किसी का प्रचार-प्रसार। किसी का कार्यक्षेत्र सेवा है तो किसी का धर्मोपदेश। कोई सामाजिक क्षेत्र में काम करता है तो कोई सार्वजनिक क्षेत्र में। कोई नैतिक मूल्यों के विकास के लिए कार्यरत है तो कोई अन्यान्य धार्मिक प्रवृत्तियों में।

आचार्य सोमप्रभ एक धर्माचार्य हैं, जैनाचार्य हैं। उनके साथ धर्म-आराधना, धर्म-प्रचार, धर्मोपदेश तथा साहित्य-साधना आदि अनेक प्रवृत्तियां जुड़ी हुई हैं। प्रस्तुत कृति 'सिन्दूरप्रकर' उनकी साहित्य-साधना का एक पुष्प है। साहित्य का निर्माण करना एक बात है, उसकी मूल्यवत्ता, गुणवत्ता का अंकन होना भिन्न बात है। जब तक ग्रन्थ का सही मूल्यांकन नहीं होता तब तक ग्रन्थकार को अपनी कृति पर सन्तोष नहीं होता कि उनकी कृति कैसी बनी है? ग्रन्थकार सूरीश्वर सोमप्रभ के मन में एक कामना और भावना है कि उनका यह ग्रन्थ विद्वज्जनों के लिए समादरणीय-समीक्षणीय बने। इसलिए उन्होंने बड़े ही विनम्र शब्दों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समालोचक सन्तपुरुषों के सामने अपनी भावना को प्रस्तुत करते हुए कहा है—**'सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचां विचारोद्यताः।'** यदि मेरी कृति में कुछ गुण और विशेषताएं हैं, यदि मेरी कृति सन्तपुरुषों को पसन्द है तो वे मेरे पर प्रसन्न मन वाले हों। अपनी बात उन्हीं लोगों के सामने रखी जाती है, जो उस बात को उचित सम्मान दे सकें और समीक्षा भी उन्हीं लोगों से कराई जाती है जो तटस्थ बुद्धि से समीक्षा कर सकें। भैंस के आगे बीन बजाने से क्या? अरण्यरुदन से भी क्या? उचित-अनुचित का विवेक तो सन्तपुरुष ही कर सकते हैं। जैसे स्वर्णकार स्वर्ण को निकष पर कसकर उसके असली-नकली रूप का विवेक करता है, जौहरी रत्न को परख कर उसके मूल्य का निर्धारण करता है वैसे ही समालोचक काव्य-ग्रन्थ की समालोचना काव्य के पेरामीटरों के आधार पर कर उसकी गुणवत्ता का मूल्यांकन करते हैं।

ग्रन्थकार आचार्यदेव अपनी अभ्यर्थना को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं—पानी का कार्य कमलों को उत्पन्न करना है, न कि उनके परिमल अथवा सौरभ को फैलाना। उसको फैलाने का कार्य पवन करता है। यदि वह अवरुद्ध हो जाए अथवा वह परिमल को फैलाने का कार्य न करे तो कमलों की सुगन्ध चारों ओर कभी नहीं फैल सकती। विद्वज्जन पवन के समान होते हैं। मैंने केवल ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ की गुणवत्ता, विशेषता तथा मूल्यवत्ता को विस्तार देना, उसको फैलाने का कार्य तो सज्जनपुरुष-विद्वज्जन ही कर सकते हैं। वे ही इसमें सहयोगी बन सकते हैं।

पुनः ग्रन्थकार अपनी इस अभ्यर्थना पर थोड़ा संकोच का भी अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं—कहीं मैं विद्वज्जनों के सम्मुख अभ्यर्थना कर भूल तो नहीं कर रहा हूं? क्या मेरी अभ्यर्थना का कोई औचित्य भी है या व्यर्थ ही मैं ऐसी बात कर रहा हूं? पुनः वे अपनी अभ्यर्थना में संशोधन कर कहते हैं—मुझे दूसरों के सामने अपना आवेदन क्यों करना चाहिए? कहीं मेरी अभ्यर्थना अहेतुक तो नहीं है? यदि मेरी काव्यरचना में गुण हैं, विशेषताएं हैं तो सन्तजन मेरी विनति के बिना ही स्वयं इसकी गुणवत्ता को स्वीकार कर इसका मूल्यांकन कर देंगे। यदि काव्य में कोई गुण अथवा विशेषता ही नहीं है तो वे इसका विस्तार क्यों करेंगे? यदि करेंगे भी तो वह ग्रन्थ-गौरव के लिए अच्छा नहीं होगा। वह यश का नाश करने वाला होगा। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**'न हि कस्तूरिकामोदः**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शपथेन विभाव्यते।' कस्तूरी की सुगन्ध शपथ के द्वारा प्रमाणित नहीं होती। वह स्वतः ही प्रकट होती है।

यदि मेरे काव्य में गुण हैं तो वे स्वतः ही प्रकट हो जाएंगे। उनको किसी प्रमाण के द्वारा प्रमाणित करने की जरूरत नहीं है। इसलिए फलश्रुति के रूप में कहा जा सकता है—

- मूल्यांकन सदा गुणों का होता है, गुणरहित का नहीं।
- गुणवत्ता की जांच के लिए की गई अभ्यर्थना का कोई औचित्य नहीं होता। वह बिना अभ्यर्थना के भी प्रकट हो जाती है।
- जिस प्रकार पानी कमल को उत्पन्न करता है और उसका परिमल फैलाने का कार्य पवन करता है उसी प्रकार ग्रन्थ का सौरभ स्वयं उसी में निहित है, किन्तु समालोचक उसको फैलाने में निमित्त बनता है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३.अवबोध

अथर्ववेद का प्रसिद्ध सूक्त है—**'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'**— मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बाएं हाथ में विजय निहित है। विजय अथवा सफलता का एकमात्र सूत्र है—पुरुषार्थ। रूपक की भाषा में पुरुषार्थ व्यक्ति से कहता है—तुम मुझे अपने हाथ में लो, मैं तुम्हें सफलता दूंगा। एक बार अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन ने कहा था—'चाहे सफलता मेरे हाथ में न हो, पर पुरुषार्थ तो मेरे हाथ में ही है।' पुरुषार्थ व्यक्ति के समक्ष है और भाग्य, सफलता अथवा विजय परोक्ष है। फिर भी मनुष्य प्रत्यक्ष को ठुकराकर अप्रत्यक्ष की कामना करता है। जहां पुरुषार्थ सो जाता है वहां मनुष्य का भाग्य भी सो जाता है। उसकी फलश्रुति होती है—अकर्मण्यता और निठल्लापन। जहां पुरुषार्थ की पूजा होती है वहां भाग्यदेवता मनुष्य की परिक्रमा करता है। इसलिए चाणक्यसूत्र में कहा गया—**'पुरुषाकारमनुवर्तते दैवम्'**—भाग्य पुरुषार्थ का अनुवर्तन करता है। इसी सन्दर्भ में कहा गया—**'क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे'**— महान् व्यक्तियों की कार्यसिद्धि पुरुषार्थ में है, बाह्य उपकरणों में नहीं।

वैयक्तिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक जीवन में सर्वत्र पुरुषार्थ का मूल्य है। पुरुषार्थ का अर्थ है—प्रयोजनसिद्धि के लिए अपनी कर्मजा शक्ति का उचित प्रयोग करना अथवा उद्योग करना। दुनिया में ऐसा एक भी कार्य नहीं है जो बिना पुरुषार्थ के सिद्ध होता हो। फिर वह चाहे लौकिक कार्य हो, चाहे वह लोकोत्तर कार्य हो। सभी में पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। भगवान महावीर ने पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हुए गणधर गौतम से कहा था—**'किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ, अभितुर पारं गमित्तए'**—हे गौतम! तुम तीर के निकट पहुंच कर क्यों खड़े हो? उस पार (मोक्ष) जाने के लिए शीघ्रता करो, पुरुषार्थ करो। इसी प्रसंग में संस्कृतकवि ने भी उचित ही कहा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।।'

उद्यम करने से हि कार्य सिद्ध होते हैं, मनोरथमात्र से नहीं। सोए हुए सिंह के मुख में मृग कभी प्रविष्ट नहीं करता। उसे भी अपनी भूख शान्त करने के लिए उद्यम—पुरुषार्थ करना पड़ता है।

अर्थशास्त्री कौटिल्य ने लिखा था—**'कर्मानुरूपः प्रयत्नः वयोऽनुरूपो वेषः।'** मनुष्य को कार्य के अनुरूप प्रयत्न—उद्यम करना चाहिए और अवस्था के अनुसार वेष रखना चाहिए।

मनुष्य वैयक्तिक जीवन ही नहीं जीता वह सामाजिक जीवन भी जीता है। भारतीय संस्कृति में जब समाज-व्यवस्था का उदय हुआ तो भारतीय मनीषियों ने उस व्यवस्था को सुन्दर, सुव्यवस्थित, सुगठित तथा सुचारुरूप से चलाने के लिए एक नए रूप और एक नए परिवेष की कल्पना की थी। वह कल्पना समाज के सामने पुरुषार्थचतुष्टयी के रूप में साकार हुई। वे चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। काम और अर्थ भौतिक जीवन से जुड़े हुए तत्त्व हैं और धर्म एवं मोक्ष अध्यात्म जीवन से। एक सामाजिक प्राणी अपनी जीवन-यात्रा काम और अर्थ से प्रारंभ करता है। एक संयमी मुनि मोक्ष के लिए धर्म का आचरण करता है। गृहस्थ और संयमी—दोनों का परम साध्य मोक्ष पुरुषार्थ है। जिज्ञासा हो सकती है कि एक संयमी मुनि मोक्ष की दिशा में पुरुषार्थ करता है उसी प्रकार एक गृहस्थ का प्रस्थान भी मोक्ष की दिशा में होना चाहिए। शेष तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ और काम से क्या प्रयोजन? यह सत्य है कि गृहस्थ और संयमी—दोनों की भूमिका में बहुत अन्तर है। एक गृहस्थ साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग को जानता हुआ भी उसमें पूर्णरूप से पुरुषार्थ नहीं कर सकता। वह काम-भोगों के कटुक परिणामों को जानता है, फिर भी वह मोहकर्म के प्राबल्य और इन्द्रियविषयों की चपलता के कारण अर्थ और काम दोनों पुरुषार्थों को छोड़ नहीं सकता। मनुष्य के लिए काम साध्य है और अर्थ उसकी पूर्ति का साधन है। काम का एक अर्थ है—कामवासना। दूसरा अर्थ है—अधिकार, संग्रह और उपभोग की इच्छा।

मनुष्य कामनाओं का पुतला है। उसके मन में प्रतिक्षण कामनाओं की तरंगें उठती रहती हैं। वह येन केन प्रकारेण उनको पूरा करने का प्रयत्न करता है। कभी उसका मन अमुक वस्तु पाने के लिए आतुर होता है, कभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अमुक वस्तु खाने के लिए ललचाता है। कभी वह देशाटन के लिए चिन्तन करता है तो कभी वह सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए साधन जुटाता है। वह सन्तान की प्राप्ति के लिए काम-भोग को भी नहीं छोड़ सकता। इस प्रकार सामाजिक जीवन में एक गृहस्थ के लिए काम और अर्थ दोनों अनिवार्य हो जाते हैं।

आचार्य सोमप्रभ ने एक गृहस्थ की अशक्यता को जानते हुए काम और अर्थ की अनिवार्यता को भी स्वीकार किया है, किन्तु उस अनिवार्यता को स्वीकार किया है, जिसमें अर्थ-काम दोनों धर्म से संयत रहते हैं, धर्म से विरुद्ध नहीं होते। क्योंकि धर्मपुरुषार्थ एक नियामक तत्त्व है। वह इन्द्रिय-निग्रह तथा मनोनिग्रह का एक साधन है। इसलिए वह काम और अर्थ दोनों पर अंकुश रखता है। इस प्रकार मनुष्य तीनों पुरुषार्थों का मिला-जुला आचरण करता है। मिला-जुला आचरण करने का तात्पर्य है कि मनुष्य न तो एकान्तरूप से अर्थार्थी होता है, न वह एकान्तरूप से कामार्थी होता है और न वह सर्वथा धर्मार्थी होता है। तीनों पुरुषार्थों का सांझा व्यापार उसके साथ चलता है।

ग्रन्थकार आचार्य ने पुरुषार्थत्रयी के अतिशय को प्रकट करते हुए कहा—**'त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।'** पुरुषार्थत्रयी के बिना मनुष्य का जीवन पशु के जीवन की भांति निष्फल है। सहज ही मन में कुछेक जिज्ञासाएं होती हैं—क्या मनुष्य-जीवन की उत्कर्षता को पुरुषार्थत्रयी ही साध सकता है? क्या उसके बिना जीवन पशु की भांति व्यर्थ होता है? अध्यात्म में निमज्जन करने वाले सूरीश्वर पुरुषार्थत्रयी की अनुमोदना कैसे कर सकते हैं? गहराई से चिन्तन करें तो आचार्य सोमप्रभ ने सत्य का उद्घाटन किया है। मनुष्य समाज में रहता है, इन्द्रिय और मन के जगत् में जीता है। इसलिए वह अर्थ-काम के पुरुषार्थ से अछूता नहीं रह सकता। अर्थ जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है और काम परिवार की परम्परा को आगे बढ़ाता है। कोरा अर्थ उन्माद को पैदा करता है, उन्मुक्त लोभ को जन्म देता है और अर्थ-संचय में असीम आकांक्षाओं को पालता है। कोरा काम उन्मुक्त भोग की समस्या को पैदा करता है, बलात्कार, यौनशोषण, हिंसाजन्य अपराधों को जन्म देता है। यदि उन दोनों पर धर्म का नियन्त्रण रहता है तो व्यक्ति में सन्तुलन बना रहता है। समाज की जो नैतिक सीमाएं हैं, आचार-विचार-व्यवहार की जो परम्पराएं हैं वे धर्म के आधार पर ही सुरक्षित रह सकती हैं। अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और काम का परिष्कार करता है धर्म। निरंकुश काम और निरंकुश अर्थ समाज-व्यवस्था को बिगाड़ने वाले हैं। उनसे न तो व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है और न समाज। इसलिए ग्रन्थकार ने गृहस्थ के उस जीवन को उत्कर्ष और सफलता का जीवन माना है, जिसमें व्यक्ति धर्म-मर्यादित होकर अपनी गृहस्थी चलाता है।

मनुष्य का जीवन पशु के जीवन के समान निष्फल होता है, यदि उसमें धर्म का प्रकाश न हो। पशु विवेक-चेतना और धर्म-चेतना—दोनों से शून्य होता है। विवेकशून्यता के कारण पशु अपना हिताहित नहीं साध सकता और धर्मशून्यता के कारण उसका क्रियाकलाप अमर्यादित रहता है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने एक गृहस्थी के लिए पुरुषार्थत्रयी की चर्चा करके एक व्यावहारिक सत्य को प्रकट किया है, उपयोगी पक्ष को प्रस्तुत किया है। उसमें उसकी अनुमोदना का भाव नहीं झलकता।

योगशास्त्र में मार्गानुसारी के लिए त्रिवर्ग की साधना को एक गुण के रूप में प्रतिपादित किया गया है—**'अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयेत्'**—मार्गानुसारी गृहस्थ परस्पर अविरोधी भाव से त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम की साधना करे।

कुछ लोगो का कथन है कि जैनधर्म में अर्थ और काम–दोनों पुरुषार्थों का कोई स्थान नहीं है। उनका यह दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है। जैन-आगम उपासकदशांगसूत्र में आनन्द, कामदेव आदि गृहस्थ श्रमणोपासकों का उल्लेख हुआ है। उन्होंने अपने जीवन में अर्थ और काम का एक सीमा के साथ उपभोग किया था। उनका जीवन सीमित परिग्रह और मर्यादित ब्रह्मचर्य की साधना से भावित था। इससे स्पष्ट है कि उन श्रावकों ने अर्थ और काम पुरुषार्थ का स्वीकरण धर्ममर्यादित होकर किया।

इस प्रकार भारतीय दर्शन की विशेषता है कि उसने भौतिकता को ही सब कुछ नहीं माना, सर्वोपरि तत्व आध्यात्मिकता को भी स्थान दिया। इसलिए मानव-जीवन में अर्थ और काम गौण है, धर्म मुख्य है। धर्म के नेतृत्व अथवा अंकुश में ही अर्थ-काम रहे, यही भारतीय धर्मों और दर्शनों का सार है। इसलिए आचार्य सोमप्रभ ने कहा—**'तत्रापि धर्म प्रवरं वन्दन्ति।'**

जहां धर्म का अंकुश है वहां काम और अर्थ भी शुद्ध रहते हैं। धर्म अर्थार्जन में अशुद्ध साधनों का निषेध करता है और काम के क्षेत्र में स्वदार सन्तोष के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को मातृवत् मानने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सलाह देता है। इसलिए धर्म के द्वारा कामशुद्धि और अर्थशुद्धि—दोनों हो जाती हैं। वहां समाज और व्यक्ति दोनों स्वस्थ रहते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में ग्रन्थकार ने कहा—**'न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ'**—धर्म के बिना अर्थ और काम भी नहीं होते। अर्थात् धर्म उनका परिष्कार अथवा शुद्धीकरण करता है। यदि धर्म ही नहीं रहा तो अर्थ और काम कैसे शुद्ध रह सकेंगे? धर्म-मर्यादित अर्थ और धर्म-मर्यादित काम एक गृहस्थ के लिए साध्योचित हो सकते हैं। इसलिए व्यासजी ने ठीक ही कहा—

'ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते?'

मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूं। फिर भी कोई मेरी बात नहीं सुनता। जब धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति अथवा शुद्धि होती है तो उस शुद्ध धर्म का सेवन मनुष्य क्यों नहीं करता?

यदि हमें स्वस्थ समाज की संरचना करनी है तो वहां धर्माचरण की बात मुख्य हो जाती है। स्वस्थ-समाज की संरचना में जैनाचार्यों की भूमिका काफी प्रशंसनीय रही और उनका योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा। काल मार्क्स आदि चिन्तनशील व्यक्तियों का अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए जितना प्रयत्न रहा शायद उतना प्रयत्न काम-व्यवस्था की समीचीनता के लिए होता तो समाज का नक्शा कोई दूसरा ही होता। वह कार्य धर्म के द्वारा ही संभव हो सकता है। निष्कर्ष की भाषा में प्रस्तुत श्लोक के कुछेक तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

- भारतीय दर्शन में पुरुषार्थचतुष्टय का निरूपण है, पर कृतिकार आचार्य ने पुरुषार्थत्रयी—धर्म, अर्थ और काम का ही प्रतिपादन किया है। हो सकता है कि मोक्ष इस युग में असाध्य—अप्राप्य है। अथवा एक गृहस्थ की भूमिका पर मोक्ष-साध्य की प्राप्ति के लिए वैसा पुरुषार्थ होना भी असंभव है, इसलिए ग्रन्थकार ने उसे अपनी चर्चा का विषय नहीं बनाया।

यही विचार **'सिन्दूरप्रकर'** ग्रन्थ के टीकाकार हर्षकीर्त्तिसूरी ने भी मान्य किया है। वे लिखते हैं—

'धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पुरुषार्थाश्चतुर्वर्गाः, तेषां मध्ये साम्प्रतम् अस्मिन् भरतक्षेत्रे मोक्षः साधयितुं न शक्यः। अतः करणात् शेषस्त्रिवर्गः धर्मार्थकामरूपः।'

प्रस्तुत प्रकरण के आधार पर कहा जा सकता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- धर्म काम और अर्थ का परिष्कार अथवा शुद्धीकरण करता है, इसलिए पुरुषार्थत्रयी में धर्म को श्रेष्ठ कहा गया है।
- धर्म के बिना अर्थ और काम नहीं होने का तात्पर्य है—उनका शुद्धीकरण और परिष्कार नहीं होना। धर्म के बिना काम का परिष्कार नहीं होता, काम के परिष्कार के बिना अर्थ का परिष्कार नहीं होता। तीनों का अन्योन्याश्रित संबंध है।
- स्वस्थ-समाज की संरचना में धर्म-नियन्त्रित काम-अर्थ की आवृत्ति महत्त्वपूर्ण है।
- नैतिक मूल्यों अथवा सामाजिक आचार-व्यवहार की प्रतिष्ठा के लिए धर्म का सर्वोपरि मूल्य है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४.अवबोध

शब्दजगत् में दो प्रकार के शब्द प्रचलित हैं—दुर्लभ और सुलभ। दुर्लभ वह होता है जिसका मिलना कठिन है। सुलभ वह होता है जिसका मिलना सरल है। वस्तुजगत् अथवा प्राणिजगत् में दुर्लभ क्या है अथवा सुलभ क्या है? इसे बताना कठिन है। यह सब द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावसापेक्ष है। एकान्ततः कोई भी वस्तु न दुर्लभ होती है और न सुलभ। सापेक्षता के पेरामीटर से ही दुर्लभता और सुलभता का ज्ञान किया जाता है। सभी धर्मों में ज्ञानीपुरुषों ने मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को स्वीकार किया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया—**'माणुस्सं खु सुदुल्लहं'**—मनुष्य-जन्म का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। भगवान महावीर ने कहा—

'चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ।।'

प्राणी के लिए चार तत्त्व दुर्लभ हैं— मनुष्य का जन्म, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

इसी प्रकार मनुष्यत्व की दुर्लभता को दर्शाते हुए शंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि में लिखा—

'दुर्लभं त्रयमेवैतत्, देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं, महापुरुषसंश्रयः।।'

मनुष्यत्व की प्राप्ति, मुमुक्षुत्व और महापुरुषों का संपर्क—इन तीनों का मिलना दुर्लभ है। ये सब देवानुग्रह से ही मिलते हैं।

इस दुर्लभता के विषय में सहज ही कुछेक प्रश्न समाधान मांगते हैं—

- क्या वस्तुतः मनुष्य-जन्म का मिलना दुर्लभ है? उस दुर्लभता का आधार क्या है?
- यदि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है तो इतनी जनसंख्या क्यों?
- क्या मनुष्य-जन्म पाना दुर्लभ है अथवा उसको सार्थक बनाना दुर्लभ है?

यदि गहराई से चिन्तन किया जाए तो निश्चित ही मनुष्य का जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्लभ क्या दुर्लभतम है। तीर्थंकरों की वाणी इसकी अनुभूति में साक्ष्यभूत है। सत्यद्रष्टाओं की सत्य की खोज जिसकी दुर्लभता का प्रतिपादन है, क्या वह सत्य कभी मिथ्या हो सकता है? वह सत्य त्रैकालिक होता है। वह अनुभूत सत्य ही प्राणिमात्र के लिए आदर्श और अनुकरणीय बनता है। संसार का प्रत्येक प्राणी उस बिन्दु पर अवस्थित है जहां से दुःखों का चक्र प्रारंभ होता है। वह सतत मनुष्य की परिक्रमा कर रहा है। उसकी परिधि में कभी मनुष्य जन्म के क्लेशों से आक्रान्त होता है तो कभी जरा से जर्जरित। कभी वह रोग-शय्या में सोता है तो कभी मृत्यु से भयभीत होता है। एक के बाद एक अनगिन दुःखों का तांता लगा ही रहता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि यह सारा संसार मनुष्य के लिए दुःखों का निमित्त बनता है। उस संसार-अरण्य से कैसे बाहर निकला जाए? दुःखों के चक्रव्यूह का भेदन कैसे किया जाए? आत्मिक-सुखों की अनुभूति किस प्रकार हो? आत्मा से परमात्मा कैसे बना जाए? उसके लिए मनुष्य-जन्म जैसा उत्तम वर मिलना अत्यन्त दुष्कर होता है।

तिर्यञ्चगति में पशु-पक्षियों का जीवन विवेक-चेतना से सर्वथा शून्य रहता है। उनमें धर्म की बुद्धि की स्फुरणा भी नहीं होती। वे धर्म-आराधना करने में सक्षम नहीं हो सकते। वे कभी पूर्वसंचित संस्कारों से उद्‌बुद्ध होकर धर्म की आराधना भी करते हैं तो वह अधूरी रहती है। नरक में नारकीय जीव नरक के घोर दुःखों की प्रताड़ना सहन करते हैं। वहां उनका धार्मिक-विवेक प्रबुद्ध नहीं होता। देवगति में देवता सर्वथा विलासी होते हैं। उनका सारा जीवन विलास में ही व्यतीत होता है। वे धर्म को जानते हुए भी धर्म नहीं कर पाते। इसलिए मनुष्य-जन्म ही ऐसा अलभ्य अवसर है जो भीतर के प्रभु को जगाकर स्वयं को भी प्रभु बना देता है। वह कर्मरूपी राख से ढकी हुई आत्मा की दिव्यज्योति को अनावृत कर देदीप्यमान कर देता है और चैतन्य के उस छोर तक पहुंचा देता है जहां जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है। उसकी फलश्रुति होती है—चैतन्य की प्रभास्वरता। आत्मा चिदानन्दमय होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है, ज्ञाता-द्रष्टा बन जाती है। यही है मनुष्य-जन्म को पाने की सार्थकता, यही है आत्मा से परमात्मा बनने का स्वर्णिम क्षण। वह क्षण किसी सुकृतवान् पुरुष को ही प्राप्त होता है और वह भी कितने जन्म-जन्मान्तरों में।

निर्ग्रन्थ वाणी में कहा गया है—यह जीव अनादिकाल से निगोदरूपी अन्धकूप में पड़ा हुआ है। वह निरन्तर जन्म-मृत्यु की पीड़ा को भोग रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। संयोग से कोई निमित्त मिलता है। उससे भावों की स्वतः शुद्धि होती है। वह शुद्धता ही उसे निगोदरूपी कूप से निकालने के लिए रज्जु का काम करती है। वहां से निकलने पर त्रसत्व का मिलना और भी दुर्लभ है। उससे पूर्व जीव कभी पृथ्वी, कभी अप्, कभी तेजस्, कभी वायु और कभी वनस्पतियोनि में भ्रमण करता है। त्रस होने पर वह कभी कीट तो कभी पतंगा, कभी कुन्थु तो कभी चींटी होता है। पंचेन्द्रियत्व की प्राप्ति, पर्याप्त और समनस्क होना उसके लिए उत्तरोत्तर दुर्लभ होते हैं। गतिचक्र में घूमता हुआ वह कभी तिर्यंच बनता है तो कभी वह नरक की वेदना को सहता है और कभी वह देवता के सुखों को भोगता है। किसी प्रकार यदि वह जीव मनुष्यत्व को पा भी लेता है तो आर्यदेश, श्रेष्ठकुल, धर्मजिज्ञासा और संयम में पराक्रम का होना और भी दुष्कर होता है। इसी सन्दर्भ में स्थानांगसूत्र में कहा गया—**'तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा, तं जहा—माणुस्सगं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायाति'**।

देवता भी तीन बातों की इच्छा करते हैं—मनुष्यजीवन, आर्यक्षेत्र में जन्म और उत्तमकुल की प्राप्ति।

देवों के लिए भी यदि उनकी प्राप्ति सुलभ नहीं है तो मनुष्यों को उनकी सुलभता कहां से होगी? इस प्रकार एक जीव जन्म-मरण की कितनी बीहड़ घाटियों को पार करता है। कितनी-कितनी सुख-दुःख की घेराबन्दियों से मुक्त होता है, तब कहीं उसे मनुष्य-जन्म मिलता है।

आज की अहं समस्या है जनसंख्या की। जनसंख्या को देखकर मनुष्य-जन्म की दुर्लभता पर भी एक प्रश्नचिह्न लगता है। तर्कशील व्यक्ति मनुष्य-जन्म को इसलिए दुर्लभ नहीं मानते कि संसार में आबादी तीव्र गति से बढ रही है। हो सकता है कि सारे संसार की अधिकतम आबादी पांच या छह अरब के आस-पास हो। यदि निगोद के जीव, बादरकाय के जीव तथा तिर्यञ्च, नारकीय और देवलोक के जीवों की गणना की जाए तो संसार की जनसंख्या के सामने उन जीवों की संख्या महाविशाल हो जाती है। कहां तो अणु के समान सारे संसार के जीवों की संख्या और कहां पहाड़ के समान सारे लोक में समाए हुए जीवों की संख्या? दोनों में एक स्पष्टरेखा प्रतीत होती है। फिर उन जीवों को मनुष्यत्व तक पहुंचने में भवभ्रमण की अनन्तकालीन परम्परा में कितनी बार जन्म-मरण करना पड़ता है, कितने गर्भावासों के क्लेशों, नरकों की असह्यवेदनाओं तथा तिर्यंचों के वध-बन्धन आदि अनेक कष्टों को सहन करना पड़ता है, तब कहीं मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होती है। संक्षेप में कहा जाए तो वह चौरासी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाख परकोटों को लांघकर मनुष्यजीवन पाता है। इसे दुर्लभ कहा जाए अथवा सुलभ? यह स्वतः गम्य है।

किसी को मनुष्य-जन्म मिल भी गया, पर उसने उसे सार्थक नहीं बनाया तो उस दुर्लभता से भी क्या? मनुष्य का आकार-प्रकार मिलने से कुछ नहीं होता। मनुष्य-जन्म की दुर्लभता तभी सार्थक होती है जब जीवन को धर्म-आराधना में लगाया जाए। कुछ व्यक्ति मनुष्य-जन्म पाते हैं, पर वे बिना कुछ किए ही अपने जीवन के अस्तित्व को मृत्यु के मुंह में वैसे ही विलीन कर देते हैं, जैसे मेघ की बून्दें बादलों से निकलकर समुद्र के जल में समा जाती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपने जीवन को द्यूत-मद्य-वेश्यागमन आदि व्यसनों में वैसे ही बरबाद कर देते हैं, जैसे मेघ की बून्दें किसी जलते हुए अंगारों पर पड़कर अपने अस्तित्व को समाप्त कर देती हैं। कुछ व्यक्ति अपने जीवन को परमार्थ आदि कार्यों में नियोजित कर उसकी सार्थकता को वैसे ही सिद्ध करते हैं, जैसे कि मेघ की बून्दें धान्य के खेतों का सिंचन कर फसलों को वृद्धिंगत करती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपने जीवन को धर्म-आराधना से भावित कर उसे बिन्दु से सिन्धु, आत्मा से परमात्मा तथा अणु से विराट् बनाने का वैसे ही सार्थक प्रयत्न करते हैं, जैसे कि मेघ की बून्दें स्वातिनक्षत्र में किसी सीप के मुंह में पड़कर मोती बनती हैं।

ऐसे व्यक्ति दुर्लभ होते हैं जो मनुष्य-जन्म की दुर्लभता का अंकन कर उसका लाभ उठाते हैं। उसमें सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है—मनुष्य का अपना प्रमाद। वह चेतना की क्रियाशीलता को निष्क्रिय करता है, धर्म के प्रति होने वाले उत्साह को गिराता है और पुरुषार्थ को ढकता है। इसलिए भगवान महावीर ने अपने अन्तेवासी गणधर गौतम को संबोधित करते हुए कहा—**'समयं गोयम! मा पमायए'**—हे गौतम! तू क्षणभर भी प्रमाद मत कर। **'खणं जाणाहि पंडिए'**— जो क्षण (समय) को जानता है वह पंडित है। **'उट्ठिए णो पमायए'**—उठो! प्रमाद मत करो। **'पमादो मच्चुनो पदं'**—प्रमाद मृत्यु का स्थान है। **'धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए'**—धीर पुरुष मुहूर्तमात्र भी प्रमाद नहीं करते। ये ऐसे प्रेरक सूक्त हैं जो अप्रमाद की मूल्यवत्ता का प्रतिपादन करते हैं। जो समय का मूल्यांकन करता है वह अपने पुरुषार्थ का सम्यक् नियोजन कर मनुष्य-जन्म को सार्थक और सफल बना लेता है।

यह सत्य है कि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। उसकी दुर्लभता को किसी वस्तुविशेष से न तो उपमित किया जा सकता है और न ही मूल्यांकित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह दुर्लभता अनुपमेय होती है। फिर भी काव्य-रसिक रचनाकार आचार्य सोमप्रभ ने मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को व्यवहारजगत् की बहुमूल्य वस्तुओं के साथ उपमित और मूल्यांकित किया है। वे दुर्लभता के प्रसंग में कहते हैं—मनुष्य-जन्म चिन्तामणि रत्न, सोने के थाल, अमृत तथा प्रवर हाथी के तुल्य है। जो व्यक्ति मूढतावश अथवा प्रमादवश मनुष्य-जन्म को सार्थक नहीं करते वे अपने हाथ में आए हुए चिन्तामणि रत्न को समुद्र में अथवा कौए को उड़ाने के लिए फेंक देते हैं। वे मनुष्य-जन्म को वैसे ही व्यर्थ गंवाते हैं, जैसे कोई अज्ञानी सोने के थाल में धूलि भरता है, पैरों को अमृत से धोता है और उत्तम हाथी को लकड़ियों का भार ढोने में काम लेता है। इसलिए मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाने का एक ही उपाय है—धर्म की आराधना। यदि आराधना होती भी है तो वह नरक के भय अथवा स्वर्ग-सुखों के प्रलोभन से होती है, आत्मशुद्धि के लक्ष्य से नहीं की जाती। मनुष्य इन्द्रिय-चेतना के स्तर पर जीता है। बाह्य आकर्षणों का प्रलोभन प्रतिपल उसके चित्त को मूढ बना रहा है। जब-जब इन्द्रियविषयों—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का प्रसंग उपस्थित होता है तो इन्द्रियां उन-उन विषयों में व्यापृत हो जाती हैं। उस समय इन्द्रियों का निग्रह करना, उनको अपने-अपने विषयों से पराङ्मुख करना वैसे ही दुष्कर होता है, जैसे दुष्ट अश्व को वश में करना। वहां धर्म की आराधना गौण हो जाती है और प्रधानता भोगों की बन जाती है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए कृतिकार आचार्य कहते हैं—जो अधम व्यक्ति भोगों की कामना से विषयों की ओर दौड़ते हैं वे प्राप्त धर्म को ठुकराकर वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं, जैसे कोई व्यक्ति अपने घर में लगाए हुए कल्पवृक्ष को जड़मूल से उखाड़कर धत्तूरे का वृक्ष बोता है, चिन्तामणि रत्न को फेंककर कांच के टुकड़े बटोरता है और हिमालय-तुल्य ऊंचे विशालकाय हाथी को बेचकर गधा खरीदता है।

आचार्य सोमप्रभ मनुष्यों की अज्ञानता पर तरस खाते हुए और अज्ञानजन्य परिणाम को दर्शाते हुए कहते हैं—वे लोग मूर्खशिरोमणि हैं जो मनुष्य का जन्म पाकर भी इन्द्रियों की चंचलता के वशीभूत होकर कामभोगों के क्षणिक सुखों के लिए धर्म का आचरण नहीं करते। वे इस असीम संसार-समुद्र में वैसे ही डूबते हैं, जैसे कोई उत्तम नौका को छोड़कर पाषाण-खंड से तैरने का प्रयत्न करता है।

भव्य प्राणियों के लिए धर्म का आचरण करना उत्तम नौका के समान है। धर्म के आचरण का प्रथम बिन्दु है—श्रुति—धर्म को सुनना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रवण के लिए मनुष्य के पास दो कान हैं। वह उनका उपयोग विविध कथाओं—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा तथा मिथ्या विकथाओं को सुनने में लेता है। शास्त्रकारों ने **'अध्यात्मश्रवणं श्रुतिः'**—अध्यात्मश्रवण को ही श्रुति कहा है। यह एक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में धर्मश्रवण की रुचि नहीं होती। उसका सारा अवधान संगीत आदि मनोज्ञ शब्दों अथवा इधर-उधर की निन्दापरक व्यर्थ बातों को सुनने में ही अटका रहता है। उसका कारण है कि मनुष्य का रस धर्म की बातों को सुनने में नहीं है। जिनका चित्त धार्मिक-भावना से आर्द्र होता है, जिनमें धर्म को जानने की जिज्ञासा होती है वे ही व्यक्ति धर्म का श्रवण कर सकते हैं, धर्म में आनंद का अनुभव कर सकते हैं। इसलिए धर्मजिज्ञासा और धर्मशास्त्रों का श्रवण—दोनों ही मनुष्य के लिए दुर्लभ हैं। सार्थकता की दिशा में दोनों की युति मनुष्य-जीवन को सफल बनाती है।

धर्म के आचरण का दूसरा बिन्दु है—श्रद्धा। भगवान महावीर ने कहा—**'सद्धा परम दुल्लहा'**—श्रद्धा परम दुर्लभ है। सहज जिज्ञासा होती है कि श्रद्धा किस पर? श्रद्धा सदा सत्य पर होती है, वीतराग वचनों पर होती है। आत्मा-परमात्मा तथा पुनर्जन्म आदि सत्य वीतराग के वचन हैं। वे मिथ्या नहीं हो सकते। कुछ लोग मिथ्यादृष्टि होते हैं। उनका दृष्टिकोण विपरीत होता है। वे अपने दृष्टिकोण से अस्ति को भी नास्ति देखते हैं। सम्यक्दृष्टि का मिलना कठिन होता है। वही मोक्ष का हेतु बनता है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा—**'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'**। जब सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है तब शंका, कांक्षा, वितिगिच्छा आदि दोष व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकते। उसकी धर्म के प्रति होने वाली श्रद्धा सुमेरुगिरि की भांति दृढ़ हो जाती है। जहां श्रद्धा नहीं होती वहां व्यक्ति का मन चलायमान रहता है। शास्त्रकारों ने अश्रद्धा-श्रद्धा के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है—

'अश्रद्धा परमं पापं, श्रद्धा पापप्रमोचिनी जहाति ।
पापं श्रद्धावान्, सर्पो जीर्णमिव त्वचम्।।'

अश्रद्धा महापाप है और श्रद्धा पापनाशक। श्रद्धाशील व्यक्ति पापों का परित्याग वैसे ही कर देता है जैसे सर्प अपनी पुरानी केंचुली को छोड़ता है।

ऐसी दृढ श्रद्धा ही मनुष्य-जीवन को सार्थक बना सकती है।

धर्म के आचरण का तीसरा बिन्दु है—संयम में पराक्रम। व्यक्ति में अनन्तशक्ति है। संयम में अपने वीर्य का नियोजन करने वाले व्यक्ति बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम होते हैं। मनुष्य का जन्म भी मिल गया, सुनने को धर्म भी मिल गया, उस पर श्रद्धा भी हो गई, किन्तु जीवन में धर्म का पुरुषार्थ नहीं हुआ तो सभी बातें अधूरी रह जाती है। यह बात वैसे ही है कि तट के निकट पहुंचकर भी तट पर खड़े रह जाना। भगवान महावीर ने कहा—**'वीरियं पुण दुल्लहं'**—धर्म में प्रवृत्त होना सबसे दुर्लभ है अर्थात् संयम तथा धर्माचरण में वीर्य करना अत्यन्त दुर्लभ है। कुछेक लोगों की संयम में रुचि होती है फिर भी वे संकल्पबल, धृति, सन्तोष और अनुद्विग्नता के अभाव में उसका आचरण नहीं कर सकते। आत्मानुशासन में धर्म की महत्ता को बताते हुए कहा है—

'संकल्प्य कल्पवृक्षस्य, चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं, फलं धर्मादवाप्यते।।'

कल्पवृक्ष से संकल्प किया हुआ और चिन्तामणि से चिन्तन किया हुआ पदार्थ मिल जाता है, किन्तु धर्म से असंकल्प्य एवं अचिन्त्य फल भी मिल जाता है। इसलिए धर्म का आचरण मनुष्य-जीवन की सार्थकता के लिए परमोपलब्धि का हेतु बनता है।

इस प्रकार जीवन को सफल बनाने वाली यह दुर्लभ चतुरंगी है। इस चतुरंगी को पाने वाले भी दुर्लभ हैं। दुर्लभता में दुर्लभता का समावेश दुर्लभता का ही सृजन करता है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—

- मनुष्य-जन्म दुर्लभ है।
- मनुष्यत्व को पाकर भी उसको सार्थक करना दुर्लभतम है।
- मनुष्य जीवन की दुर्लभता समझाने के लिए उसकी तुलना व्यवहार-जगत् की दुर्लभ वस्तुओं से की जा सकती है। वास्तव में मनुष्य-जन्म अतुलनीय, अनुपमेय है।
- मनुष्य का जन्म पाकर भी यदि उसमें श्रुति, श्रद्धा और संयम के पराक्रम की समन्विति नहीं होती तो वह मनुष्यजीवन व्यर्थ है।
- संयम अथवा धर्माचरण में वीर्य का होना उसको आत्मसात् करना है। उसके बिना तट पर पहुंच कर भी तट से दूरी है।
- मनुष्य-जीवन की सफलता का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है—प्रमाद।
- मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाने का तात्पर्य है—दुःखों के चक्रव्यूह का भेदन करना, जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होना।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५.अवबोध

धर्म का आदि बिन्दु है—सम्यग्दर्शन और अन्तिम बिन्दु है—निर्वाण। अध्यात्म की साधना सम्यग्दर्शन से प्रारंभ होती है और वह निर्वाण को प्राप्त कर परिसंपन्न हो जाती है। जिसकी आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म और कर्म में आस्था होती है वही अध्यात्म की साधना करने का अधिकारी हो सकता है। साधना का उद्देश्य है—चित्त की निर्मलता। मुमुक्षा का भाव उस साधना का प्रेरक तत्त्व बनता है।

जैन दर्शन में मुक्ति की अर्हता के आधार पर दो प्रकार के जीव माने गए हैं—भव्य और अभव्य। जिनमें मोक्ष-गमन की योग्यता होती है, वे जीव भव्य कहलाते हैं। जिनमें मुक्त होने की योग्यता नहीं होती वे जीव अभव्य होते हैं। जीव स्वभाव से ही भव्य अथवा अभव्य होता है। यह अवस्था कर्मकृत नहीं होती, स्वाभाविक होती है। सभी भव्य जीव सिद्ध नहीं होते। परन्तु जो सिद्ध होते हैं वे भव्य ही होते हैं। अभव्य ग्रन्थिभेद नहीं कर सकता। उसमें मुमुक्षाभाव भी नहीं होता। वह मुनियों अथवा तीर्थंकरों की ऋद्धि-सिद्धि को देखकर प्रव्रजित हो सकता है, देवलोक में जा सकता है। किन्तु वह सिद्ध नहीं हो सकता। सारे भव्य जीव भी सिद्ध नहीं होते। उनमें मुमुक्षा का भाव अवश्य बना रहता है, किन्तु अनुकूल सामग्री मिलने पर ही भव्यजीव सिद्ध हो सकते हैं, सामग्री के अभाव में नहीं।

मुमुक्षा का भाव जाग्रत होना बड़ा कठिन कार्य है। इसलिए शंकराचार्य ने कहा—**'दुर्लभं मुमुक्षुत्वम्'**। मनुष्य-जीवन में मुमुक्षुत्व का प्राप्त होना दुर्लभ है। वह भाव ही मनुष्य को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। यदि जीव में मुमुक्षाभाव ही समाप्त हो गया तो वह अपनी मंजिल को कैसे प्राप्त करेगा? संस्कृतकवि ने ठीक कहा—

'निर्वाणदीपे किमु तैलदानं, चौरे गते वा किमु सावधानम्।'

दीपक के बुझने पर तेल डालने से क्या प्रयोजन? चोर के चले जाने पर सावधान होने से भी क्या प्रयोजन? जब तक दीपक जल रहा है उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेल डालना उचित है। चोर के रहते हुए सावधान होने में लाभ है। मुमुक्षाभाव के होने पर उसका स्नेह ही निर्वाण-दीपशिखा को प्रज्वलित रख सकता है, मुक्ति दे सकता है।

मुक्ति का अधिकार हर व्यक्ति को है। उसमें जाति-सम्प्रदाय, वेशभूषा, लिंग आदि की बाध्यता नहीं होती। आचार्य हरिभद्रसूरी ने इस विषय में लिखा है—

'नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षपाताश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।।'

मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में है, न तत्त्ववाद में है और न ही किसी एक पक्ष का आश्रय लेने में है। वास्तव में कषायों से सर्वथा मुक्त होना ही मुक्ति है।

सारी साधना मुक्ति के लिए, वीतरागता की प्राप्ति के लिए और कषायों से मुक्त होने के लिए होती है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा—**'अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते'**—जहां शाश्वत सुख है वही मोक्ष है। राग-द्वेष मुक्ति का बाधक तत्त्व है। इसी प्रसंग में आचार्य ने लिखा—

रागद्वेषावनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि?
रागद्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि?

जिसने राग-द्वेष को नहीं जीता वह अरण्य में जाकर क्या करेगा? जिसने राग-द्वेष को जीत लिया वह अरण्य में जाकर भी क्या करेगा? उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया—**'रागो य दोसो वि य कम्मबीयं'**—राग-द्वेष कर्म के बीज हैं। राग-द्वेष-विनिर्मुक्त व्यक्ति ही कर्ममुक्त हो सकता है, शाश्वत सुखों को पा सकता है, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है। यही है उसकी मुक्ति।

आचार्य सोमप्रभ ने भव्यप्राणियों के सामने एक शर्त प्रस्तुत करते हुए कहा है—यदि तुम्हारा मन मोक्षपद पाने के लिए आतुर है तो मैं तुम्हारे सामने कुछेक आचरणीय बिन्दुओं को प्रस्तुत करता हूँ। वे इक्कीस आचरणीय बिन्दु प्रत्येक मुमुक्षु के लिए समाचरणीय हैं—

१. अर्हतों की अर्चा
२. सद्गुरु की उपासना
३. जिनशासन का स्वीकरण
४. चतुर्विध धर्मसंघ की भक्ति
५. अहिंसा का आचरण
६. सत्य का पालन
७. चौर्य का परिहार
८. शील का पालन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. परिग्रह का त्याग
१०. क्रोध का त्याग
११. मान का त्याग
१२. माया का त्याग
१३. लोभ का त्याग
१४. सौजन्य का आचरण
१५. गुणिजनों की संगति
१६. इन्द्रिय-दमन
१७. लक्ष्मी का स्वभाव
१८. सुपात्र दान
१९. तप का आचरण
२०. भावना का अभ्यास
२१. वैराग्य का आचरण

कृतिकार ने प्रस्तुत श्लोक में बीस प्रकरणों का नामोल्लेख किया है, किन्तु ग्रन्थ में इक्कीस प्रकरणों का प्रतिपादन हुआ है। श्लोक में सतरहवें प्रकरण में **'लक्ष्मीस्वभाव'** का नाम नहीं है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६.अवबोध

जैन परम्परा में तीर्थंकरों का अपना विशिष्ट स्थान है। तीर्थंकर के अन्यान्य नाम हैं—वीतराग, जिन, अर्हत्, प्रवचनकार और तीर्थ के प्रवर्तक आदि। धर्मप्रस्थापना में तीर्थंकरों की अहं भूमिका होती है। साधना-काल में वे राग-द्वेष को जीतने की साधना करते हैं। वीतराग अथवा कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् वे मानव-कल्याण के लिए धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं, तीर्थ की स्थापना करते हैं। तीर्थ का अर्थ है—**'तीर्यतेऽनेन तीर्थम्'**—जिसके द्वारा तरा जाए वह तीर्थ होता है। नदी आदि का घाट भी तीर्थ हो सकता है तथा जिसके आश्रयण से भवसागर को तैरा जाए वह भी तीर्थ कहलाता है। वह द्रव्य-भाव के भेद से दो प्रकार का होता है। नदी आदि का घाट द्रव्य तीर्थ है। भाव तीर्थ तीन प्रकार का है— प्रवचन, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा गणधर। प्रवचन वीतराग की वाणी है। संघ ज्ञान और चारित्र का संघात है तथा गणधर श्रुतज्ञान के धारक हैं। अतः तीनों ही भावतीर्थ की गणना में आते हैं। उनके द्वारा भव्यप्राणी अपना कल्याण करते हैं।

तीर्थ स्थापन के कारण जिन तीर्थंकर कहलाते हैं। सभी सर्वज्ञ अथवा केवली तीर्थंकर नहीं होते। जिनके तीर्थंकर नाम-गोत्र का बन्ध होता है वे ही सर्वज्ञ तीर्थंकर बनते हैं। तीर्थंकर नाम-गोत्र का बंध अर्हद्भक्ति आदि बीस स्थानों से होता है। वह बंध मनुष्य गति में, शुभलेश्या में, स्त्री, पुरुष और नपुंसक किसी के भी हो सकता है।

इस अवसर्पिणी काल में भगवान ऋषभ से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। सभी तीर्थंकर स्वयं संबुद्ध होते हैं। लोकान्तिक देवों के द्वारा संबोधित होने पर वे जगत् के कल्याण के लिए तीर्थ की स्थापना करते हैं।

जैन साहित्य में तीर्थंकरों की स्तुति-अर्चा से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ हैं। स्तुति के दो प्रकार हैं—अर्थवाद और यथार्थवाद। अर्थवाद में यथार्थता के साथ अतिशय का भाव आ जाता है, विवेचन में अतिशयोक्ति हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाती है, पर उसका उद्देश्य अन्यथा नहीं होता। यथार्थवाद में जो जैसा है वैसा ही भाव उसमें झलकता है। उसमें कृत्रिमता नहीं होती।

टीकाकार अभयदेवसूरी ने अर्हतों की स्तुति में यथार्थवाद का निरूपण किया है। तीर्थंकर जयनशील, आत्मविजेता होते हैं। वे सबसे पहले मोह को जीतते हैं। उसके बाद अन्य कर्मशत्रु अपने आप पराजित हो जाते हैं। उनके लिए एक विशेषण है—**'जितरागद्वेषमोहाः'**।

अर्हत् सर्वज्ञ होते हैं। उन्होंने ज्ञानावरणीय आदि घनघाती कर्मों का क्षय किया है। इसलिए वे मनुष्यों के लिए ही नहीं, स्वयं इन्द्र के द्वारा भी पूजनीय होते हैं। पूजित होने से कोई बड़ा नहीं होता। वह तो मात्र उपचार है। आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र ने भगवान की स्तुति में कहा है—

'देवागम - नभोयान - चामरादि - विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्।।'

भगवन्! विमान के द्वारा देवता आपके पास आते हैं। आपके पास छत्र, चामर आदि विभूतियां हैं। इन से आप महान् नहीं हैं। ये सब तो मायावी–ऐन्द्रजालिक के पास भी हो सकती हैं। आपकी महानता का हेतु है—आपका निर्लिप्तभाव, आपकी निरहंकारिता। आप विभूतियुक्त हैं, फिर भी आपका किसी के प्रति रागद्वेष, आसक्ति का भाव नहीं है।

अर्हतों की पूजा-अर्चना, गुणोत्कीर्तन तथा पर्युपासना महान् निर्जरा का हेतु है तथा स्वयं को उस आलोक से आलोकित करने का उपक्रम है। तीर्थंकर हमारे आदर्श हैं। हम उनके गुणों का उत्कीर्तन कर उनके गुणों को स्वयं में संक्रान्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे आप्तपुरुष हैं, स्वतः प्रमाण हैं, इसलिए उनके वचन सबके लिए आदेय हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ मनुष्यमात्र के लिए सदा अनुकरणीय है। उनका दर्शन आत्मकर्तृत्ववादी है, पुरुषार्थवादी है। वह दर्शन आत्मकर्तृत्व को जगाकर आत्मोपलब्धि को प्राप्त करने का है, भक्त से भगवान बनाने का है। इस सन्दर्भ में आचार्य मानतुंग ने भगवान ऋषभ की स्तुति करते हुए लिखा—

'नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।'

हे भुवनभूषण! हे भूतनाथ! इसमें [illegible] र्य नहीं कि अत्यधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणों से आपकी स्तवना-अर्चा करने वाले व्यक्ति आपके समान बन जाते हैं अथवा आप उनको अपने समान बना देते हैं। उस स्वामी से क्या, जो अपने आश्रित को अपने समान ऐश्वर्ययुक्त नहीं बनाता।

भक्त सदा भक्त बना रहे और भगवान सदा भगवान बना रहे, यह अर्हतों का दर्शन नहीं है। उनका दर्शन है—आत्मा को परमात्मा बनाना, बिन्दु से सिन्धु का निर्माण करना। इसलिए अर्हतों की पूजा-अर्चना के पीछे स्वार्थ जुड़ा हुआ है। वह स्वार्थ ही परार्थ में परिणत होता है।

कृतिकार आचार्य सोमप्रभ ने प्रस्तुत प्रकरण में अर्हतों की अर्चा से होने वाले अनेक आध्यात्मिक और भौतिक लाभों की विशद चर्चा की है। कोई भी अर्हत्-उपासक किसी भौतिक सिद्धि के लिए जिनेश्वरदेव की पूजा-अर्चा नहीं करता। उसका एकमात्र ध्येय आत्मशुद्धि अथवा कर्मनिर्जरण का होता है। प्रासंगिक लाभ अध्यात्म-साधना में पड़ने वाले पड़ाव हैं। जैसे यश की प्राप्ति होना, लक्ष्मी का वरण करना, स्वर्ग का मिलना, आरोग्य का पाना तथा दारिद्र्य, भय और विपदाओं का नष्ट होना आदि। वास्तव में भौतिक सुख-सुविधाओं तथा ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि का मिलना निर्जरा का फल नहीं है, वह निर्जरा के सहवर्ती बन्धने वाले पुण्यकर्मों का परिणाम है। जैन दर्शन की मान्यता है कि जहां निर्जरा होती है वहां निश्चित ही पुण्य का बन्ध भी होता है। उस पुण्यबन्ध के कारण ही उपासक अयाचित और अनायास प्रासंगिक लाभों से भी लाभान्वित हो जाता है। इसलिए अर्हतों की पूजा का उद्देश्य है—आत्मा का निर्मलीकरण और उसकी अन्तिम निष्पत्ति है—मोक्षपद की प्राप्ति।

ग्रन्थकार सूरीश्वर ने प्रस्तुत प्रकरण के बारहवें श्लोक में **'यः पुष्पैर्जिनमर्चति...'** जो व्यक्ति जिनभगवान की फूलों के द्वारा अर्चा करता है—ऐसा कहकर चौंकने वाली बात कही है। यह उनका अपना मंतव्य है। वीतराग की अर्चा पुष्पों के द्वारा कैसे हो सकती है? यह एक विचारणीय बिन्दु है। फूलों से उनका आशय क्या रहा होगा? यह भी एक विमर्शनीय प्रश्न है। बाह्यजगत् में सामान्यतः सुगन्ध देने वाले फूलों की ओर ही मनुष्य का ध्यान आकृष्ट होता है। अन्तर्जगत् में और भी अनेक फूल हैं जिनसे मनुष्य भलीभांति अर्हतों की पूजा कर सकता है। हारिभद्रीय टीका में उन्हीं फूलों का उल्लेख हुआ है। श्लोक में कहा गया है—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता।
गुरुभक्तिस्तपोज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते।।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निःसंगता, गुरुभक्ति, तप और ज्ञान—ये आठ सत्पुष्प कहलाते हैं। उनसे जिनभगवान की पूजा की जा सकती है।

उपरोक्त श्लोक का संवादी एक अन्य श्लोक भी पद्मपुराण में मिलता है। उस श्लोक में कहा गया है—

'अहिंसा प्रथमं पुष्पं, द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया, चतुर्थं क्षान्तिरेव च।।
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं, दमः षष्ठं च सप्तमम्।
ध्यानं सत्यं चाष्टमं च, होतैस्तुष्यति केशवः।।'

विष्णु भगवान आठ फूलों से पूजित होने पर प्रसन्न होते हैं। वे आठ फूल हैं—अहिंसा, इन्द्रियदमन, जीवदया, क्षमा, शम, दम, ध्यान और सत्य।

संभवतः ग्रन्थकार का आशय भी उन्हीं भावपुष्पों से रहा हो। जो व्यक्ति उन भावपुष्पों से तीर्थंकरों की अर्चा करता है वह स्वयं अर्चित, वन्दित और स्तुत्य होकर कृतकर्मों को क्षीण कर देता है।

प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य है—

- अर्हतों की अर्चा आत्मविशोधि के लिए की जाती है। आत्म-विशोधि का परिणाम है—निर्वाण।
- भौतिक सिद्धियों के उद्देश्य से भगवान की अर्चा-पूजा नहीं होती। यदि होती है तो वह वास्तव में अर्चा-पूजा नहीं है।
- यदि किसी को पूजा-अर्चना के द्वारा भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है तो मानना चाहिए कि वे तो मार्ग में पड़ने वाले पुण्य-जन्य पड़ाव हैं।
- भगवान की पूजा करने का तात्पर्य है—भावपूजा, गुणोत्कीर्तन, स्तवना आदि।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७.अवबोध

भारतीय संस्कृति का इतिहास गुरु-गौरव की यशोगाथाओं से भरा हुआ है। आज भी जन-मानस में गुरु के प्रति सहज आकर्षण और श्रद्धा-भक्ति का भाव प्रतिबिम्बित है। सन्त-परम्परा में गुरु का स्थान सर्वोपरि होता है। गुरु के बिना संसार में वैसे ही अंधकार है, जैसे रात्रि में सूर्य के बिना। गुरु का महत्त्व व्यक्ति विशेष से नहीं आंका जाता, वह आंका जाता है उसके ज्ञान, चारित्र तथा सद्गुणगौरव से। गुरु गुरु-महिमा से मंडित होते हैं, धर्म के आलोक से आलोकित होते हैं। उनमें शिष्य-निर्माण की कला होती है, सद्संस्कारों से भावित करने की दक्षता होती है। वे प्रत्येक शिष्य को गुरु की अर्हता तक पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए वे शिष्य के लिए सर्वेसर्वा होते हैं, प्राण और त्राण होते हैं और जन जन के लिए वन्दनीय और पूजनीय भी होते हैं।

बीज में वृक्ष आदि बनने का उपादान कारण विद्यमान है। मिट्टी में कुम्भ आदि बनने का शक्तिबीज निहित है। बीज को जब तक उर्वर भूमि पानी, हवा तथा सूर्य का आतप आदि निमित्त-कारण नहीं मिलते, मिट्टी को कुम्भकार, कुम्भकार का चक्र आदि निमित्त-कारण नहीं मिलते तब तक न तो बीज पुष्पित, पल्लवित और फलित हो सकता है और न ही मिट्टी घड़े आदि के रूप में परिणत हो सकती है।

शिष्यों के निर्माण के लिए, उनको सुसंस्कारों से भावित करने के लिए गुरु ही उत्तरदायी होते हैं। वे अपने शिष्यों के लिए क्या कुछ नहीं करते? वे उनको ज्ञान का प्रकाश देते हैं, सुसंस्कारों का बीज वपन करते है, धर्म का मार्ग बताते हैं, दिग्भ्रान्तों को सत्पथ पर लाते हैं और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि वे उनकी साधना में सहयोगी बनकर मोक्षपद तक पहुंचाते हैं। गुरु का मंगल सान्निध्य शिष्य को प्रतिपल मंगल देता है। उनके प्रति होने वाली आस्था हर समस्या को समाहित करती है। धर्मशास्त्रों में गुरु को द्वीप-शरण-गति-प्रतिष्ठा से संबोधित किया गया है। वे भवसागर में डूबते हुए प्राणियों को सहारा देते हैं, उन्हें पडने से बचाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, इसलिए वे द्वीप हैं। वे अशरणों को धर्म की शरण देते हैं, इसलिए वे शरण हैं। वे चलने वालों को गंतव्यस्थल मोक्ष तक पहुंचाते हैं, इसलिए वे गति हैं। वे प्राणिमात्र को धर्म में सुस्थिर करते हैं, इसलिए वे प्रतिष्ठा हैं।

जब तक शिष्य को सद्गुरु नहीं मिलता, उसे न ज्ञान मिलता है, न ध्यान, न उसे सद्गति मिलती है और न मुक्ति। गुरु का शिष्य पर अनन्त उपकार होता है। शिष्य उस उपकार से कभी उऋण नहीं हो सकता। चाणक्यनीति में कहा गया—

'एकमेवाक्षरं यस्तु, गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं, यद् दत्त्वा चानृणी भवेत् ।।'

जो गुरु शिष्य को एक अक्षर का भी ज्ञान देता है उस शिष्य के लिए पृथ्वी पर ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसे देकर वह गुरु से उऋण हो सके।

शिष्य का गुरु को मान-सम्मान देना स्वयं शिष्य के लिए मान-सम्मान बढ़ाने वाला होता है। गुरु की गुरुता को शिरोधार्य करना स्वयं शिष्य के लिए महनीय होता है। गुरु का ऐसा कौन-सा कार्य है, जिसे शिष्य सम्पादित करके गुरु के ऋण से मुक्त हो सकता है। किसी कवि ने अन्योक्ति के द्वारा दूसरों को प्रेरणा देते हुए लिखा है—

'भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।
हे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य,
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः?'

कवि राजहंस को संबोधित करते हुए कहता है—अरे राजहंस! तूने सरोवर में रहकर उसका पानी पीया, कमलनाल को खाया, कमलों का सेवन किया। अब बता, तू कौनसा कार्य करके उस सरोवर का प्रत्युपकार कर सकेगा?

यही उक्ति एक सुयोग्य शिष्य पर भी घटित होती है। गुरु का उपकार जन्म-जन्मान्तर तक होता है। वह गुरु के उपकार से कितना उऋण हो सकता है, यह उसके कार्य पर निर्भर है। गुरु आखिर गुरु होते हैं और शिष्य शिष्य होता है। गुरु का महान् उपकार शिष्य को तलहटी से समुन्नत शिखर तक पहुंचा देता है और बिन्दु से सिन्धु बना देता है।

जो व्यक्ति मूढतावश, अज्ञानवश अपने गुरु को अप्रसन्न करता है अथवा गुरु किसी बात को लेकर उससे अप्रसन्न हो जाते हैं तो उसका इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वी पर जीना दूभर हो जाता है। इसी आशय को प्रकट करते हुए संत कबीर कहते हैं—

'कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठै गुरु ठौर है, गुरु रूठै नहि ठौर।।'

वे व्यक्ति अन्धे हैं, जो गुरु को स्वयं से अन्य समझते हैं। भगवान के रूठने पर उनको गुरु के पास स्थान मिल सकता है, पर गुरु के रूठने पर उन्हें कहीं भी स्थान प्राप्त नहीं हो सकता।

जैन आगमों में भी गुरु-आशातना से होने वाले भयंकर परिणामों को दर्शाया गया है। दसवैकालिकसूत्र में आचार्य की अप्रसन्नता के परिणामों की चर्चा करते हुए सूत्रकार कहता है—

'आयरियपाया पुण अप्पसन्ना,
अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो।
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी,
गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा।।'

आचार्य के अप्रसन्न होने पर शिष्य को बोधि-लाभ नहीं मिलता। गुरु की आशातना से शिष्य को मोक्ष नहीं मिलता, इसलिए मोक्ष-सुख चाहने वाला शिष्य गुरु-कृपा के अभिमुख रहे।

किसी का गुरु बनना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि गुरुता की कसौटी पर खरा उतरना। सहज ही जिज्ञासा होती है कि गुरु कौन हो सकता है? वह किन-किन लक्षणों से युक्त होता है? इसके समाधान में संस्कृत-साहित्य में कहा गया—

'गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्, रुशब्दः प्रतिरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते।।'

'गुरु' दो शब्दों से निष्पन्न है—गु और रु। गु का अर्थ है—अन्धकार। रु का अर्थ है—रोकने वाला। जो व्यक्ति अपने ज्ञानप्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार को तिरोहित कर देता है, वह गुरु कहलाता है। प्रकारान्तर से इसे ऐसे भी कहा जा सकता है—

'अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः।।'

जिनके चक्षु अज्ञानरूप तिमिर से अन्धे बने हुए हैं, उनके चक्षुओं को ज्ञानरूप अंजनशलाका से खोलने वाले गुरु ही होते हैं। उनको मेरा नमस्कार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति अपने आश्रित हर किसी को धन-दौलत, जमीन-जायदाद तथा स्वामित्व आदि सब कुछ सौंप सकता है, किन्तु ज्ञानचक्षुओं का उद्घाटन गुरु के बिना नहीं हो सकता। इसलिए गुरु का प्रथम लक्षण है—ज्ञान-प्रकाश की चेतना से युक्त होना।

गुरु का दूसरा लक्षण है—अहंकार से विनिर्मुक्त। जिसमें अहंकार का थोड़ा-सा भी लेश होता है उसमें गुरुता का समावेश नहीं हो सकता। वहां केवल अपना राजसी ठाठ-बाट, वैभव और सत्ता का बल ही सब कुछ होता है, दूसरों का हित गौण हो जाता है। अहंकार के नशे में प्रेम की गली इतनी अधिक संकरी हो जाती है कि उसमें या तो प्रेम टिक सकता है या फिर अहंकार। उसमें दो नहीं समा सकते। इसी प्रसंग में सन्त कबीर ने यथार्थ ही कहा है—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं मैं नांहि।'
'प्रेमगली अति सांकरी ता में दो न समाहि।।

जैसे एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती वैसे ही 'मैं' के साथ गुरु नहीं रह सकता। जहां गुरु है वहां मैं नहीं होता और जहां मैं होता है वहां गुरु नहीं होता।

गुरु का तीसरा लक्षण है—ममकार से मुक्ति। जहां मेरापन मिट जाता है वहीं अकिंचनता रह सकती है। अकिंचन व्यक्ति ही त्रैलोक्य का स्वामी बन सकता है, गुरु बन सकता है। यदि गुरु में गुरुता का भाव ही नहीं है वहां गुरु के प्रति होने वाला विनय भी लज्जित होता है। ऋषभचरित्र का प्रसंग है। भरत का दूत बाहुबलि के पास जाता है। जब वह बाहुबलि को भरत की अधीनता स्वीकार करने के लिए कहता है तब बाहुबलि रोषपूर्ण शब्दों में दूत से कहते हैं—

'गुरौ प्रशस्यो विनयी गुरुर्यदि गुरुर्भवेत् ।
गुरौ गुरुगुणैर्हीने विनयोऽपि त्रपास्पदम् ।।'

अरे दूत! तू व्यर्थ ही बकवास कर रहा है। भरत में गुरुता है कहां? गुरु यदि यथार्थ में गुरु होता है तो उसके प्रति होने वाला विनय प्रशस्य होता। यदि वह गुरु के गुणों से हीन है तो उसके प्रति किया जाने वाला विनय भी लज्जास्पद होता है।

आगे बाहुबलि दूत से कहते हैं—

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते।।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु भी यदि अभिमानी हो, उसे कार्य-अकार्य का बोध न हो और वह भी यदि उत्पथ पर चलता हो तो ऐसे गुरु का परित्याग कर देना चाहिए।

योगशास्त्र में भी गुरु के लक्षणों का उल्लेख हुआ है—

'महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः।।'

जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—इन पांचों महाव्रतों का पालन करने वाले हैं, जो धैर्यवान् हैं, शुद्ध भिक्षा से जीवन का निर्वाह करने वाले हैं, जो संयम में स्थिर रहने वाले तथा धर्म का उपदेश देने वाले हैं वे गुरु माने गए हैं।

इस प्रकार गुरु-लक्षणों से युक्त होकर जो गुरुता की कसौटी पर खरा उतरता है वही व्यक्ति गुरु की गुरुता को प्राप्त कर सकता है। आज संसार में गुरुडम की बाढ-सी आई हुई है। कोई गुरुता की कसौटी पर खरा उतरे या न उतरे पर वह अपने आपको अवश्य ही गुरु कहलाना चाहता है। वे गुरु जनता का क्या भला करेंगे? जो परमार्थ की ओट में अपने स्वार्थ को सिद्ध करते हैं, धर्म के बहाने लोगों को दिग्भ्रान्त करते हैं और लोगों को धोखा देकर सुख-सुविधाओं तथा विलासिता को भोगते हैं। दुनिया में ऐसे गुरुओं की भी कमी नहीं है और उनके चंगुल में फंसने वाले भक्तजनों की संख्या भी कम नहीं है। ऐसे गुरु किसी का हित नहीं साध सकते। वे स्वयं तो इस भवसागर में डूबते ही हैं, किन्तु दूसरों को भी डूबोते हैं। इसलिए कहा गया—

'गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेले दांव।
दोनों डूबै बापड़ा, बैठ पत्थर की नांव।।'

एक शिष्य को सद्गुरु की खोज करने के लिए कितना-कितना प्रयत्न करना पड़ता है, वर्षों-वर्षों तक जीवन को खपाना पड़ता है, गुरु-अर्हता का अंकन करना होता है तब कहीं सौभाग्य से गुरु की प्राप्ति होती है या नहीं भी होती, कहना कठिन है। इसलिए सद्गुरु की खोज और सद्गुरु का मिलना–दोनों दुर्लभ हैं। इसी प्रसंग में कविमानस संत कबीर ने ठीक ही कहा था—

'शीष दियां यदि गुरु मिले तो भी सस्ता जान।'

यदि सुगुरु की प्राप्ति प्राणों के उत्सर्ग से होती है तो भी वह सस्ती है। पता नहीं वह प्राप्ति कितना बड़ा बलिदान मांगती हैं? इसलिए सुगुरु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को पाना सहज-सरल कार्य नहीं है। यह भी उतना ही सच है कि एक सद्गुरु को किसी सुशिष्य का मिलना भी उतना ही कठिन, कठिनतम है जितना कि एक शिष्य को सद्गुरु का मिलना। दोनों का मणिकांचन योग दुर्लभतम योग होता है।

कृतिकार आचार्य सोमप्रभ ने प्रस्तुत प्रकरण में आत्महितैषी शिष्य को अपना अमूल्य परामर्श देते हुए कहा है—यदि तुम आत्महित चाहते हो तो तुम उस गुरु की खोज करो, जो स्वयं धर्म के मार्ग पर चलते हैं तथा दूसरों को भी निष्कामभाव से उसी पथ पर चलाते हैं। जो स्वयं संसार-समुद्र से तरते हैं तथा दूसरों को भी भवसागर से पार लगाते हैं। गुरु की पहचान कराने के लिए उन्होंने गुरु की कुछेक कसौटियों का भी निर्धारण किया है। वे कहते हैं कि गुरु वह होता है—

- जो मिथ्याज्ञान का नाश करता है।
- आगमों के अर्थ का बोध कराता है।
- सुगति-दुर्गति के मार्ग के हेतुभूत पुण्य-पाप को बताता है।
- कृत्य-अकृत्य के भेद का ज्ञान देता है।
- धर्म-अधर्म के मर्म को प्रकट करता है।
- नरक-कुहर में पड़ते हुए प्राणियों की रक्षा करता है।

ग्रन्थकार सूरीश्वर ने गुरु के अनुशासन को सर्वोपरि माना है। वही एकमात्र संसार-भ्रमण को रोक सकता है। जो शिष्य गुरु के अनुशासन के बिना ध्यान, समस्त विषयों का त्याग, तप का आचरण, भावना का अभ्यास, इन्द्रियों का निग्रह तथा आगमों का पठन करता है वह अपनी अर्थसिद्धि में वैसे ही निष्फल होता है जैसे सेनापति के बिना सेना। इसलिए शिष्य का समस्त ज्ञान-ध्यान आदि गुरु के अनुशासन में ही शोभित होता है। जो शिष्य कार्यसिद्धि चाहता है उसे बिना किसी झिझक के गुरु के अनुशासन को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। प्रस्तुत प्रकरण की फलश्रुति है—

- गुरु-अर्हता को वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जो गुरुता की कसौटियों पर खरा उतरता है।
- गुरु का अनुशासन ही सर्वसिद्धिप्रदायक होता है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८.अवबोध

'णाणं पयासयरं'—ज्ञान प्रकाश करने वाला है। यह सत्य तभी सार्थक हो सकता है जब भीतर की आंख खुल जाती है। प्रकाश के बिना आंखों की उपयोगिता और आंखों के बिना प्रकाश का मूल्य ही क्या है? दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक दूसरे के बिना असहाय भी हैं। तीर्थंकर ज्ञान का प्रकाश भी करते हैं और भीतर के चक्षुओं का भी उद्घाटन करते हैं। जैन आगमों में अर्हतों को **'चक्खूदयाणं'** कहा गया है। जिनभगवान चक्षुप्रदाता होते हैं। वे चक्षु क्या हैं? अर्हतों के द्वारा प्रणीत सिद्धान्त तथा उनके द्वारा कथित वाणी ही मानवमात्र के लिए चक्षु होते हैं।

मनुष्य बाहरी आंखों से देखता है, वस्तुजगत् को जानता है। कभी-कभी व्यक्ति अपनी ही आंखों से धोखा भी खा जाता है। वे यथार्थ ज्ञान का बोध नहीं करा पाती। उस ज्ञानबोध में मनुष्य की मन्ददृष्टि, दृष्टिभ्रम अथवा दूरी कोई भी बाधक बन सकती है। उसके कारण वह रज्जु में सर्प और सर्प में रज्जु का आरोपण कर लेता है, कभी वह स्थाणु में स्तम्भ और स्तम्भ में स्थाणु को जान लेता है और कभी सीप में चांदी और चांदी में सीप का आभास कर लेता है। मनुष्य की बुद्धि का यह विपर्यास ही यथार्थ के अवबोध में बाधक बनता है।

तीर्थंकर आप्तपुरुष होते हैं। वे सत्य के आलोक से आलोकित होते हैं। उनके मुख से जो वचनामृत निःसृत होते हैं, वे जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, वे विवेक-चक्षुओं को खोलने वाले और विवेक-चेतना का जागरण करने वाले होते हैं। वीतराग के वचन अथवा सिद्धान्त विवेक की आंख का ही उद्घाटन करते हैं।

विवेक मनुष्य का तृतीय नेत्र है। उसे पाकर व्यक्ति कहीं भी दिग्भ्रमित नहीं होता। वह हेय को छोड़ देता है और उपादेय को ग्रहण कर लेता है। विवेक मनुष्य का वह दीपक है जो चंचलतारूप वायु से अकम्प होकर हृदय के मन्दिर में समस्त इच्छित वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष ने विवेक को प्राप्त कर लिया उस व्यक्ति के गुण भी वैसे ही अत्यधिक चमकते हैं जैसे कि सोने में जड़े हुए रत्न।

आज मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या है—विवेक-विकलता। विवेक-शून्यता के कारण वह निर्णय नहीं कर पाता कि उसके लिए अच्छा क्या है और बुरा क्या है? हित क्या है, अहित क्या है? इसी प्रसंग में किसी कवि ने कहा—**'फूटी आंख विवेक की, लखै न सन्त-असन्त।'** जिसके विवेक की आंख फूट जाती है वह सन्त-असन्त की पहचान नहीं कर सकता। इसलिए नीतिवाक्य में कहा गया—**'एको हि चक्षुरमलः सहजो विवेकः।'** विवेक एक स्वाभाविक निर्मल नेत्र है। उसके बिना ज्ञान नहीं होता। यदि प्राणीमात्र में विवेक की चेतना जाग जाए, यदि वह विवेक की आंखों से देखना सीख जाए तो उसे यथार्थ-अयथार्थ, कृत्य-अकृत्य के बीच एक भेदरेखा खींचने का सूत्र हस्तगत हो जाता है। इसी संदर्भ में शेक्सपीयर ने कहा था—'अपने विवेक को अपना शिक्षक बनाओ। शब्दों का कर्म से और कर्मों का शब्दों से मेल कराओ। तभी तुम जीवन में सफल हो सकते हो।'

शेखसादी ने कहा था—'विवेक के नियमों को सीखकर भी जो उन्हें जीवन में नहीं उतारता वह अपने खेत में परिश्रम करके भी बीजों का वपन नहीं करता।' संत कबीर ने लिखा—

'समझा-समझा एक है, अनसमझा सब एक ।
समझा सो ही जानिए, जाके हृदय विवेक।।'

जिसके हृदय में विवेक है वही समझदार व्यक्ति जाना जाता है। अर्हतों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो प्रवचन दिया, यदि जीवन में उनको समझने का कभी प्रयत्न नहीं किया, उनका कभी आचरण नहीं किया तो विवेक की आंख मुंदी की मुंदी रह जाती है। विवेक मनुष्य की तीसरी आंख है तो समझना और आचरण करना मनुष्य का प्रकाश है। तात्पर्यार्थ में सिद्धान्त को उचित प्रकार से समझकर उसे व्यवहृत करना ही विवेक का फल है।

ग्रन्थप्रणेता आचार्य सोमप्रभ ने प्रस्तुत प्रकरण में अर्हतों द्वारा प्रणीत अथवा निःसृत कुछेक विवेक-चक्षुओं का निरूपण किया है। उनमें प्रथम विवेक-चक्षु है—वीतराग के वचन। जो व्यक्ति जिनवचनरूपी चक्षुओं से विकल होता है वह सुदेव-कुदेव, सुगुरु-कुगुरु, धर्म-अधर्म, गुणवान्-गुणविहीन, करणीय-अकरणीय कार्य में भेद नहीं कर पाता और न ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अपने हित-अहित को भलीभांति देख पाता है। विवेक के अभाव में सारा गुड़गोबर हो जाता है।

दूसरा विवेक-चक्षु है—वीतराग के सिद्धान्त। जिन व्यक्तियों ने सर्वज्ञों के करुणारस से परिपूर्ण सिद्धान्तों को नहीं सुना उनका मनुष्य-जीवन निष्फल है, उनका चित्त निरर्थक है, उनके कान अर्थहीन हैं। वे गुण और दोष का विवेक नहीं कर सकते। वे निश्चित ही नरकरूपी अन्धकूप में पड़ते हैं। उन्हें कभी मुक्ति नहीं मिल सकती।

तीसरा विवेक-चक्षु है—वीतराग का शासन। जिनभगवान का शासन करुणारूपी वस्तु के क्रय के लिए आपण के समान है। उस आपण से प्रत्येक मुमुक्षु प्राणी करुणा को प्राप्त कर सकता है। जो व्यक्ति जैनदर्शन की अन्य दर्शनों—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, वैशेषिक, जैमिनीयदर्शन के साथ तुलना करते हैं, एक तराजू में सबको बराबर रखते हैं तो वे अमृत को विष से, जल को अग्नि से, प्रकाश को अन्धकार से, मित्र को शत्रु से, पुष्पमाला को सर्प से, चिन्तामणि रत्न को ढेले से और चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को ग्रीष्म ऋतु के आतप से तोलना चाहते हैं।

अर्हतों के वचन, सिद्धान्त और उनका शासन—सभी दूषणों से मुक्त हैं। वे यथार्थ और सत्य हैं, विसंवाद से रहित हैं, इसलिए वे विवेक-चक्षु कहलाते हैं। प्रतिपत्ति के रूप में प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य है—

- अर्हतों के सिद्धान्त और वचन ही वास्तव में विवेक-चक्षु हैं।
- विवेक-चक्षु के बिना जीवन में भटकाव, अन्धेरा है। उसको प्राप्त किए बिना मनुष्य का जीवन निष्फल है।
- विवेक-चक्षु को पाकर भी जब तक उसे समझा न जाए अथवा जीवन में उतारा न जाए तब तक वह विवेक ज्ञानगत विवेक ही रहता है, जीवनोपयोगी नहीं बनता।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९.अवबोध

संस्कृत-साहित्य में एक सुन्दर सूक्ति है—**'अनाश्रयाः न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः।'** पंडित, स्त्री और लता बिना आश्रय के शोभित नहीं होते। उनको अपना अस्तित्व रखने के लिए किसी का आलम्बन चाहिए। ठीक इसी सूक्ति के अनुरूप ऐसे भी कहा जा सकता है—**'संघं विना न शोभन्ते व्रतिन्यो व्रतिनो गृहाः।'** संघ के बिना साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका शोभित नहीं होते। उनके जीवन का आधार संघ है। जो फूल वृक्ष की टहनी पर खिलता है उसके विकास का आधार वृक्ष होता है। यदि वह अपने आलम्बन से बिछुड़ जाता है तो उसका अस्तित्व मिट्टी में मिल जाता है।

संघ जीवन-यापन का बहुत बड़ा आलम्बन है। उसके बिना जीवन शून्य होता है। जैन तीर्थंकरों ने व्यक्तिगत साधना को बहुत महत्त्व दिया, किन्तु संघबद्ध साधना को भी उन्होंने ही पुरस्कृत किया। व्यक्तिगत साधना का अपना मूल्य है और संघबद्ध साधना का अपना मूल्य है। कुछ अर्थों में सामूहिक साधना व्यक्तिगत साधना से अधिक कार्यकर और अधिक प्रभावशाली होती है। आज का वैज्ञानिक भी सामूहिकता पर अधिक बल देता है। सामूहिक ध्यान और सामूहिक जाप अधिक ऊर्जा-संचय का हेतु बनता है। वैज्ञानिक मानते हैं कि अनेक साधकों की ऊर्जाओं के एक ही काल और एक ही स्थान में मिलने से सारा वातावरण ऊर्जामय, शक्तिशाली बन जाता है।

व्यक्तिगत साधना अर्थात् संघमुक्त साधना सर्वसुलभ और जनसाधारण के लिए नहीं हो सकती। उसके लिए अत्यधिक साहस, धैर्य, प्रबलपुरुषार्थ, शारीरिक संहनन तथा अनगिन परीषहों को झेलने की क्षमता का विकास अनिवार्य होता है। ऐसी साधना हर किसी के सामर्थ्य से बाहर होती है। वैसी साधना जिनकल्पी मुनि ही कर सकते हैं।

संघबद्ध साधना के लिए सबको खुला अवकाश है। हर व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार उसमें साधना कर सकता है। उस सामर्थ्य के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही संघ में आगार धर्म और अनगार धर्म—इन दो श्रेणियों का वर्गीकरण किया गया। जो साधक संघ में दीक्षित होते हैं वे साधु-साध्वी अनगार धर्म का पालन करते हैं। शेष श्रावक-श्राविकाएं आगार धर्म को स्वीकार करते हैं। संघ के विकास, विस्तार, उन्नयन तथा स्थायित्व में जिस प्रकार साधु-साध्वियों की अहं भूमिका होती है वैसे ही श्रावक-श्राविकाओं की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे संघ के प्रति वफादार, कर्तव्यनिष्ठ, समर्पित और सेवापरायण होते हैं। जैन आगम स्थानांगसूत्र में श्रावक-श्राविकाओं को **'अम्मापितिसमाणे'**, **'भातिसमाणे'**, **'मित्तसमाणे'**—माता-पिता के समान, भाई के समान तथा मित्र के समान माना गया है। वे इहलोक-परलोक के हित को साधने वाले होते हैं। इसलिए उन्हें साधु-साध्वियों का आश्रय-स्थल भी कहा जाता है। आचार्य भिक्षु ने साधुओं और श्रावकों को रत्नों की माला से उपमित किया है। साधु-साध्वी बड़ी माला होते हैं और श्रावक-श्राविकाएं छोटी माला। इस प्रसंग में आचार्य भिक्षु कहते हैं—

'साध नै श्रावक रतनां री माला, एक मोटी दूजी नान्ही रे।
गुण गूथ्यां च्यारुं तीरथ नां, अव्रत रह गई कानी रे ।।'

जिनशासन की एकसूत्रता इस एक गाथा से सिद्ध होती है—

'अन्नन्नदेसजाया अन्नन्नाहारवड्ढियसरीरा ।
जिणसासणमणुपत्ता सव्वे ते बांधवो मुणिया ।।'

भिन्न-भिन्न देशों में उत्पन्न और भिन्न-भिन्न आहार से पोषित शरीर वाले साधक जब जिनशासन में प्रव्रजित हो जाते हैं तब वे सब परस्पर बन्धु बन जाते हैं।

धर्मसंघ सभी को समान अधिकार और समान अवकाश देता है। उसमें लिंग-जाति और सम्प्रदाय की कोई भेदरेखा नहीं होती। संघप्रभावना में धार्मिक वात्सल्य एक ऐसा सूत्र है जो मानवमात्र को एकसूत्र में पिरोने का कार्य करता है। वह ऐसा आत्मीय व्यवहार है जिसमें एक ही धर्म में श्रद्धा रखने वाले लोगों में परस्पर भाईचारे का स्वरूप देखा जा सकता है। जब वह संघरूपी कल्पवृक्ष भ्रातृत्व भावना से अभिसिंचित होता है तब वह और अधिक फलता-फूलता है। दक्षिण भारत उसी धार्मिक वत्सलता का एक जीवन्त उदाहरण है। वहां जैन धर्म का विस्तार उसी वत्सलता के कारण हुआ था। जैनों ने अन्नदान, शिक्षादान, औषधदान और अभयदान के द्वारा जन-जन को उपकृत किया था। उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण उस समय दक्षिण भारत जैनों का प्रमुख केन्द्र बना।

संघ अनेक गुणों का आकर है, अनेक विशेषताओं का पुंज है। इसलिए व्यक्ति **'संघं शरणं गच्छामि'**—संघ की शरण को स्वीकार करता है। संघ व्यक्ति को प्रभावित करता है तो व्यक्ति संघ को प्रभावित करता है। दोनों के योग से जैनशासन की प्रभावना होती है। जहां संघ है वहां आचार्य का नेतृत्व होता है। आचार्य मुख्यतया दो कार्य सम्पादित करते हैं—परम्परा की रक्षा और संघ का हित। संघहित के सामने किसी व्यक्तिविशेष के प्रति प्रियता-अप्रियता का तारतम्य भी समाप्त हो जाता है। संघ में शक्ति होती है। जहां शक्ति होती है वहां तेजस्विता का विकास होता है। संघ में आने वाला हर कोई अपने जीवन के लिए अग्रिम साईं ले लेता है। वह अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त और निश्चिन्त हो जाता है। संघ संघ के सदस्यों के लिए सेवा, सहयोग और साधना में योगभूत बनता है। वहां प्रमाद के प्रति वारणा और संघहित कार्यों के लिए सारणा और प्रोत्साहन का द्वार खुला रहता है। जिस प्रकार वृक्ष पक्षियों का और पानी मछलियों का आश्रयस्थल है वैसे ही संघ शरणागत प्राणियों को चित्तसमाधि उपजाने वाला आधारस्थल है। संघ में शक्ति, भक्ति, अनुरक्ति और युक्ति की सतत धारा प्रवाहित होती है। ऐसे शक्तिसंपन्न संघ को तीर्थंकर अपना श्रद्धायुक्त नमस्कार करते हैं। आचार्य पुनः पुनः उसका गुणानुवाद करते हैं और सन्तजन अपनी कृतज्ञता ज्ञापित कर उसका बहुमान बढ़ाते हैं। वह संघ किसके लिए प्रीतिकर, स्तुत्य, श्लाघ्य और गौरवान्वित नहीं होगा?

जैन आगम नन्दीसूत्र में संघ को आठ उपमाओं से उपमित किया गया है—संघ एक रथ है, चक्र है, नगर है, पद्म है, चन्द्रमा है, सूर्य है, समुद्र है, मेरु है। उसमें इन उपमाओं से संघ की स्तुति की गई है, जैसे—

- जिसके शीलरूप ऊंची पताका है, तप नियमरूप जिसके दो घोड़े हैं, स्वाध्यायरूप जिसका नन्दीघोष है, ऐसे संघरूप रथ का कुशल हो।
- जो संघ प्रधान ज्ञानरूपी वैडूर्य रत्न से दीप्यमान, कान्त, विमल चूला वाला है उस संघ महामन्दराचल को मैं विनय-प्रणत होकर वन्दना करता हूं।

काव्यरचयिता आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण में संघ की महिमा का अनेक उपमाओं से वर्णन किया है—जैसे रोहण पर्वत रत्नों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का, आकाश तारों का, स्वर्ग कल्पवृक्षों का, सरोवर कमलों का और समुद्र निर्मल जल का आधारस्थल है वैसे ही चतुर्विध धर्मसंघ ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनेक गुणों का स्थान है। वह संघ ही प्राणियों में संसार को त्यागने की भावना को उत्पन्न करता है, मुक्ति की साधना करने वालों को साधना का अवकाश देता है। ऐसे कल्याणस्वरूप संघ की भक्ति करना, उपासना करना सभी का परम कर्तव्य है।

फलश्रुति के रूप में प्रस्तुत प्रकरण का सारांश है—

- जिस संघ की महिमा का वर्णन करने में बृहस्पति की वाणी भी असमर्थ है, वह पापहारी संघ सत्पुरुषों के चरणन्यास से पवित्र बना हुआ है।
- संघभक्ति का मुख्य फल है—अर्हत् आदि पदवी की प्राप्ति और प्रासंगिक फल है—चक्रवर्तित्व, इन्द्रत्व आदि पदों की प्राप्ति।
- संघ की भक्ति से भौतिक लाभों के अतिरिक्त आध्यात्मिक लाभ भी अनेक हैं। उनमें मुख्य हैं—रत्नत्रयी की साधना, वीतरागता की उपलब्धि तथा समस्त कर्मों से मुक्ति इत्यादि।
- संघ अनेक गुणों का आलय है, इसलिए वह अनुपमेय और अतुलनीय है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०.अवबोध

मनोविज्ञान ने मनुष्य की चौदह मौलिकवृत्तियों को स्वीकार किया है। उनमें जिजीविषा भी एक मूलप्रवृत्ति है। दसवैकालिकसूत्र में कहा गया—**'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'**—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। यह आगमवाक्य उसी जिजीविषा का एक पुष्ट प्रमाण है। व्यक्ति स्वयं तो जीना चाहे और वह दूसरों को मारने का प्रयत्न करे, वह अहिंसा कैसे हो सकती है? गांधीजी ने कहा था—'उस जीवन को नष्ट करने का किसी को कोई अधिकार नहीं, यदि उसमें उसको बनाने की शक्ति नहीं है।' आत्मतुला की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं। सभी में चेतना है। एक चींटी से लेकर हाथी तक की आत्मा को स्थूलता अथवा सूक्ष्मता की दृष्टि से बांट कर नहीं देखा जा सकता। आत्मा का प्रकाश चींटी के छोटे-से शरीर में भी सिमट सकता है, वही प्रकाश हाथी के विशाल शरीर में भी फैल सकता है। यह संकोच-विस्तार आत्मशक्ति में निहित है। किसी जीव को मारने का किसी को अधिकार नहीं है, फिर भी वह दूसरों को मारता है, सताता है, उनको अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करता है, उन पर हुकूमत करता है और उनकी सत्ता का हनन करता है।

भारतीय संविधान में प्रत्येक मनुष्य को जीने का समान अधिकार है। उस अधिकार का उल्लंघन होने पर व्यक्ति कानून की दृष्टि से अपराधी माना जाता है और अपराध सिद्ध होने पर वह दंडित भी होता है। आश्चर्य है कि वह अधिकार पशु-पक्षी जगत् तथा वनस्पतिजगत् से सर्वथा अछूता है। वह वहां लागू ही नहीं होता। मनुष्य जब चाहे जैसा चाहे कभी भी उनके साथ अमानवीय व्यवहार कर सकता है। वहां मनुष्य की करुणा सूख जाती है और क्रूरता हावी हो जाती है। क्या पशु-पक्षियों को जीने का अधिकार नहीं है? क्या उनमें आत्मा नहीं है? क्या उन्हें सुख प्रिय नहीं है? क्या उनका जीवन दूसरों के लिए है? उन निरीह मूक प्राणियों की पुकार सुने भी तो कौन सुने? उनकी पुकार को वे ही व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुन सकते हैं जिनके अन्तःकरण में संवेदना होती है, करुणा होती है और जिनमें अहिंसा का अमृतरस छलकता है। हिंसक व्यक्ति सोच ही नहीं सकता कि परहिंसा भी हिंसा होती है। इसी संदर्भ में शेखसादी ने लिखा था—'तुम्हारे पैर के नीचे दबी हुई चींटी का वही हाल होता है, जो हाल हाथी के पैर के नीचे दबने से तुम्हारा होता है।' यह आत्मानुभूति, आत्मतुला का अनुभव उसी व्यक्ति को हो सकता है जो आत्मा के स्तर पर जीता है। इसलिए आचारांगसूत्र में कहा गया—**'तुमंसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि।'** तू जिसे मारना चाहता है वह तू ही है अर्थात् उसकी आत्मा और तेरी आत्मा समान हैं।

जहां हिंसा का भाव होता है वहां क्रूरता की व्याप्ति होती है। उसके बिना हिंसा हो नहीं सकती। आज संसार में हिंसा की समस्या है तो उससे जटिल समस्या है क्रूरता की।

यह भी उतना ही सत्य है कि एक देहधारी प्राणी हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। उसे अपने जीवन-यापन के लिए हिंसा का आश्रय लेना होता है। हिंसा होना एक बात है, जान बूझकर किसी की हिंसा करना दूसरी बात है। कार्य के आधार पर हिंसा को भी तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—आरम्भजा, विरोधजा और संकल्पजा। गृहस्थ जीवन चलाने के लिए कृषि, व्यापार आदि में जो हिंसा होती है वह आरम्भजा हिंसा है। शत्रु द्वारा आक्रमण किए जाने पर प्रतिरक्षा के लिए जो हिंसा की जाती है वह विरोधजा हिंसा है। मानसिक संकल्पपूर्वक किसी जीव का वध करना संकल्पजा हिंसा है। तीनों प्रकार की हिंसा में आज संकल्पजा हिंसा मनुष्य के लिए अभिशाप बन रही है। आरम्भजा और विरोधजा हिंसा अर्थहिंसा (अनिवार्य हिंसा) है और संकल्पजा हिंसा अनर्थहिंसा (निरर्थक हिंसा) है। एक गृहस्थ के लिए अनिवार्य हिंसा से बचना अशक्य है, पर साधु के लिए वह हिंसा भी सर्वथा त्याज्य होती है। गृहस्थ उस हिंसा से सर्वथा उपरत नहीं हो सकता। मन में तब आश्चर्य होता है, पीड़ा भी होती है जब मनुष्य निष्प्रयोजन और निष्कारण ही निरर्थक हिंसा में प्रवृत्त होता है। इस अनावश्यक और निरर्थक हिंसा के कारण न जाने कितने-कितने निरपराध, निरीह और मूक प्राणी अकारण ही बलिवेदी पर चढ़ जाते हैं। महात्मा गांधी अहिंसा के प्रयोक्ता थे। उन्होंने निरर्थक हिंसा को कभी प्रश्रय नहीं दिया। कभी-कभी गांधीजी आवश्यकता से अधिक एक भी दातून तोड़ने पर सामने वाले व्यक्ति को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कड़े से कड़ा उपालम्भ भी दे देते थे।

आज हिंसा के कारण अनेक समस्याएं बढ़ रही हैं। इसी असंयम को ध्यान में रखकर आचारांगसूत्र में कहा गया— **'एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।'** हिंसा ग्रन्थि है, हिंसा मोह है, हिंसा मृत्यु है, हिंसा नरक है। हिंसा की निष्पत्ति मृत्यु और नरक है, फिर भी मनुष्य हिंसा को नहीं छोड़ पा रहा है। उसका मूल कारण लोभ की वृत्ति है। मनुष्य का सारा ध्यान अर्थ पर केन्द्रित है। अर्थार्जन की पृष्ठभूमि में सुख-सुविधा, बड़प्पन की भावना, अधिक संग्रह करने की मनोवृत्ति आदि जुड़ी हुई हैं। उन्हीं कारणों से व्यक्ति प्राणियों की हिंसा करता है। उनका विस्तृत उल्लेख आचारांगसूत्र में है—

- कुछ व्यक्ति रसों में गृद्ध होकर हिंसा करते हैं।
- कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का वध करते हैं।
- कुछ लोग आजीविका-उपार्जन के साधन मांस, चर्म, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, विषाण—हस्तिदन्त, दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों का वध करते हैं।
- कुछ व्यक्ति प्रयोजनवश तथा कुछ अप्रयोजनवश प्राणियों की हिंसा करते हैं।
- कुछ व्यक्ति हास्य, वैर, प्रतिशोध और कामनावश हिंसा करते हैं।
- कुछ व्यक्ति (ये मेरे या मेरे स्वजन वर्ग की) हिंसा करेंगे, इस संभावना से प्राणियों की हिंसा करते हैं अथवा (ये मेरे स्वजन वर्ग की) हिंसा कर रहे हैं, यह सोचकर प्राणियों की हिंसा करते हैं।

इस प्रकार इस संसार में निरन्तर हिंसा का चक्र चल रहा है। मनुष्य कायिक हिंसा में तो प्रवृत्त है ही, पर वह मानसिक और वाचिक हिंसा से भी अछूता नहीं है। मनुष्य को कायिक हिंसा आवश्यक-अनावश्यक— दोनों स्थितियों में करनी पड़ती है, पर मानसिक अथवा भावात्मक हिंसा तथा वाचिक हिंसा का क्रम तो उसके चलता ही रहता है। किसी के प्रति ईर्ष्या, किसी के प्रति अनिष्ट चिन्तन, निषेधात्मक भावों में जीना, परसंपत्ति में मत्सरभाव रखना आदि मानसिक (भावात्मक) हिंसा के ही परिणाम हैं। किसी को गाली देना, कटुशब्दों अथवा अपशब्दों का प्रयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना, किसी का अपमान करना, तिरस्कार करना आदि—ये सब वाचिक हिंसा के प्रकार हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक हिंसा में भी मानसिक हिंसा कर्मबन्धन के लिए अधिक उत्तरदायी है।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र अपनी हिंसाजन्य भावधारा के कारण प्रथम नरक से सातवीं नरक के कर्मबन्ध तक पहुंच गए। पुनः वे अहिंसा मूलक भावधारा से सर्वथा कर्ममुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त बन गए।

लवणसमुद्र के मगरमच्छ की भौंहों में रहने वाला तन्दुल मत्स्य अतिसूक्ष्म होता है। वह सोचता है कि मगरमच्छ का मुंह खुला हुआ है। इसके मुंह में कितनी मछलियां आ-जा रही हैं, फिर भी यह इनको नहीं खा रहा है। यदि मैं इसके स्थान पर होता तो एक भी मछली को बिना खाए नहीं छोड़ता। सबको अपना भक्ष्य बना लेता। इन हिंसाजन्य भावपरिणामों से वह सूक्ष्म जीव भी सातवीं नरक के कर्मबन्ध का उपार्जन कर लेता है और वह दुर्गति को प्राप्त होता है।

सभी प्रकार की (मानसिक, वाचिक, कायिक) हिंसा से उपरत होना मनुष्य की अशक्यता है, किन्तु हिंसा को हिंसा न मानना दोहरी भूल है। मनुष्य हिंसा का कार्य भी करता है और उसे अहिंसा मानता है, यह कैसा विपर्यय है? जहर जहर ही होता है, वह कभी अमृत नहीं हो सकता। जहर को अमृत मानकर भी उसका कभी पान नहीं किया जा सकता। अज्ञान-वश यदि कोई उसको पीता भी है तो वह उसके लिए प्राण-घातक बनता है। आचार्य भिक्षु ने इस संदर्भ में कहा था—अन्य वस्तुओं में मिश्रण हो सकता है पर अहिंसा और हिंसा का मिश्रण कभी नहीं हो सकता अर्थात् हिंसा कभी अहिंसा नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम के मार्ग परस्पर कैसे मिल सकते हैं? जैसे धूप और छांव अलग-अलग हैं, वे दोनों आपस में कभी नहीं मिलते वैसे ही हिंसा में अहिंसा और अहिंसा में हिंसा का मिश्रण नहीं हो सकता। इसलिए धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा कभी अहिंसा नहीं हो सकती। एकेन्द्रिय आदि छोटे जीवों को मारकर पंचेन्द्रिय जीवों का पोषण करना भी अहिंसा नहीं है। बहुतों के लिए की जाने वाली अल्प हिंसा भी अहिंसा नहीं है।

जो लोग हिंसा में धर्म की प्ररूपणा करते हैं, हिंसा में धर्म मानते हैं वे अपने मिथ्याभ्रम और मिथ्यादृष्टि को ही बढ़ावा देते हैं। उससे अहिंसा कभी फलित होने वाली नहीं है।

आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत 'अहिंसा प्रकरण' में हिंसा में धर्म की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता का खंडन करते हुए बहुत ही सटीक शब्दों में कहा है—यदि पत्थर पानी में तैरने लग जाए, सूर्य पश्चिम दिशा में उगने लग जाए, अग्नि शीतल हो जाए, पृथ्वी समस्त जगत् के ऊपर भी आ जाए तब भी हिंसा में किसी भी प्रकार और कहीं भी धर्म होने वाला नहीं है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा—जो लोग हिंसा में धर्म कहते हैं वे अग्नि से कमलवन, सूर्यास्त होने पर दिन, सर्प के मुख से अमृत, विवाद से साधुवाद, अजीर्ण से रोगोपशमन और कालकूट विष से जीवन धारण करने की अभिलाषा करते हैं।

जिस प्रकार असंभव को संभव नहीं बनाया जा सकता और अनहोनी में होने की कल्पना को साकार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार हिंसा में धर्म को नहीं देखा जा सकता। वह तो मात्र पानी में लकीर खींचने के समान है। यदि हिंसा में धर्म होता तो जल मथने पर भी घी निकल आता। शाश्वत सत्य मनुष्य की मानी हुई मान्यताओं अथवा स्वार्थों की सीमाओं में कभी आबद्ध नहीं होता। वह त्रैकालिक होता है। इसलिए अहिंसा धर्म त्रैकालिक है।

जैन आगमों में यत्र-तत्र अहिंसा के स्वरूप का विशद वर्णन हुआ है। उसके कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

'एस धम्मे धुवे, णिइए सासए'—यह अहिंसा धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।

'अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो'—सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है।

'मेत्तिं भूएसु कप्पए'—सब प्राणियों के प्रति मैत्री रखना अहिंसा है।

'अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया'—अहिंसा का सिद्धान्त सबसे बड़ा विज्ञान है।

'अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं'—शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होता है। अशस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण नहीं होता, वह एकरूप रहता है। अहिंसा अशस्त्र है। वह सब प्राणियों के प्रति समान रहती है।

जैन आगम प्रश्नव्याकरणसूत्र के छठे अध्ययन में अहिंसा का महिमा-मंडन विस्तार से मिलता है—वह भगवती अहिंसा सभी त्रस-स्थावर प्राणियों का क्षेम करने वाली है। वह प्राणियों के लिए वैसे ही आधारभूत है जैसे भयभीत प्राणियों के लिए शरणस्थल, पक्षियों के लिए गगन, प्यासे प्राणियों के लिए जल, भूखों के लिए भोजन, समुद्र के मध्य जाने वालों के लिए पोत, चतुष्पदों के लिए आश्रयपद, दुःखार्त्त मनुष्यों के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औषधिबल, अटवी के मध्य गमन करने वालों के लिए सार्थ।

ज्ञानार्णव में अहिंसा की स्तुति में कहा गया—

'अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।
अहिंसैव गतिः साध्वी, श्रीरहिंसैव शाश्वती।।'

अहिंसा ही जगत् की माता है, अहिंसा ही आनन्द का मार्ग है, अहिंसा ही उत्तम गति है एवं अहिंसा ही शाश्वत लक्ष्मी है।

अहिंसा धर्म का व्यापकरूप है। उसमें सभी धर्म वैसे ही विलीन हो जाते हैं, जैसे नदियां समुद्र में। आज अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर भी संसार में हिंसा का ताण्डव कम नहीं है। चारों ओर बर्बरता, क्रूरता, मार-काट, छीना-झपटी, अमानवीय व्यवहार, हत्या आदि की घटनाएं घटित हो रही हैं। व्यक्ति का सारा ध्यान हिंसा की ओर केन्द्रित है। आज जरूरत है हिंसा के उन कारणों के खोज की, जिनसे मनुष्य हिंसा में व्यापृत होता है अथवा उसके भीतर हिंसाजनक मनोभावों का निर्माण होता है। व्यावहारिकस्तर पर कारणों की खोज की जाए तो आज की मुख्य समस्याएं हैं—बेरोजगारी, भूखमरी, दरिद्रता आदि। इनके वशीभूत होकर मनुष्य हिंसा में उतरता है। मानसिकस्तर पर यदि कारणों की खोज की जाए तो उसमें अनेक अभिमत सामने आते हैं—

- आनुवंशिकी वैज्ञानिक हिंसा के लिए जीवन को उत्तरदायी मानते हैं।
- मनोवैज्ञानिक तथा रसायन वैज्ञानिक मौलिक मनोवृत्ति को हिंसा की जड़ मानते हैं।
- परिवेश वैज्ञानिक हिंसा का मूल परिवेश और वातावरण स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि बच्चे को जैसा परिवेश, जैसा वातावरण मिलता है वह वैसा ही सीख जाता है। हिंसाजन्य परिस्थिति अथवा हिंसाजन्य वातावरण बच्चे को हिंसा कराना सिखा देता है और धार्मिक वातावरण बच्चे को धार्मिक बना देता है।
- जैन दार्शनिकों का अभिमत है कि हिंसा का मूल कारण है—कर्म। जिसका जैसा कर्म—संस्कार होता है वह वैसा ही निर्मित हो जाता है।

इस प्रकार नानाविध कारणों में किसी एक कारण को सार्वभौम नहीं कहा जा सकता। जीन भी एक कारण है, परिवेश और मौलिक मनोवृत्ति भी एक कारण है और कर्म भी एक कारण है। अनेक घटकतत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब आपस में मिलते हैं तब घटना घटित होती है। इस प्रकार हिंसा के अनेक तत्त्व मिलकर हिंसा को जन्म देते हैं।

अहिंसा के विकास के लिए मानवीय मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना अति आवश्यक है। उसके बिना हिंसा को उपशान्त नहीं किया जा सकता। उसके लिए जरूरी है कि मनुष्य अपने आवेगों-संवेगों पर नियंत्रण करने का अभ्यास करे, अपने परिवेश और वातावरण को स्वच्छ बनाने का प्रयास करे तथा भावात्मक परिवर्तन लाने के लिए ध्यान और जागरूकता का विकास करे। उन प्रयासों से हिंसा भी कम होगी और अहिंसा को भी तेजस्वी बनाया जा सकेगा। ये सारे प्रयत्न अहिंसा के मूल्यांकन के लिए पारसमणि के समान सिद्ध होंगे।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अहिंसा को अमृत से उपमित करते हुए कहा—**'अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः'**—इस संसाररूपी मरुस्थली में अहिंसा ही अमृत का झरना है। गौतमऋषि कहते हैं—**'अमयं अहिंसा'**—अर्थात् अहिंसा अमृत है। वह अहिंसा ही शुष्क मानस को सरसब्ज बना सकती है और वह अहिंसारूप अमृत हिंसा से अमरत्व प्रदान कर सकता है। जिसके जीवन में अहिंसा का आचरण होता है वह अनायास ही शान्ति को पा लेता है। अहिंसा और शान्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों में भेदरेखा नहीं खींची जा सकती। अहिंसा के लिए शान्ति और शान्ति के लिए अहिंसा अनिवार्य है।

पातंजलयोगदर्शन में कहा गया—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरपरित्यागः।'** अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर साधक के निकटस्थ प्राणियों में परस्पर वैर नहीं रहता।

प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य है—

- आत्मतुला की कसौटी पर सब प्राणियों को देखना।
- विधेयात्मक भावों में जीने का अभ्यास तथा निषेधात्मक भावों का परिहार।
- अहिंसा के विकास के लिए करुणा, मैत्री, सौहार्द तथा शान्ति का विकास।
- मानवीय मस्तिष्क तथा रसायनों के परिवर्तन के लिए अहिंसा का शिक्षण-प्रशिक्षण।
- शाश्वत मूल्यों को आत्मसात् करना और शाश्वत में अशाश्वत का आरोपण न करना।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११.अवबोध

महात्मा गांधी ने कहा था—'सत्य एक विशाल वृक्ष है। ज्यो-ज्यों उसकी सेवा की जाती है, त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते हुए नजर आते हैं। उनका कभी अन्त नहीं होता।'

सत्य की साधना करना एक दुष्कर तप है। इसलिए नीतिकार कहते हैं—**'सत्यं चेत् तपसा च किम्'**—यदि एक सत्य साध लिया जाता है तो अन्य तपस्या से क्या? सत्य में सभी तपस्याओं का समावेश हो जाता है। संत तुलसीदास ने लिखा—

'सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप।।'

जिसके हृदय में सत्य का निवास होता है उसी के हृदय में भगवान बसते हैं। इसलिए सत्य के बराबर कोई तप नहीं है और झूठ के बराबर कोई पाप नहीं है। इसी तथ्य का प्रकारान्तर से महाभारत में भी उल्लेख मिलता है—**'नास्ति सत्यात् परो धर्मो, नानृतात् पातकं परम्'**—सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है। इसलिए सत्य धर्म है, तप है, योग है, सनातन ब्रह्म है और उत्कृष्ट यज्ञ है। सब कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित है। इस संसार में **'सत्यमेव जयते नानृतम्'**—'सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। इसी प्रसंग में गांधीजी ने कहा था—'जिसकी श्रद्धा हमेशा सत्य की विजय में रहती है उसके शब्दकोष में 'हार' शब्द मिल ही नहीं सकता।' सत्य का सबसे बड़ा अभिनन्दन है—सत्य पर चलना। सत्य का पालन करने वाला दुनिया का सबसे बड़ा मालिक होता है।

ग्रीस के तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने कहा था—**'सत्यं शिवं सुन्दरम्।'** शिव और सुन्दर के मूल में सत्य का होना परम आवश्यक है। कोरा शिव अथवा कोरा सुन्दर तब तक मन को अच्छा नहीं लगता जब तक उसमें सत्य का प्रवेश न हो।

शास्त्रों में सत्य को शरण कहा गया है। जो व्यक्ति सत्य की शरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में चला जाता है वह सब भयों से मुक्त हो जाता है। इसलिए नीतिकार कहते हैं—**'सत्ये नास्ति भयं किञ्चित्'**—सत्य में किंचित् भी भय नहीं होता। इन्हीं शब्दों में पाश्चात्य विचारक रस्किन ने कहा—'जो सत्य को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर लेता है, उसे कदापि डरने की जरूरत नहीं है। वह सर्वदा अजेय रहता है।' जीवन के हर मोड़ पर सत्य की आवश्यकता होती है। सत्य को स्वीकार करने का अर्थ है—भगवान की ओर मुड़ना। कविमानस ने इसी प्रसंग को स्पष्ट करते हुए लिखा—

'अर्थ सत्य रो वास्तविक, प्रकृतसरलता जाण।
शुद्ध सरलता में सदा, बसे सत्य भगवान।।
पढ्या लिख्या तर्कां मझै, करे सत्य री खोज।
रच-रच कर पोथ्यां करे, व्यर्थ जगत् में बोझ।।'

जहां प्रकृति की सरलता, शुद्धता होती है वहीं वास्तव में सत्य होता है, वहीं भगवान का निवास होता है। जो व्यक्ति तर्क और बुद्धि के स्तर पर सत्य को खोजने का प्रयत्न करते हैं और ग्रन्थों का निर्माण करते हैं, वे केवल इस जगत् में भारभूत हैं।

इसलिए निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है—सत्य सर्वोत्कृष्ट है। जो सर्वोत्कृष्ट है वही सत्य का स्वरूप है।

आज हम जिस जगत् में जी रहे हैं वहां असत्य का स्वर बुलन्द है और सत्य का स्वर मन्द है। व्यक्ति का मानना है कि इस संसार में असत्य के बिना जीया नहीं जा सकता। इसलिए वह असत्य की वैसाखी के सहारे चला जा रहा है, सत्य को दरकिनार कर रहा है। जिज्ञासा होती है, ऐसा क्यों? जब कि भगवान महावीर ने **'सच्चं भयवं'**—सत्य को भगवान कहा है, **'सच्चं लोयम्मि सारभूयं'**—सत्य को लोक में सारभूत कहा है। गौतमकुलक में **'सरणं तु सच्चं'**—सत्य को शरण कहा है। यदि सत्य भगवान है, सत्य सारभूत है, सत्य शरण है तो क्या व्यक्ति असत्य को अपना कर अपने भगवान को नहीं ठुकरा रहा है? क्या वह असत्य बोलकर निस्सार का संचय नहीं कर रहा है? क्या वह सत्य की शरण छोड़कर अशरण में तो नहीं जा रहा है? मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए, अर्थ की अंधी दौड़ में क्या कुछ नहीं करता? वह उनके लिए अपने भगवान को भी बेच देता है, असार वस्तु को भी अपना लेता है और पराई शरण में भी चला जाता है।

पूज्य गुरुदेव तुलसी ने सत्य-महिमा का यशोगान करते हुए लिखा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सत्य से बढ़कर जगत् में कौन सत्पथ और है ।
और सब पगडंडियां यह राजपथ की दौड़ है ।।'

इस जगत् में सत्य से बढ़कर अन्य कोई सत्पथ नहीं है। उस पर चलने का तात्पर्य है—राजपथ पर चलना। जो व्यक्ति सत्य को छोड़कर असत्य को स्वीकार करता है वह राजपथ को छोड़कर पगडंडियों पर चलता है। पगडंडियां कंटकाकीर्ण और भटकाने वाली होती हैं। वे निश्चित रूप से किसी को अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकती। सत्य के राजपथ पर चलने वाला निश्चित ही अपनी मंजिल को पा लेता है।

जैन आगम प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य की महिमा का विशद वर्णन है। उसकी महाशक्ति का परिचय कुछ-एक अंशों में इस प्रकार है—

- सत्य के प्रभाव से दिग्भ्रान्त बने हुए पोत महासमुद्र के मध्य में भी स्थिर रहते हैं, डूबते नहीं।
- सत्यवादी मनुष्य घोर वध, बन्ध, अभियोग और वैर से मुक्त हो जाते हैं। वे शत्रुओं के मध्य जाकर भी निर्दोष लौट आते हैं।
- जो सत्यवचन में रत हैं उनका देव भी सान्निध्य करते हैं।
- सत्यवादी पर्वत की मेखलाओं से गिराए जाने पर भी बच जाते हैं, मरते नहीं।
- सत्यवचन में रत व्यक्तियों को अग्नि, पानी, शस्त्र तथा अन्यान्य उपद्रवों का भय नहीं रहता।

इस प्रकार सत्य-महिमा के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो आगम ग्रन्थों में यत्र-तत्र विखरे हुए हैं।

काव्यप्रणेता सूरीश्वर सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण में सत्य की महिमा का मंडन किया है। उसका आधार आगमग्रन्थ ही है। ग्रन्थकार ने सत्यमहिमा के अतिरिक्त असत्यवचन के दुष्परिणामों का भी सोदाहरण उल्लेख किया है। वे कहते हैं—असत्यवचन यश को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे वन की अग्नि अरण्य को। मिथ्यावचन वैसे ही दुःख की उत्पत्ति का कारण बनता है, जैसे जल वृक्षों की उत्पत्ति का। असत्य में उसी प्रकार तप और संयम की बात नहीं होती, जैसे सूर्य के आतप में छाया।

सत्य के मार्ग पर चलना कठिन होता है, उसमें अनेक बाधाएं भी व्यक्ति को विचलित करने का प्रयत्न करती हैं। किन्तु जो व्यक्ति उन बाधाओं को चीर कर आगे बढ़ जाता है वह कुन्दन की भांति निखर जाता है, सत्य में स्थित हो जाता है। गौतम कुलक में कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सच्चेट्ठियस्स भयए सिरी य।' सत्य में स्थित व्यक्ति को श्री की प्राप्ति होती है। आज के प्रवंचनायुक्त संसार में सत्यनिष्ठ व्यक्ति की पहचान करना भी जोखिमभरा कार्य है। कौन व्यक्ति सत्यनिष्ठ है और कौन असत्यनिष्ठ, इसे जानना भी कठिन है। फिर भी व्यक्ति का सत्ययुक्त आचरण उसकी पहचान का हेतु बनता है। पाश्चात्य विचारक राबर्टसन (Robertson) ने इस प्रसंग में कहा है—'सत्य आचरण में निहित होता है, क्योंकि सत्य ऐसी चीज है, जो शब्दों की नहीं, किन्तु जीवन जीने की और अस्तित्व की वस्तु है।'

सत्यवादी का जीवन खुली पुस्तक के समान होता है। उसमें कहीं भी गुप्तता अथवा प्रच्छन्नता नहीं होती। वह जो कहता है, वही करता है। मुंह से निकला हुआ उसका प्रत्येक शब्द पहले सत्य की तुला पर तुलता है, फिर वह पूरा होने तक टिका रहता है। वह जैसा देखता है, सुनता है, अनुमान करता है उसी के अनुरूप वह दूसरों को समझाने का प्रयत्न करता है। वह अपनी ओर से उसे बढा-चढाकर अथवा उसमें कुछ मिलाकर प्रस्तुत नहीं करता। वह किसी स्वार्थवश अथवा लोभवश, भयवश, आवेशवश और द्वेषवश असत्य का व्यवहार नहीं करता, न वह कभी अपने दोषों को छिपाता है।

ये सत्यता की कुछ ऐसी कसौटियां हैं जिनसे सत्यवादी का सत्यापन किया जा सकता है। स्थानांगसूत्र में भगवान महावीर ने सत्यस्थित व्यक्ति की पहचान के लिए चार बिन्दु प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने चार प्रकार के सत्य बतलाए हैं—**'चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—काउज्जुययया, भासुज्जुययया, भावुज्जुययया, अविसंवायणाजोगे।'**

जीवन में सत्य चार प्रकार से प्रतिष्ठित होता है—

- काया की सरलता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाले काया के संकेत।
- भाषा की सरलता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली वाणी का प्रयोग।
- भाव की सरलता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली मन की प्रवृत्ति।
- अविसंवादनायोग—अविरोधी, धोखा न देने वाली या प्रतिज्ञात अर्थ को निभाने वाली प्रवृत्ति।

जिसमें ये चारों प्रकार की ऋजुताएं होती हैं वह सत्य में प्रतिष्ठित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य अपने आप में अखंड होता है। उसे खंड-खंड कर नहीं देखा जा सकता। मनुष्य के मन की भूमिकाएं भिन्न-भिन्न होती हैं, दृष्टि भी समान नहीं होती और अपेक्षाएं भी सबके पृथक्-पृथक् होती हैं, इस तरतमता के आधार पर सत्य भी अनेक रूपों में बंटकर प्रतिबिम्बित हो जाता है। सत्यशोधक केवल सत्य के बिम्ब को पकड़ता है। वह सत्य के प्रतिबिम्बों में नहीं उलझता। सत्य की अभिव्यक्ति अनेक कोणों से, अनेक अपेक्षाओं से हो सकती है। सबको मिलाने पर उसका रूप एक ही होता है, इसलिए कहा गया—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**--विद्वान् एक ही सत्य को अनेक प्रकार से कहते हैं। कहने वाला स्वतंत्र होता है, किन्तु सत्य को पकड़ने वाला अपनी सत्यनिष्ठ विवेकबुद्धि का उपयोग करता है। सत्य क्या है और असत्य क्या है? यह क्षीर-नीर का भेद सत्यवादी पुरुष ही कर सकता है। इसलिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया—**'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'**—स्वयं सत्य खोजो। किसी के भरोसे मत रहो। किसी के कुछ कहने-सुनने अथवा किसी के आचरित सत्य को देखने से वही सत्य नहीं होता। उसकी खोज का बिन्दु अपने से प्रारंभ होता है। जो सत्य को आत्मसात् कर लेता है वह सत्यरूप मोतियों को खोजता रहता है।

सत्य अपरिमेय, अतुलनीय, अनिर्वचनीय और अजेय होता है। उसकी शक्ति के सामने असत्य की शक्ति वैसे ही तिरोहित हो जाती है जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार की शक्ति। सत्य की अतुलनीयता का वर्णन करते हुए महाभारत में कहा गया—

'अश्वमेधसहस्रं तु सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।।'

तराजू के एक पलड़े में एक हजार अश्वमेध यज्ञों का फल स्थित है, दूसरे पलड़े में एक सत्य है। दोनों को तोलने पर हजार अश्वमेध यज्ञों की तुलना में सत्य का पलड़ा भारी रहेगा।

यह सत्य की शक्ति का चमत्कार है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया—लोक में जितने भी मंत्र, तन्त्र, यन्त्र, विद्या, योग, जप, जृम्भक, अस्त्र, शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं वे सभी सत्य के धरातल पर अवस्थित हैं। उनकी सिद्धि सत्य की शक्ति से ही हो सकती है। असत्य में वैसी शक्ति नहीं होती। शेखसादी ने इस सन्दर्भ में कहा था—'झूठ बोलना वक्र तलवार से कटे हुए घाव के समान है। घाव फिर भी भर जाता है, किन्तु उसका दाग शेष रह जाता है।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संसार में उन्हीं लोगों को याद किया जाता है जिनके पास सत्य का बल होता है, उन्हीं लोगों को सम्मान दिया जाता है जो जीवनभर सत्य की राह पर चलते हैं, क्योंकि सत्य में हजार हाथियों के बराबर बल होता है। सत्यवादी कभी झूठी प्रतिज्ञा नहीं करते। प्रतिज्ञा का पालन करना ही उनकी महानता का लक्षण है। इसलिए वाल्मीकि रामायण में कहा गया—

'नहि प्रतिज्ञां कुर्वन्ति वितथां सत्यवादिनः।
लक्षणं हि महत्त्वस्य, प्रतिज्ञापरिपालनम् ।।'

राजा हरिश्चन्द्र सत्यप्रण निभाने के कारण सत्यवादी कहलाए। राजा वसु अपनी असत्यवादिता के कारण पथभ्रष्ट हुए। कमल सेठ सत्य का पक्ष लेकर सत्यवादी के रूप में प्रसिद्ध हुए। सत्यवादिता के ऐसे अनेक उदाहरणों का साक्ष्य है—भारतीय और जैन इतिहास।

जो सत्यवादी होता है वह दूसरों के लिए आदर्श होता है, अनुकरणीय होता है। उसमें अनेक गुणों का समावेश होता है। जैसा कि भक्तपरिज्ञा में कहा गया—

'विसस्सणिज्जो माया व होइ, पुज्जो गुरु व लोअस्स ।
सयणुव्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स पियो होई ।।'

सत्यवादी माता की तरह विश्वसनीय होता है, गुरु की तरह लोगों के लिए पूजनीय होता है तथा स्वजन की तरह वह सभी को प्रिय होता है।

व्यक्ति सत्य के पथ पर चलना चाहता है, किन्तु असत्य की घेराबन्दी उसे अपने पथ से च्युत कर देती है। भीतर में राग-द्वेष की आग सुलग रही है, जो प्रतिपल सत्य को भस्म कर रही है। उस स्थिति में सत्य की साधना कैसे हो सकती है?

दसवैकालिकसूत्र में असत्य बोलने के चार कारण बतलाए गए हैं—**'से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा'**—क्रोध से, लोभ से, भय से, और हास्य से।

क्रोध में व्यक्ति को सत्य-असत्य का विवेक नहीं रहता। उस समय वह प्रायः झूठ ही बोलता है। लोभ भी असत्य-आचरण का बहुत बड़ा निमित्त बनता है। गलत कार्य करके उसको छिपाने का मनोभाव, कहीं किसी को पता न लग जाए, इस भय से भी मनुष्य असत्य बोलता है। झूठ बोलने से पूर्व भय, झूठ बोलते समय भी भय और झूठ बोलने के पश्चात् भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भय बना रहता है। हंसी-मजाक में तो मनुष्य कितनी बार असत्य-भाषण का प्रयोग कर लेता है। शास्त्रों में असत्य को निकृति—माया कहा गया है। एक असत्य को छिपाने के लिए मनुष्य कितनी बार असत्य का सहारा लेता है। जो व्यक्ति सत्य की ओर प्रेरित होता है वहां विवेक-चेतना का जागरण अति आवश्यक है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में उसी विवेक-चेतना का उल्लेख मिलता है—**'सच्चं च हियं च मियं च गाहणं च।'** सत्यवचन ऐसा होना चाहिए, जो हित, मित और ग्राह्य हो। वह सत्य भी नहीं बोलना चाहिए जो संयम में उपरोध करने वाला हो, हिंसा और सावद्य प्रवृत्ति से युक्त हो, मनभेद करने वाला, प्रयोजनशून्य, विकथाकारी और कलह कराने वाला हो। भाषा-विवेक के विषय में मनुस्मृति में कहा गया—

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं तु नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।'

मनुष्य सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय-सत्य न बोले और असत्य तो प्रिय होने पर भी न बोले—यह सनातन धर्म है।

इस प्रकार विवेकशून्यता से बोला गया सत्य असत्य से भी भयंकर हानिकर हो सकता है।

सब जगह स्पष्टवादिता भी अच्छी नहीं होती। वह भी वहीं शोभित होती है जिसमें विवेक और मर्यादा का अनुशासन होता है। सत्य के आधार है—सत्यवाणी, सत्यव्यवहार, सत्यविचार और सत्यआचरण। ये सब ऋजुता, सरलता से ही फलित होते हैं। सत्य से भिन्न ऋजुता और ऋजुता से भिन्न सत्य नहीं हो सकता। कायऋजुता, भावऋजुता और भाषा की ऋजुता—इस त्रयी की साधना करना ही सत्य का रूप है भगवान महावीर ने कहा—**'सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ'**—जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित होता है वह मेधावी पुरुष मृत्यु के क्षण को भी पार कर जाता है।

सत्यवचन की निष्पत्ति है—

- विश्वास का अर्जन तथा ऋजुता की साधना।
- आत्मोन्मुखी दिशा की ओर प्रस्थान।
- अभय का विकास, कहने में निर्भीकता।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२.अवबोध

इस संसार में जीने वाला व्यक्ति द्वन्द्वात्मक जीवन जीता है। एक ओर असीम कामनाएं मक्खियों की भांति भिनभिना रही हैं, दूसरी ओर भीतर में तृष्णा की ज्वाला भभक रही है। व्यक्ति एक कामना को पूरी करता है, दूसरी कामना तत्काल सामने आ जाती है। एक के बाद एक इच्छाओं का चक्र चलता रहता है। जीवनभर मनुष्य कामनाओं की पूर्ति करता है, फिर भी तृष्णा का महासमुद्र कभी तृप्त नहीं होता। वह सदा अपूर्ण का अपूर्ण रहता है। भगवान महावीर के शब्दों में—**'इच्छा उ आगाससमा अणंतिया'**—इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। उनका कभी अन्त नहीं होता। तृष्णा की ज्वाला भी लाभ के जल से कभी उपशान्त होने वाली नहीं है। वह और अधिक विकराल बनने वाली है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है, किन्तु अनपेक्षित कामनाओं को पूरा करना आवश्यक नहीं है। प्रथम दृष्टि में मनुष्य के लिए भोजन, पानी, वस्त्र और मकान आदि आवश्यक हैं, किन्तु सुख-सुविधा, ऐश्वर्य-विलासिता के साधनों को जुटाना अनिवार्य नहीं है। जब जीवनोपयोगी अत्यन्त अनिवार्य वस्तुओं का अभाव होता है अथवा भीतर में तृष्णा का ज्वार उमड़ता है तब व्यक्ति उनको पाने के लिए अनर्थ कार्यों में प्रवृत्त होता है। अभाव की स्थिति में गरीबी, दरिद्रता, भुखमरी और बेरोजगारी पनपती है। अत्यधिक तृष्णा की स्थिति में पूंजीपति, धनकुबेर बनने की कामना जागती है। पेट भरने के लिए किसी को चोरी जैसा जघन्य कार्य करना पड़े, यह उसकी विवशता हो सकती है, पर अत्यधिक संग्रह के लिए चोरी जैसा अकरणीय कार्य करना पड़े, यह विवशता कैसे हो सकती है?

अर्थशास्त्र का एक नियम है—जब वस्तु की अधिकता होती है तब मांग (Demand) कम होती है और खपत कम होती है। जब वस्तु का अभाव होता है तब मांग अधिक होती है और खपत अधिक होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकारान्तर से इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि यदि उपभोक्ता अधिक हैं, उपभोग्य सामग्री कम है तो वहां मांग (Demand) अधिक होगी, वस्तु का अभाव होगा। प्रकृति के साधनों को कभी बढ़ाया नहीं जा सकता। वे सीमित ही होते हैं। इस संदर्भ में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. मार्शल ने कहा था—'प्रकृति की मेज सीमित अतिथियों के लिए लगी हुई है। वहां बिना निमंत्रण के जो भी आएगा वह अवश्य ही भूखा रहेगा।' वस्तुएं सीमित और उपभोक्ता अधिक होने पर प्रकृति में सन्तुलन स्थापित नहीं हो सकता। वस्तु के अभाव अथवा प्रभाव की स्थिति में मुख्यतया तीन बातें फलित होती हैं—

- अनर्थ कार्यों में प्रवृत्ति। जैसे—अदत्तादान–बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण (चौर्यकर्म), डकैती, लूटपाट आदि।
- बलपूर्वक दूसरों पर आधिपत्य।
- ऐश्वर्य-विलासिता के अधिक से अधिक साधनों को जुटाने का प्रयत्न।

अदत्तादान का मूल है—दूसरों के धन के प्रति अभिलाषात्मक लोभ। वह किसी में कम तो किसी में अधिक होता है। वह लोभ ही मनुष्य को चौर्यकर्म के लिए अभिप्रेरित करता है। चोरी करने वाला स्वतन्त्र होता है। वह धन पाने के लिए गरीब-अमीर के बीच भेदरेखा नहीं खींचता। वह जैसा अवसर देखता है उसी के अनुरूप धन का हरण कर लेता है। जिसका धन चुराया जाता है उस पर क्या बीतती है, वही जान सकता है। इसी आशय से योगशास्त्र में कहा गया है–

'एकस्यैकक्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने।।'

मारे जाने वाले अकेले जीव को ही क्षणभर के लिए दुःख का अनुभव होता है, किन्तु जिसका धन हरण किया जाता है वह व्यक्ति तथा उसके पुत्र और पौत्र जीवनपर्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं।

जैन आगम प्रश्नव्याकरण सूत्र के तीसरे अध्ययन में चोरी के कारणों का उल्लेख है। उसमें कहा है—वे ही मनुष्य चोरी करते हैं जिनका अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं है, जो सुख के वशवर्ती हैं, विषयों की परवशता से पीड़ित बने हुए हैं, सघन मोह से मूढ हैं तथा जो दूसरों के धन में लुब्ध हैं। वे धन की प्राप्ति में अपनी संतुष्टि मानते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया—**'अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आययई अदत्तं'। जो असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होता है वही व्यक्ति दूसरों की वस्तुओं को चुराता है।

चौर्यकर्म में प्रवृत्त मनुष्य केवल धन का ही हरण नहीं करते अपितु वे अन्यान्य असत् प्रवृत्तियां—जलाना, प्राणिवध करना, भयभीत करना, मार-पीट करना, बन्धन में बांधना, व्यक्ति का अपहरण करना, त्रास देना आदि भी करते हैं।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में चोरी तथा चोरी करने वालों के प्रकार और उनके पकड़े जाने पर उनकी क्या दुर्दशा होती है आदि विषयों का भी विस्तार से प्रतिपादन है। चोरों की क्या दुर्दशा होती है, उसका संक्षिप्त-सा निदर्शन इस प्रकार है—चोरों का अंग भंग कर दिया जाता है। उनको वृक्ष की शाखाओं से बान्धकर लटकाया जाता है। दोनों हाथ-पैरों को गाढ बन्धन से बान्ध दिया जाता है। पर्वत के शिखर से उनको धकेला जाता है। चोरों के नेत्र, वृषण, होठ, नासिका आदि अवयव काट दिए जाते हैं। उनका मुंह काला कर गली-गली में घुमाया जाता है, फिर श्मशान भूमि में ले जाकर उनको शूली पर लटकाया जाता है।

चोरी करना एक अनार्य कर्म है। वह अप्रीति उत्पन्न करने वाला है। सभी के द्वारा निन्दनीय है। चोरी का परिणाम क्रूर और भयंकर होता है, फिर भी व्यक्ति धन के प्रति मूर्च्छा और तीव्र लोभ के कारण चौर्यकर्म को नहीं छोड़ पाता। जिन्हें परधन के स्वाद का चस्का लग जाता है वे बदनामी से भी नहीं डरते। उन्हें अकृत्य कार्य करते हुए लज्जा का भी अनुभव नहीं होता। वे इस भव में भी दुःख को प्राप्त करते हैं और परभव में भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

भगवान महावीर ने मुनि के लिए सर्वथा अदत्तादान के वर्जन का उपदेश दिया है। दसवैकालिकसूत्र में कहा है—**'से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा**.....।' संयमी मुनि स्वामी की अनुमति के बिना गांव में, नगर में या अरण्य में कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी वस्तु का ग्रहण न करे।

प्रामाणिकता और अस्तेय का परस्पर गहरा संबंध है। प्रामाणिकता की साधना भी बिना अस्तेय की साधना के सफल नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अस्तेयव्रत की अखंड आराधना करता है उसके प्रामाणिकता की साधना सहज सध जाती है। आगमों में कहा गया है—कोई मुनि किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के घर से सीने के लिए सूई मांगकर लाता है, यदि वह उससे काटा निकालता तो उसे अप्रामाणिकता का दोष लगता है। वह उससे सीने का काम ही कर सकता है। यह उसकी प्रामाणिकता है। यदि कोई सूई से सीने का काम भी करता है और उससे कांटा भी निकालता है तो उसमें अस्तेयव्रत के भंग होने का दोष लगता है।

एक गृहस्थ श्रावक सम्पूर्णरूप से अस्तेयव्रत का पालन नहीं कर सकता। वह केवल स्थूल चौर्यकर्म से ही उपरत होता है। उसका वह अस्तेय अणुव्रत कहलाता है।

प्रस्तुत 'अस्तेय प्रकरण' में आचार्य सोमप्रभ ने भी चौर्यकर्म को अनेक उपमाओं से उपमित करते हुए उसके दुष्परिणामों की चर्चा की है तथा उसे त्याज्य बतलाया है। वे इस विषय में कहते हैं—चौर्यकर्म दूसरों के मन को पीड़ा पहुंचाने के लिए क्रीडावन है। वह हिंसा का उत्पत्तिस्थल है। पृथ्वी पर फैलने वाली विपत्तिरूप लताओं के लिए वह मेघपटल है। वह कुगति में ले जाने का मार्ग है तथा स्वर्ग और मोक्षरूप नगर के लिए आगल के समान है, इसलिए हित चाहने वाले मनुष्यों को इसका वर्जन करना चाहिए।

इसी प्रकार सूरीश्वर ने 'अस्तेयव्रत' की स्तुति करते हुए लिखा है—जो व्यक्ति अदत्त का ग्रहण नहीं करता उसमें कल्याण की परम्परा वैसे ही निवास करती है, जैसे कमल पर राजहंसी। उससे विपत्ति वैसे ही दूर चली जाती है, जैसे सूर्य से रात्री। स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी उसकी वैसे ही उपासना करती है, जैसे विद्या विनीत की।

जो व्यक्ति स्तेयप्रवृत्ति को छोड़कर अस्तेय में रमण करते हैं वे उस चक्षु को पा लेते हैं, जो आकांक्षाओं का अन्तक है। इसलिए भगवान महावीर ने ठीक ही कहा—**'से हु चक्खू मणुस्साणं जे कंखाए य अंतए।'**

निष्पत्ति के रूप में अस्तेयव्रत की साधना का फलित है—

- प्रामाणिकता का विकास।
- तनावमुक्त जीवन जीने का अभ्यास।
- सुगति की उपलब्धि।
- यश-कीर्ति का उपचय।
- दूसरों को अभय-दान।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३.अवबोध

भगवान महावीर के अन्तेवासी गणधर गौतम ने जिज्ञासा की—भगवन्! **'तवेसु किं उत्तमं?'** तप में उत्तम तप क्या है? भगवान ने कहा—**तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं।'** तप में उत्तम तप ब्रह्मचर्य है।

पुनः मन में प्रश्न उभरता है कि ब्रह्मचर्य की साधना में सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि कुछ भी सहन नहीं करना होता, फिर वह उत्तम तप कैसे? प्रश्नव्याकरणसूत्र (९/४) में इसका सुन्दर समाधान मिलता है—जो व्यक्ति एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेता है उसके शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता, गुप्ति आदि सभी व्रत-गुणों की आराधना हो जाती है। उसके भंग होने पर वे सभी गुण खंडित और विनष्ट हो जाते हैं। इसके आधार पर ब्रह्मचर्य को उत्तम तप कहा जा सकता है। ब्रह्मचर्य की साधना अन्तर तप की साधना है। इसमें अन्तरात्मा को तपाना पड़ता है।

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य और शील–दोनों शब्द प्रचलित हैं। शील शब्द व्यापक अर्थ में लिया जाता है। उसके अनेक अर्थ हैं—चारित्र, नैतिक, सिद्धान्त, स्वभाव, सदाचार और ब्रह्मचर्य आदि। प्रस्तुत प्रकरण में शील का अर्थ ब्रह्मचर्य के अर्थ में प्रयुक्त है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्मणि चरणमिति ब्रह्मचर्यम्। अर्थात् ब्रह्म में आचरण करना। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा और चरण का अर्थ है गति। आत्मा की ओर गति करना, अन्तर्मुखी बनना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म के अन्य अर्थ हैं-ज्ञान, परमात्मा और गुरुकुलवास। प्राचीन परम्परा में विद्यार्थी उपनयन के अनन्तर गुरुकुलवास में रहकर विद्याध्ययन करता था। वह वहां की चर्या का विशेषरूप से पालन करता था। उसे इन्द्रिय-संयम और मन का संयम करना होता था। अतः इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है—**'इन्द्रियमनःसंयमो ब्रह्मचर्यम्'**—इन्द्रिय और मन का संयम करना ब्रह्मचर्य है। मनोनुशासन में ब्रह्मचर्य की परिभाषा इस प्रकार है—**'वस्तीन्द्रियमनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम्'**—जननेन्द्रिय, इन्द्रियसमूह और मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। महात्मा गांधी ने इस विषय में कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था—'सभी इन्द्रियों और सम्पूर्ण विकारों पर अधिकार कर लेना ह ब्रह्मचर्य है।'

जैन आगमों, वेदों, उपनिषद्, गीता तथा स्मृतियों में ब्रह्मचर्यमहिम का प्रचुरता से मंडन हुआ है—किसी ने ब्रह्मचर्य को उत्कृष्ट तप माना है तो किसी ने उत्कृष्ट व्रत। किसी ने ब्रह्मचर्य को सर्वोत्कृष्ट तीर्थ कहा है त किसी ने उत्कृष्ट शक्ति कहकर संबोधित किया है। किसी ने ब्रह्मचर्य क परम भूषण से अलंकृत किया है तो किसी ने यज्ञ और मौन की अभिध से अभिहित किया है।

प्रश्नव्याकरण (९/४) में ब्रह्मचर्य के महत्त्व को दर्शाते हुए बतलाय गया है—ब्रह्मचर्य भगवान है। वह ग्रहगण-नक्षत्र-ताराओं में चन्द्रमा के समान है। वह चन्द्रकान्तमणि, मोती, प्रवाल व पद्मराग आदि रत्नों के उत्पत्ति-स्थानों में समुद्र के तुल्य है। जैसे मणियों में वैडूर्यमणि, आभूषणे में मुकुट, वस्त्रों में क्षोमयुगल, पुष्पों में अरविन्द, चन्दनों में गोशीर्ष नदियों में शीतोदा, समुद्रों में स्वयंभूरमण, हाथियों में ऐरावत जंगली पशुओं में सिंह, सभाओं में सुधर्मा सभा, मुनियों में तीर्थंकर पर्वतों में मन्दरगिरि, वनों में नन्दनवन उत्कृष्ट हैं वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत श्रेष्ठ है।

सभी शास्त्रों में ब्रह्मचर्य का अत्यधिक महिमा-मंडन होने पर भी व्यक्ति ब्रह्मचर्य की साधना को इच्छाओं का दमन मानता है। फ्रायड आदि कुछ-एक मानसशास्त्री काम को मौलिक मनोवृत्ति मानते हैं। उनकी दृष्टि में काम शरीर की स्वाभाविक मांग है। उसे रोका नहीं जा सकता। जो व्यक्ति उस मांग को पूरा नहीं करते वे या तो अर्धविक्षिप्त होते हैं या वे महायोगी बनते हैं।

अब्रह्मचर्य का संबन्ध शरीरतुष्टि और मनस्तुष्टि दोनों से जुड़ा हुआ है, इसलिए वह रतिक्रिया में प्रवृत्त होता है।

शरीरशास्त्रीय अध्ययन के अनुसार मनुष्य जैसा भी भोजन करता है वह रस, असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य—इन सात धातुओं में परिणत होता है। उसकी आदि परिणति रस है और अन्तिम परिणति वीर्य है। शरीर में सब धातुओं का अपने-अपने स्थान में मूल्य है, किन्तु सबसे अधिक मूल्य वीर्य का है। वही एक ऐसी धातु है जो स्वयं के सदृश अन्य सन्तान को उत्पन्न कर सकती है। वीर्य वीर्याशय में रहता है और वह रक्त के साथ भी रहता है।

कामवासना की स्थिति में जननेन्द्रिय के द्वारा वीर्य का क्षरण होना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा मैथुनक्रिया में वीर्य का क्षय किया जाना ही अब्रह्मचर्य है। यदि कोई व्यक्ति ऊर्ध्वरेता होकर उसे ओजरूप में परिणत कर लेता है तो वह उसके लिए उतना ही लाभप्रद बन जाता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नहीं होता, वह सब धातुओं का सार होता है।

चिकित्सा-विज्ञान मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति में यौन-हार्मोन्स (Sex-Hormones) का स्राव होता रहता है। बचपन में पीनियल ग्रन्थि की सक्रियता के कारण उसे रोक लिया जाता है। जब बालक बचपन से तरुण अवस्था को प्राप्त होता है तब पीनियल ग्रन्थि निष्क्रिय हो जाती है, यौन-हार्मोन्स के स्राव, उत्तेजना के स्राव नीचे आने लगते हैं। वे हार्मोन्स गोनड (Gonad) में आकर उसे उत्तेजित करते हैं, कामग्रन्थि को प्रभावित करते हैं। उसका परिणाम होता है कामवासना का उभरना।

गौतमकुलक में कहा गया है—**'मूढा नरा कामपरा हवंति'**—मूढ व्यक्ति कामपरायण होते हैं। जो व्यक्ति कामभोगों को सुख मानकर उनके पीछे रात-दिन दौड़ते हैं वे व्यक्ति शास्त्रीय भाषा में मूढ कहलाते हैं। काम क्या है? इस विषय में कहा गया—**'मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्ते शब्द-रस-रूप-गन्ध-स्पर्शा इति कामाः'**—'मोह के उदय से अभिभूत प्राणियों द्वारा शब्द, रस, रूप, गन्ध, और स्पर्श—इन इन्द्रियविषयों के उपभोग की कामना की जाए वह काम है।'

मनुष्य कामनाओं के चक्रव्यूह में फंसा हुआ है। समस्त इन्द्रियों—स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र के विषयों का आकर्षण उसे अपनी ओर खींच रहा है। फिर भी सहज ही मन में एक प्रश्न उठता है कि भीतर में ऐसा कौन-सा घटक तत्त्व विद्यमान है जिसकी प्रेरणा से मनुष्य शब्दादिक विषयों में प्रवृत्त होता है, मन के कथनानुसार कार्य करता है। इस प्रश्न का उत्तर कर्मशास्त्रीय और शरीरशास्त्रीय—दोनों भाषाओं में खोजा जा सकता है। कर्मशास्त्रीय भाषा के अनुसार वह सब मोहकर्म की प्रबलता के कारण होता है। वही सबको संचालित कर रहा है। उसके तीन हेतु होते हैं—कामराग, स्नेहराग तथा दृष्टिराग। व्यक्ति आंखों से किसी के प्रिय-अप्रिय रूप को निहारता है। प्रिय रूप को देखते ही व्यक्ति में काम का संवेग जाग जाता है। इसलिए यह कहना संगत है कि दृष्टि का रूप के साथ गहरा संबन्ध जुड़ा हुआ है। तत्त्वजिज्ञासा में बहुधा चर्चा की जाती है कि पांच इन्द्रियों में कामी इन्द्रियां कौन-सी और भोगी इन्द्रियां कौन-सी? समाधान की भाषा में चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय को कामी इन्द्रियां माना गया है, क्योंकि ये दोनों इन्द्रियां कामोत्पत्ति में मुख्यतया सहायक बनती हैं। शेष तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियां—स्पर्श, रस और घ्राण भोगी इन्द्रियां हैं।

भगवतीसूत्र (शतक ७ सूत्र १३१, १३६) में काम और भोग के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—**'कतिविहा णं भंते! कामा पण्णत्ता?'** भन्ते! काम कितने प्रकार के कहे गए हैं?

'गोयमा! दुविहा कामा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा य रूवा य इति।' गौतम! काम दो प्रकार के हैं—शब्द और रूप।

'कतिविहा णं भंते! भोगा पण्णत्ता?' भन्ते! भोग कितने प्रकार के कहे हैं? **'गोयमा! तिविहा भोगा पण्णत्ता, तं जहा—गंधा, रसा, फासा।'** गौतम! भोग तीन प्रकार के बताए हैं—गन्ध, रस और स्पर्श। समुच्चय में कामभोग पांचों ही हो सकते हैं।

रूप का जादू मनुष्य को सबसे अधिक कामभोगों में फंसाने वाला होता है। रूप के वशीभूत होकर व्यक्ति क्या कुछ नहीं करता? अनेक शृंगारप्रधान काव्यों में कामनियों के नेत्रों को बाणों की संज्ञा दी गई है। नेत्रों के बाण कितने तीक्ष्ण होते हैं? उन बाणों से आहत होकर बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि अपने साधनापथ से च्युत हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में संत रहिमन ने ठीक ही कहा—

'रहिमन तीर की चोट से, चोट खाय बचि जाय।
नैन बाण की चोट से, धन्वन्तरि न बचाय।।'

मनुष्य दूसरी-दूसरी चोटों से अपने आपको बचा लेता है। किन्तु स्त्री के नेत्र-बाणों की चोट ऐसी घातक होती है, उससे आहत व्यक्ति धन्वन्तरि के बचाने से भी नहीं बच सकता।

यह रूप की मादकता मनुष्य को मूढ बनाती है, अपनी ओर आकर्षित करती है, यह एक वास्तविक सचाई है। पर उसका आकर्षण क्यों होता है? इसका उत्तर विज्ञान में निहित है। वैज्ञानिक मानते हैं कि नारी के शरीर से एक प्रकार की गन्ध निकलती रहती है। इसे 'फेरोमोन' कहते हैं। इस सुगन्ध के कण हवा में तैरते रहते हैं। उसके कारण पुरुष अज्ञात रूप से उसकी ओर आकृष्ट होता रहता है। उसमें एक प्रकार से काम का आकर्षण होता है। वह आकर्षण प्राणिजगत् में मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी तथा छोटे जीवजन्तुओं–मधुमक्खी, चींटी व रेशम के कीड़ों तक में पाया जाता है। उस पदार्थ को बाबीकॉल भी कहते हैं। इसलिए जैन आगमों में मुनि के लिए सुगन्धित पदार्थों के सेवन का सर्वथा परिवर्जन किया गया है, क्योंकि गन्ध भी मन को कामाकुल बनाती है।

शब्दों का संसार भी बड़ा विचित्र होता है। उसका अपना अलग जादू

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। शब्द भी काम का उद्दीपन करते हैं। इसलिए उत्तराध्ययन आदि जैन आगमों में मुनि के लिए स्त्रियों के श्रोत्रग्राह्य शब्द—कूजन, रोदन, क्रन्दन तथा मधुर गीत आदि शब्दों को सुनने का निषेध किया गया है, मुनि के लिए वैसे स्थान में रहने का भी वर्जन किया गया है जहां से उस प्रकार के शब्दों के कानों में पड़ने पर ब्रह्मचर्य के भंग की आशंका हो सकती है। शब्दसंगीत के माध्यम से ही सर्प, हरिण आदि जीवों को शब्दान्ध बनाकर अपने पाश में बांधा जाता है। इसलिए शब्द भी कामोत्पत्ति में सहायक बनते हैं।

रसना का और जननेन्द्रिय का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। जीभ की तृप्ति के लिए किया हुआ अतिमात्र और प्रणीत आहार तथा अत्यधिक खट्टा-मीठा-चरपरा तथा नमकीनयुक्त भोजन कामवासना को उद्दीप्त करता है। उस प्रकार के आहार से अपान वायु दूषित होती है, पेट में भारीपन का अनुभव होता है, मलावरोध होता है, कुवासना की जागृति होती है, वीर्य पर अधिक चाप होता है और उससे वीर्य की क्षति होती है। इसलिए दसवैकालिकसूत्र (५।२।४२) में मुनि के लिए **'पणीयं वज्जए रसं'**—प्रणीतरस का वर्जन किया गया है।

स्पर्शेन्द्रियजन्य काम सबसे अधिक प्रबल होता है। वह मनुष्यों को कामविह्वल बनाता है। उसे कामराग अथवा मदनकाम से भी अभिहित किया जा सकता है।

स्नेहराग भी काम को बढाने वाला है। गृहस्थों के साथ, फिर चाहे वे पुरुष हों या स्त्री हों रागात्मक परिचय करना ब्रह्मचारी के लिए हानिप्रद है। इसलिए दसवैकालिकसूत्र (८।५२) में कहा गया—**'गिहिसंथवं न कुज्जा'**— मुनि गृहस्थों से संस्तव—संसर्ग या परिचय न करे।

इस प्रकार इच्छाकाम अथवा मदनकाम—दोनों ही ब्रह्मचर्य की हानि करते हैं, काम को उभारते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र (९।५३) में कामदोषों के विषय में कहा गया—

'सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं।।'

काम-भोग शल्य के समान हैं, विष के समान हैं और आशीविष सर्प के समान हैं। काम-भोगों की इच्छा करने वाले उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार खून से सने हुए वस्त्रों का खून से कभी परिष्कार नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता उसी प्रकार काम का काम से उपचार नहीं हो सकता। इसी संदर्भ में मनुस्मृति में कहा गया—

'ना जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।'

काम की अग्नि कभी काम के उपभोग से शान्त नहीं होती, प्रत्युत वह वैसे ही भभकती है जैसे अग्नि घी डालने पर।

इसलिए ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम अपने आपको अब्रह्मचर्य के निमित्तों से बचाता है।

मूलतः व्यक्ति का स्वयं का संकल्प ही कामतरंग को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी होता है। वही संकल्प मन-मस्तिष्क को प्रभावित करता है। उसके बाद वह भोग के रूप में परिणत होता है। एक साधक ने काम को संबोधित करते हुए कहा—

'काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि।।'

हे काम! मैं तेरे स्वरूप को जानता हूं। तू संकल्प से उत्पन्न होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा तो तू मुझ में उत्पन्न ही नहीं होगा।

आज के मानसशास्त्री मानते हैं कि व्यक्ति में काम का तनाव सबसे अधिक होता है। जब सारी चेतना काम-केन्द्र के आस-पास होती है तब मन में काम का संकल्प जागता है और व्यक्ति उसके प्रवाह में बह जाता है। एक गृहस्थ को परिवार की परम्परा को बढ़ाने के लिए काम-भोगों का सेवन करना पड़ता है, यह उसकी उपयोगिता अथवा अनिवार्यता हो सकती है, किन्तु कामान्धता के कारण व्यक्ति अपनी कुल-मर्यादाओं को भी ताक पर रख दे, अपनी परम्पराओं का सर्वथा लोप कर दे तो वह व्यक्ति पशु से भी गया-बीता होता है।

आज के युग की अहं समस्या है—अतिकामुकता और कामान्धता। कामान्ध व्यक्ति केवल काम को ही देखता है, उसके परिणाम को नहीं देखता। काम आपात रमणीय हो सकते हैं, किन्तु उनका परिणाम सरस नहीं होता। वे शारीरिक और मानसिक—दोनों शक्तियों को क्षीण करते हैं। अतिकामुक व्यक्ति में न तो किसी का भय होता है और न ही किसी की लज्जा-शर्म होती है। आज समाज में स्वच्छन्द कामप्रवृत्ति बढ रही है। उसके कारण बलात्कार, यौनविकृति आदि प्रवृत्तियां पनप रही हैं। काम को पाने के लिए व्यक्ति बड़े से बड़ा अनर्थ कर सकता है। वह हत्या, मारकाट, चोरी, डकैती आदि जघन्य अपराधों में भी चला जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। कहना चाहिए कि आज की हिंसा का एक मुख्य कारण कामप्रवृत्ति भी है।

पश्चिम के कुछ काममनोविज्ञानी डॉक्टर (Sex Psychologist) अतिकाम प्रवृत्ति को मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति मानते थे। उन्होंने अपनी इस मान्यता का परीक्षण के रूप में लोगों पर प्रयोग भी किया, पर उसका परिणाम सकारात्मक नहीं आया। तब उन डॉक्टरों को भी अपनी विचारधारा में परिवर्तन करना पड़ा। **'साइकॉलाजी एण्ड मॉरल्स'** नामक पुस्तक में मनोविज्ञानवेत्ता प्रो. हेडफील्ड ने लिखा है—'स्वच्छन्द यौनाचरण का परामर्श देना व्यक्ति को विनाश के मार्ग की ओर धकेलने की विधि है।'

इसलिए नीतिकार कहते हैं कि कामान्ध मनुष्य की कोई चिकित्सा नहीं है। कामान्ध व्यक्ति कामभोगों के प्राप्त न होने पर **'से सोयइ, जूरति तिप्पति पिड्डति परितप्पति'** शोक करता है, खिन्न होता है, कुपित होता है, आंसू बहाता है, पीड़ा और परिताप का अनुभव करता है।

काव्यरचयिता आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्मचर्य के प्रभावों का प्रभावी ढंग से वर्णन किया है। वे लिखते हैं—शील के प्रभाव से अग्नि जल की भांति शीतल हो जाती है, सर्प पुष्पमाला के समान तथा सिंह हरिणसम बन जाता है। दुष्ट हाथी घोड़े के समान आचरण करता है और पर्वत पाषाणखंड के समान प्रतीत होता है। विष अमृततुल्य और विघ्न उत्सव जैसा लगता है। शत्रु प्रियजन, समुद्र क्रीडासरोवर और अटवी स्वगृह के समान दिखाई देते हैं। शील के आचरण से प्राकृतिक विपदाएं तथा पशुजन्य उपद्रव शान्त होते हैं, देवता शीलधारी मनुष्यों की सहायता करते हैं। उनके श्रेयस् और कीर्ति का विस्तार और धर्म का उपचय होता है।

सूरीश्वर ने प्रस्तुत संदर्भ में शीलभंग के दुष्परिणामों की भी चर्चा की है—शीलभंग करने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम अपने कुल की निर्मलता पर कालिख पोतता है, अपने चारित्र को तिलांजलि देता है, जगत् में अपने अपयश के पटह को बजाता है, बिना निमन्त्रण के आपदाओं को आमन्त्रण देता है, गुणरूप उपवन को दवाग्नि लगाता है और स्वयं के लिए मुक्ति का द्वार बन्द करता है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि शील का पालन करना एक दुष्कर कार्य है। वह किसी अजेय व्यक्ति के द्वारा ही शक्य हो सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। कोई वीर व्यक्ति ही उसकी अनुपालना कर सकता है, इसलिए नीतिकार कहते हैं–

'शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा ?
मनोजबाणैर्व्यथितो न यस्तु।।'

प्रश्न हुआ कि वीरों में सबसे बड़ा वीर कौन? इसके उत्तर में कहा गया कि जो कामबाणों से व्यथित न हो। जैसे हाथी का भार हाथी ही उठा सकता है वैसे ही घोर ब्रह्मचर्य का पालन भी कोई शूरवीर ही कर सकता है। स्थूलभद्र जैसे महामुनि कोशा वेश्या के घर चातुर्मासिक प्रवास के लिए रहे, षड्रसयुक्त भोजन का ग्रहण किया, प्रतिदिन वेश्या के हाव-भाव चेष्टाओं का नेत्रपान किया तथा कामोद्दीपक गीत-संगीत का श्रवण किया, फिर भी वे काजल की कोठरी से बेदाग होकर निकल गए, विचलन की पगडंडियों में जाने पर भी अविचल रहे और अग्नि की महाज्वाला में तप कर कुन्दन की भांति निखर गए।

वे अजेय और महान् योद्धा स्थूलभद्र ही हो सकते हैं। इसलिए भगवान महावीर ने कहा–**'इत्थिओ जे ण सेवंति, आदिमोक्खा हु ते जणा।'** जो व्यक्ति कामवासना से मुक्त होते हैं वे मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में है।

इस दुनिया में विचलित करने वालों की भी कमी नहीं है और विचलन करने वाले साधनों का भी अभाव नहीं है। जब तक जीवन है तब तक निमित्त मिलते ही रहेंगे। फिर भी एक ब्रह्मचारी को सदैव जागरूकता का जीवन जीना आवश्यक है। जैसे मुर्गी के बच्चे को सदा बिलाव का डर लगा रहता है वैसे ही ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से डरते रहना चाहिए।

संयमी मुनि अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा शील की नवबाड़ों से करे। एक गृहस्थ श्रावक स्वदार-सन्तोष में रहकर परस्त्रीगमन और वेश्यागमन का वर्जन करे तथा अप्राकृतिक मैथुन से बचे।

फलश्रुति के रूप में ब्रह्मचर्यव्रत का फलित है–

- मनोबल, धृतिबल का विकास।
- आत्मविश्वास का उन्नयन।
- स्नायविक शक्ति का पोषण।
- मस्तिष्क शक्ति का जागरण।
- ऊर्ध्वरेता की ओर अभिगमन।
- आध्यात्मिक शक्तियों का विकास।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४.अवबोध

जहां जीवन है वहां आवश्यकता है। जहां आवश्यकता है वहां परिग्रह है। मनुष्य को जीवन-यापन के लिए परिग्रह चाहिए। इस जगत् में ऐसा प्राणी ढूंढने पर भी नहीं मिलेगा जो सभी प्रकार के परिग्रह से मुक्त हो। भगवतीसूत्र में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाए हैं—कर्म परिग्रह, शरीर परिग्रह और उपकरण परिग्रह—जमीन, जायदाद, धन, जेवर आदि। शरीर धारण करने वाला कर्म और शरीर के परिग्रह को नहीं छोड़ सकता। भंड-उपकरण आदि का परिग्रह भी जीवन-निर्वाह के लिए साधक बनता है, इसलिए उससे भी सर्वथा निर्मुक्त नहीं हुआ जा सकता। आदिम काल में शायद परिग्रह का दायरा उतना बड़ा नहीं था जितना आज है, क्योंकि उस समय आवश्यकताओं की बहुलता नहीं थी। ज्यों-ज्यों आवश्यकताओं का विस्तार हुआ, परिग्रह का दायरा भी बढ़ता गया। वास्तव में परिग्रह के विस्तार का अर्थ है—ममत्व का विस्तार।

परिग्रह केवल वर्तमान के लिए ही नहीं होता, वह भविष्य के लिए भी होता है। इस प्रसंग में गांधीजी ने कहा था—'परिग्रह का अर्थ है—भविष्य के लिए प्रबन्धन करना।' जो व्यक्ति सत्यान्वेषी तथा धर्म का अनुयायी होता है वह कल के लिए किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करता। 'कल मेरा क्या होगा?' यह भविष्य की चिन्ता ही मनुष्य में संग्रह की मनोवृत्ति का निर्माण करती है। 'अब मै क्या करुंगा ?' यह आशंका ही पदार्थ के प्रति मूढ़ता और ममत्व का विस्तार करती है।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि विकास के लिए इच्छाओं को बढ़ाओ, महत्त्वाकांक्षी बनो तभी तुम विकास के शिखर को छू सकते हो। पदार्थ के उपभोग के मुख्यतया दो ही आधार हैं—एक है आकांक्षा, दूसरी है आवश्यकता।

आवश्यकताओं की पतंग आकांक्षाओं की डोर से बन्धकर ही जीवन के आकाश में उड़ रही है। उसे जितनी ढील दी जाती है वह उतनी ही दूरी माप लेती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार की भाषा में धन-संपत्ति आदि को परिग्रह कहा जाता है, किन्तु निश्चय में पदार्थमात्र के प्रति लालसा या आसक्ति का होना ही परिग्रह है। भगवान महावीर के शब्दों में—ममत्व की बुद्धि अथवा मेरापन परिग्रह को बढ़ावा देते हैं। जहां मेरापन या ममत्व होता है वहां मूर्च्छा और आसक्ति उत्पन्न होती है। वह आसक्ति या मूर्च्छा ही परिग्रह का हेतु बनती है अथवा वही आसक्ति या मूर्च्छा परिग्रह कहलाती है।

दसवैकालिकसूत्र (६।२०) में कहा गया—**'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।'** मूर्च्छा—आसक्ति ही परिग्रह है।

ज्ञानसार में कहा गया—**'मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः'**—मूर्च्छारहित पुरुषों के लिए तीनों लोकों का ऐश्वर्य भी अपरिग्रह है।

यह मूर्च्छा या आसक्ति ही व्यक्ति में संग्रह की मनोवृत्ति का निर्माण करती है। चाहे वह संग्रह व्यक्तिगत हो, समाजगत हो अथवा राष्ट्रगत हो। सभी तरह का संग्रह दोषपूर्ण होता है। शान्तसुधारस काव्य (४/३) में कहा गया—

'यस्य यावान् परपरिग्रह-विविधममतावीवधः।
जलधिविनिहितपोतयुक्त्या पतति तावदऽसावधः।।'

जिस व्यक्ति के पास परवस्तु के परिग्रह से होने वाली नाना प्रकार की ममताओं का जितना भार होता है वह व्यक्ति समुद्र में उतारी हुई नौका की भांति उतना ही नीचे चला जाता है।

संग्रहकर्ता मधुमक्खी के समान होता है। मधुमक्खियां भी भावी जीवन की आशा से मधु का संचय करती हैं। किन्तु जब वह करा-कराया संग्रह किसी दूसरे के हाथ में चला जाता है तब वह आशा धरी की धरी रह जाती है। संग्रहकर्ताओं पर तब क्या बीतती होगी, जब उनका धन सहसा चोरी, डकैती में चला जाता है अथवा सरकारी कर्मचारियों के द्वारा छीन लिया जाता है।

आज की अहं समस्या है—आवश्यकताओं की अपरिमितता और आसक्ति की प्रबलता। आवश्यकताएं आगे से आगे बढ़ती जा रही हैं और आसक्ति अपनी चरम सीमा को छू रही है। इस आसक्ति के कारण ही व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह कर रहा है, दूसरों का शोषण कर रहा है। वह अपनी प्रत्येक आवश्यक-अनावश्यक जरूरतों को पूरा करने के लिए अशुद्ध साधनों को काम में ले रहा है। उसी का परिणाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि आज समाज में चारों ओर विषमता व्याप्त है, आर्थिक सन्तुलन बिगड़ रहा है। एक ओर व्यक्ति गरीबी की रेखा के नीचे जी रहा है। उसे चाहने पर भी दो जून रोटी नसीब नहीं होती। दूसरी ओर वे व्यक्ति भी हैं जो ठाठ-बाट तथा ऐश्वर्य-विलासयुक्त जीवन जीते हैं। उनके चरणों में अपार धन लुठ रहा है।

साम्यवादी विचारधारा के सूत्रधार मार्क्स ने धन को केन्द्रबिन्दु मानकर समाज-विषमता को मिटाने का प्रयत्न किया। किन्तु वे अपने मिशन में सफल नहीं हो सके। समाजवाद विचारधारा ने भी समाज से गरीबी हटाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे भी सफलता नहीं मिली। कुछ लोगों ने अर्थ को धर्म के साथ जोड़ा तब महामंत्री कौटिल्य ने कहा था—'कोई काम को, कोई मोक्ष को और कोई धर्म को प्रधान मानता है, पर मैं अर्थ को प्रधान मानता हूं।' अर्थ है तो सब कुछ है। अर्थ नहीं है तो कुछ नहीं है। आज अर्थ का इतना अधिक प्रभुत्व बढ़ा है कि धर्म-कर्म सबको उसके साथ जोड़ा जा रहा है।

परिग्रह के प्रति मूर्च्छा, लोभ-चेतना का उदय तथा संग्रह की मनोवृत्ति—ये सब चारों ओर से परिग्रह को निमन्त्रण दे रहे हैं। उसी के कारण मनुष्य अनेक जघन्य अपराधों में प्रवृत्त होता है। भगवान महावीर से जिज्ञासा की गई—भंते! हिंसा परिग्रह के लिए है अथवा हिंसा हिंसा के लिए? भगवान ने उत्तर देते हुए कहा—हिंसा परिग्रह के लिए होती है। परिग्रह के बिना हिंसा का कोई प्रयोजन नहीं होता। इसलिए परिग्रह के साथ हिंसा का संबंध जुड़ा हुआ है, हिंसा के लिए परिग्रह नहीं है। परिग्रह और हिंसा—दोनों एक ही वस्त्र के दो अंचल हैं। परिग्रह कहां नहीं है? समाधान देते हुए कहा गया—वह देव, मनुष्य और असुर—तीनों लोकों में विद्यमान है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है—'नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि।' सम्पूर्णलोक में सब जीवों के परिग्रह सदृश कोई पाश और प्रतिबन्ध नहीं है। उस परिग्रह का स्वरूप भी बड़ा विचित्र है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में उसे एक वृक्ष के रूपक से समझाया गया है—परिग्रह वृक्ष का मूल है, जो अपरिमित अनन्त तृष्णा से अनुगत तथा महेच्छा का सारभूत अशुभ फल है। उसका महान् स्कन्ध है—लोभ, कलि और कषाय। सैंकड़ों चिन्ताओं से विस्तारित उसकी शाखाएं हैं। गौरव उन शाखाओं का फैलाव है। माया उसके त्वचा, पत्र, और पल्लव हैं। कामभोग उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्प और फल हैं। शारीरिक और मानसिक खिन्नता उसका अग्र-शिखर है। कलह उसे प्रकम्पित कर रहा है। वह नरपतियों द्वारा संपूजित और बहुजनों का हृदयवल्लभ है। वह मुक्तिमार्ग के अवरोध के लिए अर्गला है।

इस प्रकार परिग्रह जहां जीवन का आधार है वहां वह आसक्तिरूप में कर्म-बन्धन का भी हेतु बनता है। राग-द्वेष और मोह उस परिग्रह की आसक्ति को उत्पन्न कर रहे हैं। एक प्रकार से अनादिकालीन दुःखों का चक्र घूम रहा है। उसके केन्द्र में मोह अपना आधिपत्य जमाए हुए बैठा है। वह तृष्णा को उत्पन्न कर रहा है और तृष्णा मोह को पैदा कर रही है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया—

'मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो।।'

जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया।

तृष्णा की भयानकता को दर्शाते हुए उत्तराध्ययन में कहा है— **'भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया।'** इस संसार की तृष्णा एक प्रकार की लता है। इसमें भीषण दुःखदायी फल लगते हैं। वह तृष्णा ही लोभ को वृद्धिंगत कर रही है। जब लोभ को लाभ का सिंचन मिलता है तब वह वीरण घास की भांति बढ़ता ही जाता है। कपिल ब्राह्मण की लोभ की तृष्णा दो मासा सोने से बढ़कर करोड़ों मोहरों से भी संतुष्ट नहीं हो पाई। संत कबीर ने इसी भावना से उचित ही कहा है—

'तन की तृष्णा तनिक है तीन पाव के सेर ।
मन की तृष्णा अनन्त है गिलै मेर का मेर।।'

तन की तृष्णा बहुत ही सीमित है। वह थोड़ा पाकर भी शान्त हो जाती है। पर मन की तृष्णा इतनी अधिक विशाल है कि व्यक्ति को धन का पर्वत भी मिल जाए तब भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती। व्यक्ति बूढा हो जाता है, पर तृष्णा बूढी नहीं होती। वह सदा तरुण बनी रहती है। परिग्रह पाने के लिए व्यक्ति क्या कुछ नहीं करता? वह जीवनभर दौड़-धूप करता है, सैंकड़ों-सैंकड़ों शिल्पकलाओं को सीखता है, असि-मसि-कृषि वाणिज्य आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है तथा धनुर्विद्या, शस्त्रविद्या आदि विद्याओं में पारंगत होता है। इस प्रकार न जाने वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितना कुछ करता है, कितना खपता-तपता है? जीवनभर परिग्रहपूर्ति के लिए उसका गोरखधन्धा चलता ही रहता है।

जो व्यक्ति लोभाविष्ट होता है वह आने वाले कष्टों को कष्ट नहीं मानता। नीतिकार इस प्रसंग में कहते हैं—

'लोभाविष्टो नरो वित्तं, वीक्षते न स चापदम्।
दुग्धं पश्यति मार्जारो, न तथा लगुडाहतिम् ।।'

जिस प्रकार बिल्ली दूध को देखती है, स्वयं पर पड़ने वाला लाठी का प्रहार नहीं देखती उसी प्रकार लोभी मनुष्य धन को देखता है, किन्तु उससे होने वाली आपदाओं को नहीं देखता।

लोभ व्यक्ति से क्रूर से क्रूरतम और अमानवीय से अमानवीय आचरण करा सकता है। लोभ के सामने सगे-संबंधी सभी तुच्छ हो जाते हैं और परिग्रह बड़ा हो जाता है। धन की मूर्च्छा में व्यक्ति क्या कुछ नहीं करता? भोजप्रबन्ध में कहा है—

'मातरं पितरं पुत्रं, भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ।
लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिनं वा सहोदरम्।।'

लोभाकुल व्यक्ति धन-प्राप्ति के लिए अपने माता-पिता, पुत्र, भाई, मित्र, स्वामी एवं सहोदर की भी हत्या कर देता है। इसलिए यहां यह सचाई प्रकट होती है—**'अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धुः'**। अर्थलोभी मनुष्य के लिए न तो कोई गुरु होता है और न कोई बन्धु।

काव्यप्रणेता आचार्य सोमप्रभ ने भी परिग्रह से होने वाले क्लेशों का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं—

जब परिग्रहरूपी नदी का पूर बढ़ता है तब वह परिग्रहासक्त मनुष्य को कलुषित करता है, धर्मरूप वृक्ष का उन्मूलन करता है, नीति, करुणा और क्षान्तिरूपी कमलिनी को रौंदता है, लोभरूपी समुद्र को वृद्धिंगत करता है, मर्यादा के तटों को तोड़ता है और शुभ मनरूप हंस को प्रवास में भेजता है।

सूरीश्वर ने अपनी चर्चा बढ़ाते हुए धन के प्रति अत्यधिक अनुरागजन्य दोषों का भी उल्लेख किया है—धन के प्रति अत्यधिक अनुरागी मनुष्य कलह, क्रोध, विपत्ति, द्वेष को आमंत्रित करता है। वह पुण्य का क्षय, मृदुता का विनाश और न्याय को ठुकराता है।

एक कवि ने इसी आशय से धन को संबोधित करते हुए कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अविश्वासनिधानाय, महापातकहेतवे।
पितापुत्रविरोधाय, हिरण्याय नमोस्तु ते।।'

हे धन ! तू अविश्वास का निधान है, महापाप का हेतु है और पिता-पुत्र को लड़ाने वाला है। अतः तुझे मेरा दूर से ही नमस्कार।

परिग्रह अनेक अनर्थों का घटक है। उसका जनक है—लोभ। उसके क्या दुष्परिणाम होते हैं, उनका वर्णन करते हुए आचार्य सोमप्रभ कहते हैं—परिग्रह उपशम का शत्रु और असन्तोष का मित्र है। वह मोह का विश्रामस्थल, पापों की खान, आपदाओं का स्थान और आर्त्त-रौद्र ध्यान के लिए क्रीडावन है। वह व्याकुलता का निधान, अहंकार का सचिव, शोक का हेतु तथा कलह का क्रीडागृह है।

भगवान महावीर ने कहा है—**'लोभं संतोसओ जिणे'**—लोभ को सन्तोष से जीतो, क्योंकि **'लोहो सव्वविणासणो'**—लोभ प्रीति, विनय और मैत्री–सबका विनाश करने वाला है।

जिस प्रकार अग्नि अत्यधिक इन्धन से और समुद्र अत्यधिक जल से तृप्त नहीं होता उसी प्रकार यह असन्तोष की अग्नि प्रचुर धन पाकर भी शान्त नहीं होती। मनुस्मृति में भी कहा गया—**'सन्तोषमूलं हि सुखम्'**—सुख का मूल संतोष ही है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया—**'लोभविजएणं जीवे संतोसं जणयई'**—लोभ को जीतने से जीव सन्तोष को उत्पन्न करता है।

प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य यही है—

- जो ममत्व की बुद्धि को छोड़ता है, ममत्व का विसर्जन करता है वह परिग्रह-आसक्ति अथवा लोभ की चेतना पर विजय पा सकता है।
- परिग्रह और हिंसा परस्पर एक दूसरे से अनुस्यूत हैं, इसलिए अपरिग्रह की साधना अहिंसा-विकास की साधना है।
- अर्जन के साथ विसर्जन का सूत्र परिग्रह की चेतना का परिष्कार करता है।
- अपरिग्रह की साधना के लिए व्यक्तिगत संग्रह और भोग का सीमाकरण आवश्यक है।
- परिग्रह का अत्यधिक संग्रह भावी जीवन के लिए भय का सूचक होता है, इसलिए असंग्रह का मनोभाव मनुष्य में अभय की चेतना का जागरण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- अपरिग्रह की साधना तनावमुक्त जीवन जीने की कला है।
- परिग्रह-परिष्कार से मनुष्य को अनिद्रा, रक्तचाप, असमय में हार्ट ट्रबल, भय आदि तनावों तथा बिमारियों से मुक्ति मिलती है।
- परिग्रह का मूल असन्तोष है। अपरिग्रह का मूल सन्तोष है।
- व्यक्ति व्यक्ति द्वारा परिग्रह का अल्पीकरण और इच्छाओं का सीमाकरण ही शोषणमुक्त, विषमतारहित और स्वस्थ समाज की संरचना कर सकता है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५.अवबोध

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा—'सूरज की धूप में ताप है, पर साथ में प्रकाश है, इसलिए ताप भी क्षम्य है। प्रकाशहीन ताप अच्छा नहीं लगता।'

उपरोक्त सत्य व्यक्ति के साथ भी अक्षरशः लागू होता है। व्यक्ति में क्रोध का उत्ताप है तो साथ में क्षमा भी है, इसलिए सामुदायिक चेतना में व्यक्ति का क्रोध भी क्षम्य हो जाता है। क्षमाविहीन क्रोध दूसरों के लिए असह्य होता है।

मनुष्य समुदाय में जीता है। उसका आचरण दूसरों को प्रभावित करता है। एक ही समुदाय में भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते हैं। उनकी भिन्न-भिन्न रुचियां, भिन्न-भिन्न प्रकृतियां, भिन्न-भिन्न विचार, भिन्न-भिन्न चिन्तन और भिन्न-भिन्न व्यवहार होते हैं। उस भिन्नता की स्थिति में एक दूसरे को सहना, अभिन्नता की स्थिति का निर्माण करना बड़ा दुष्कर काम है।

सामुदायिक चेतना में शान्त-सहवास का सबसे अधिक मूल्य है। उसके बिना सामुदायिकता खंड-खंड होकर बिखर जाती है। शान्त-सहवास को अशान्त करने वाला सबसे बड़ा तत्व है—क्रोध। अहंकार की चेतना उसे प्रज्वलित कर रही है। जब अहंकार पर चोट होती है तो क्रोध का नाग फुफकारने लगता है और कभी-कभी वह डस भी लेता है। जो व्यक्ति उपशम का मूल्य नहीं जानता वह जीने की कला को भी विस्मृत कर देता है। इसलिए नीतिकारों ने कहा—'शम एव परं तपः—' क्रोध का उपशमन करना ही परम तप है। जो लोग क्रोध को पी जाते हैं, लोगों को माफ कर देते हैं वे ही उपशम के मूल्य को समझ सकते हैं। इसी संदर्भ में महाकवि रामधारी 'दिनकर' ने लिखा—

'क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या? जो दन्तहीन विषरहित विनीत सरल हो।।

सामर्थ्यहीनता की स्थिति में क्षमा का क्या महत्त्व? वह क्षमा तो उस निर्वीर्य भुजंग के समान है, जिसके पास न गरल है और न दांत। जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भुजंग के पास गरल भी है, दांत भी है, फिर भी यदि वह तिरष्कृत होने पर किसी को नहीं डसता, क्षमा करता है, वह क्षमा सवीर्य की है, कायर की नहीं।

वह जीवन भी क्या जीवन, जिसमें सुबह से शाम तक तू-तू और मैं-मैं का द्वन्द्व चलता रहे, आपस में टकराहट और कहा-सुनी होती रहे। कुछेक व्यक्तियों का जीवन ही ऐसा होता है कि सूर्योदय के साथ लड़ाई-कलह-कदाग्रह का प्रारंभ होता है और वह शाम तक चलता ही रहता है। क्रोध एक आवेग भी है और मानसिक तनाव भी। आवेग में होने का अर्थ है–तनाव को उत्पन्न करना और तनाव में जीने का अर्थ है–आवेग को निमन्त्रण देना। तनाव और आवेग–दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जब व्यक्ति क्रोध पर उतारू होता है तब वह गाली भी देने लग जाता है और कभी मारपीट भी कर देता है। क्रोध के नशे में व्यक्ति की चेतना लुप्त हो जाती है, उसका विनय-विवेक भी भ्रष्ट हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में क्रोध की परिणति के विषय में कहा गया–**'अहे वयइ कोहेण'**–क्रोध से आत्मा का पतन होता है। गौतम कुलक में कहा गया–**'चएइ बुद्धि कुवियं मणुस्सं।'** कुपित मनुष्य को बुद्धि छोड़ देती है। दसवैकालिकसूत्र में बताया गया–**'कोहो पीइं पणासेइ'**– क्रोध प्रीति का नाश करता है। यदि जीवन से प्रीति-प्रेम ही निकल गया तो बचा ही क्या? वही एक ऐसा सूत्र है जो प्राणिमात्र को एक सूत्र में पिरोकर रख सकता है। इसलिए संत रहिमन ने कहा–

'रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो चटकाय।
टूटे से फिर ना मिले, मिलत गांठ पड़ जाय।।'

यह प्रेम का धागा इतना अधिक नाजुक है कि क्रोध आते ही वह क्षणभर में टूट जाता है। वह आपसी संबंधों में दरार ला देता है। तालाब में ढेला फेंकने पर तालाब का पानी जिस प्रकार तरंगित होता है ठीक उसी प्रकार एक व्यक्ति का क्रोध दूसरों के लिए परेशानी का कारण बनता है और स्वयं के लिए भी वह दुःखदायी बनता है, इसलिए महान् चिन्तक पायथा गोरस ने कहा–'क्रोध का प्रारंभ नादानी में होता है और उसका अन्त पश्चात्ताप से होता है।' क्रोध एक ऐसी आग है जो दूसरों के लिए जलाई जाती है, किन्तु वह दूसरों को जलाने की अपेक्षा स्वयं को ही जला देती है। इस संदर्भ में नीतिकार कहते हैं–**'क्रोधश्चेदनलेन किम्?'** यदि क्रोध है तो फिर अग्नि से क्या प्रयोजन? क्योंकि क्रोधी व्यक्ति बिना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्नि के ही जल जाएगा।

क्रोध उत्पन्न होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें निमित्तों की भी सहभागिता रहती है और परिस्थितियों की भी। उन्हें कभी रोका नहीं जा सकता। वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न होती हैं, किन्तु उपादान कारण सबका एक ही होता है। वह है–मोह।

मोह की धारा प्रतिपल राग-द्वेष को उत्पन्न कर रही है। राग-द्वेष के द्वारा निरन्तर एक चक्र घूम रहा है। वह चक्र आवेग और उप-आवेग का है। राग-द्वेष ही क्रोध-मान-माया और लोभ को संचालित कर रहे हैं और संचालित कर रहे हैं हास्य-रति-भय-शोक और जुगुप्सा आदि उप-आवेगों को। उपादान के साथ निमित्त कारणों को गौण नहीं किया जा सकता। वे भी उसके साथ जुड़े हुए हैं। दोनों का सांझा व्यापार ही क्रोध-संतति को आगे से आगे बढा रहा है।

स्थानांगसूत्र में क्रोध के चार प्रकार बतलाएं हैं–

- **आत्मप्रतिष्ठित क्रोध**–अपने ही निमित्त से उत्पन्न होने वाला क्रोध।
- **परप्रतिष्ठित क्रोध**–दूसरों के निमित्त से उत्पन्न होने वाला क्रोध।
- **तदुभयप्रतिष्ठित क्रोध**–स्व-पर–दोनों के निमित्त से उत्पन्न होने वाला क्रोध।
- **अप्रतिष्ठित क्रोध**–क्रोध-वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला क्रोध। उसका कोई निमित्त अथवा कारण नहीं होता, फिर भी क्रोध–वेदनीय कर्म के परमाणु एक साथ इतनी प्रबलता से उदय में आते हैं कि व्यक्ति बैठे-बैठे ही क्रोध में भर जाता है।

इस प्रकार व्यक्ति निमित्तों के मिलने पर भी क्रोधित होता है और उनके बिना भी क्रोधित होता है। थोड़ा-सा मन के प्रतिकूल हुआ अथवा किसी ने कुछ कहा, व्यक्ति क्रोध से तमतमा उठता है। किसी ने कहा हुआ काम नहीं किया तो भी व्यक्ति क्रोध में उबल पड़ता है। कभी पित्त की प्रबलता, कभी अस्वास्थ्य की समस्या भी व्यक्ति को क्रोधी और चिड़चिड़ा बना देती है। देश, काल और वातावरण का प्रभाव भी व्यक्ति को प्रभावित करता है। ये सब क्रोध-उत्पत्ति के निमित्तजन्य कारण हैं।

शरीरशास्त्री क्रोध-उत्पत्ति के लिए ग्रन्थियों के स्राव को उत्तरदायी मानते हैं। जब एड्रेनल (Adrenal) ग्रन्थि का स्राव समुचित नहीं होता तो भय, चिन्ता और क्रोध की उत्पत्ति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मशास्त्र में क्रोध की मात्रा के तारतम्य पर भी गहनता से विश्लेषण हुआ है। एक व्यक्ति मुक्का उठाता है और समझ लिया जाता है कि वह अभी क्रोध में है। क्रोध का प्रभाव स्नायुतंत्र और मांसपेशियों पर होता है। उनमें उत्तेजना आती है। उसी के अनुरूप व्यक्ति में सक्रियता दिखाई देती है। आवेग का प्रभाव स्नायुतंत्र, मांसपेशियां, रक्त, फेफड़ों, हृदय की गति, श्वास और ग्रन्थियों को भी प्रभावित करता है। आवेग एक प्रकार से भूकम्प के समान है। जिस प्रकार भूकम्प की तीव्रता और मन्दता को वैज्ञानिक भूकम्पमापकयन्त्र (Richter Scale) के द्वारा मापन करते हैं उसी प्रकार तात्कालिक आवेग की मन्दता और प्रबलता का मापन भी वैज्ञानिक यन्त्रों के द्वारा संभव हो सकता है। किन्तु उसकी कालावधि का निर्णय उन यन्त्रों के द्वारा सुलभ नहीं है। कर्मशास्त्र में उस कालावधि की तरतमता को चार भागों में बांटा गया है—

- एक क्रोध वह है जो चट्टान की दरार की भांति अमिट होता है। वह दरार सैंकड़ों-हजारों वर्षपर्यन्त रह जाती है। वह क्रोध की तीव्रतम अवस्था है। उस अवस्था को कर्मशास्त्रीय भाषा में **'अनन्तानुबन्धी क्रोध'** कहा जाता है।
- एक क्रोध वह है जो भूमि की रेखा के समान है। वह रेखा कठिनाई से मिटती है। वह क्रोध की तीव्रतर अवस्था है। उसे **'अप्रत्याख्यान क्रोध'** कहा जाता है।
- क्रोध की तीसरी अवस्था बालू की रेखा के समान है। वह हवा के झोंके के साथ मिट जाती है। वह क्रोध की मन्द अवस्था है। उसे **'प्रत्याख्यान क्रोध'** से जाना जाता है।
- क्रोध की चौथी अवस्था पानी की रेखा के समान है। पानी में खींची हुई रेखा तत्काल मिट जाती है। वह क्रोध की मन्दतर अवस्था है। उसे कर्मशास्त्र में **'संज्वलन क्रोध'** कहा जाता है।

क्रोध की तीव्रतम आदि चार अवस्थाओं के आधार पर मनुष्य के भी चार प्रकार—नीच, अधम, मध्यम और उत्तम हो जाते हैं। नीतिकारों ने इस सन्दर्भ में लिखा है—

'उत्तमस्य क्षणं कोपं, मध्यमस्य प्रहरद्वयम् ।
अधमस्य त्वहोरात्रं, नीचस्य मरणध्रुवम् ।।'

उत्तम पुरुष का क्रोध क्षणभर के लिए होता है, मध्यम पुरुष का क्रोध अधिकतम दो प्रहर तक ठहरता है, अधम पुरुष के क्रोध की अवधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन-रात रहती है और नीच पुरुष जीवनपर्यन्त क्रोध को टिकाए रखता है।

जैनाचार्यों ने कषायचतुष्क में क्रोध और मान को द्वेषात्मक अनुभूति माना है और माया एवं लोभ को रागात्मक अनुभूति। नय की दृष्टि से विचार किया जाए तो मान प्रीत्यात्मक भी हो सकता है। वह अपने उत्कर्ष की अनुभूति में रागात्मक हो जाता है। इसी प्रकार माया को रागात्मक कहा गया, किन्तु नयदृष्टि से परोपघात की स्थिति में वह अप्रीत्यात्मक भी बन जाता है। इस प्रकार मान, माया, लोभ—ये तीनों प्रीत्यात्मक-अप्रीत्यात्मक—दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

शास्त्रीय परिभाषा में क्रोध का स्वरूप कैसा भी हो, किन्तु जीवन-व्यवहार में वह अभिशाप है, दुःख का मूल है, दुर्गुणों का आकर है और धर्म का क्षय करने वाला है। नीतिकारों का अभिमत है—'एक दिन का ज्वर छह महीने की शरीर की शक्ति को नष्ट कर देता है जबकि क्षणभर का क्रोध करोड़ों पूर्वों में उपार्जित तप के फल को नष्ट कर देता है।'

एक पाश्चात्य विचारक का कहना है—'केवल एक बार के क्रोध से मनुष्य का सारा दिन खराब होता है। यदि वह क्षणभर के लिए क्रोध का नियंत्रण कर ले तो वह सारे दिन के दुःख को रोक सकता है।'

'डॉ. जे. एस्टर कहते हैं कि साढे नौ घंटे के शारीरिक श्रम से जितनी शक्ति क्षीण होती है, वही पन्द्रह मिनिट के क्रोध से क्षीण हो जाती है।'

'डॉ. अरोली ने क्रोधी व्यक्तियों पर अनेक परीक्षण किए। परीक्षणों के पश्चात् उन्होंने घोषित किया कि क्रोध के कारण रक्त अशुद्ध हो जाता है। पाचनशक्ति बिगड़ जाती है। सिर का भारीपन, कमर में दर्द, पेशाब का पीलापन, नसों में खिंचाव, शरीर का पीलापन, गर्मी और खुश्की का प्रकोप आदि भी क्रोधजन्य उपद्रव हैं।'

जो व्यक्ति भोजन के समय क्रोधाविष्ट होता है वह अपने भोजन में क्रोध के परमाणुओं को मिलाता है। उसका भोजन जहर हो जाता है।

यदि कोई माता क्रोध के समय अपने बच्चे को स्तनपान कराती है तो वह बच्चे के लिए जानलेवा हो सकता है।

इस प्रकार क्रोध अनेक दोषों का उत्पादक है। जब वह शरीर में आविष्ट होता है तब चेहरे की भ्रूभंगिमा ही बदल जाती है। मुख अति विकराल हो जाता है। उसका सारा शरीर थर-थर कांपने लगता है। होठ कटकटाने लगते हैं। उसकी मुखाकृति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानो वह किसी शराब के नशे में डूबा हुआ है। नीतिकार उस स्थिति का चित्रांकन करते हुए कहता है—

'रागं दृशोर्वपुषि कम्पमनेकरूपं,
चित्ते विवेकरहितानि च चिन्तितानि।
पुंसाममार्गगमनं समदुःखजातं,
कोपं करोति सहसा मदिरामदश्च।।'

क्रोध के आने पर मनुष्य की आंखें लाल हो जाती हैं। उसके शरीर में अनेक प्रकार का कम्पन होता है। वह अपने चित्त में विवेकरहित चिन्तन करता रहता है, उन्मार्ग की ओर गमन करता है और एक साथ अनेक दुःखों से आक्रान्त हो जाता है तथा वह क्रोधी व्यक्ति मदिरा से उन्मत्त बने हुए मनुष्य की भांति उन्मत्त हो जाता है।

'जॉन वेब्स्टर ने एक बार इसी सन्दर्भ में कहा था कि प्रकृति की ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मनुष्य को इतना विरूप, इतना पाशविक बना दे जितना कि अनियन्त्रित क्रोध मनुष्य को बनाता है।'

वस्तुतः क्रोध का विष सांप के विष से भी भयंकर होता है। क्रोध स्वयं एक भयंकर विषधर है। बाइबिल कहती है—'क्रोध को लेकर सोना अपनी बगल में जहरीले सांप को लेकर सोना है।'

नीतिवाक्यामृत में कहा गया—**'उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः।'** क्रोध में आकर गर्म हो जाना सभी कार्यों की सिद्धि में पहला विघ्न है।

प्रस्तुत प्रकरण में रचनाकार आचार्य सोमप्रभ ने भी बड़ी ही मार्मिक शैली में अनेक उपमाओं के द्वारा क्रोध के स्वरूप को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—क्रोध चित्त को विकृत करने में मद्य का मित्र है, संत्रास उत्पन्न करने में सर्प की प्रतिच्छाया है, शरीर को जलाने में अग्नि का सहोदर है, चैतन्य को विनष्ट करने में विषवृक्ष का चिरकालिक साथी है।

ग्रन्थकार ने क्रोध के उपद्रवों का अनेक उदाहरणों से वर्णन करते हुए कहा है—जैसे दवाग्नि वृक्ष को जला देती है वैसे ही क्रोध धर्म को भस्मसात् कर देता है। जैसे हाथी लता को रौंद देता है वैसे ही क्रोध नीति-न्याय को मथ देता है। जैसे राहू चन्द्रमा को ग्रसित करता है वैसे ही क्रोध मनुष्यों की कीर्ति को अपना भक्ष्य बना लेता है। जैसे वायु बादलों को तितर-बितर करता है वैसे ही क्रोध स्वार्थ को तोड़ देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे ग्रीष्मकाल प्यास को बढाता है वैसे ही क्रोध आपदाओं का विस्तार करता है।

सूरीश्वर ने जीवन-व्यवहार में क्रोधजन्य समस्याओं का भी उल्लेख किया है—क्रोध संताप देने वाला, विनय का भेदन करने वाला, सौहार्द मिटाने वाला, कलह कराने वाला, पुण्य को रोकने वाला, कीर्त्ति को काटने वाला, दुर्बुद्धि बांटने वाला, परेशानी उत्पन्न करने वाला और दुर्गति देने वाला है।

व्यक्ति क्रोध के कटुक परिणामों को भोगता हुआ भी उसे छोड़ नहीं पाता। क्योंकि जब तक व्यक्ति के साथ रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति जुड़ी हुई है तब तक कषाय का चक्र घूमता ही रहेगा। वीतरागता की अवस्था में ही व्यक्ति उससे सर्वथा मुक्त हो सकता है। फिर भी स्वयं की सुख-शान्ति के लिए, पारस्परिक कलह-निवारण के लिए, एक दूसरे को सहने के लिए, सामञ्जस्य की स्थिति निर्मित करने के लिए तथा सामुदायिक चेतना में सुख से जीने के लिए उपशम की साधना करना नितान्त अपेक्षित है। क्योंकि व्यक्ति अपने आप में अकेला नहीं है, साथ में परिवार और समाज का रिश्ता भी उसके साथ जुड़ा हुआ है। उस स्थिति में **'कोहं असच्चं कुव्वेज्जा'**—क्रोध को विफल करना जीवन की बड़ी सफलता है। क्रोध को विफल करने का तात्पर्य है कि क्रोध से उत्पन्न स्थिति में प्रतिक्रियात्मक कार्य से अपना बचाव करना। जैसे क्रोध आने पर गाली दे देना, किसी पर हाथ उठा देना अथवा क्रोधावेश में आत्महत्या या परहत्या कर देना आदि। एक पाश्चात्य विचारक एम. हेनरी (M. Henry) ने क्रोध की परिणति के विषय मे कहा था–'जब आवेश सिंहासन पर बैठता है तब सूझ-बूझ दरवाजों से बाहर निकल जाती है।' इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने आप से पूछे–

- मुझे क्रोध आता है या नहीं?
- तीव्र आता है या मन्द?
- क्रोध सकारण आता है या अकारण?
- यदि सकारण आता है तो कारण कौन-कौन से हैं?

पुनः अपने आप से प्रश्न करे कि मुझे क्रोध का उपशमन करना है या नहीं? यदि करना है तो वह कुछेक आलम्बनों के द्वारा क्रोध-शमन का अभ्यास करे–

- किसी के आक्रुष्ट होने पर वह चिन्तन करे– **'यदि सत्यं कः कोपः, यद्यनृतं किन्तु कोपेन?'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि कहने वाला व्यक्ति सत्य कह रहा है तो फिर मुझे क्रोध क्यों? यदि वह असत्य कह रहा है, वह मेरे पर घटित ही नहीं होता तो फिर क्रोध करने से मेरा क्या प्रयोजन?

- यदि सामने वाले व्यक्ति को आकस्मिक क्रोध आ जाए तो उस समय स्वयं मौन धारण कर ले।
- यदि उस समय कोई मौन का आलम्बन न ले सके तो क्षणभर के लिए वह श्वास का नियमन कर ले।
- यदि श्वास को रोकना भी उसके लिए शक्य न हो तो तत्काल वह उस स्थान को छोड़कर कहीं दूसरे स्थान में चला जाए।
- क्रोधशमन के लिए प्रतिपक्ष की भावना—क्षमा की अनुप्रेक्षा का आलम्बन ले। जैसा कि धम्मपद में कहा गया—**'अक्कोधेन जिणे कोधम्'**—क्षमा से क्रोध को जीतना चाहिए।
- यह सत्य है कि आवेग भी आवेग को देखकर बढता है। प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में स्वयं का आवेग भी क्षणभर में शान्त हो जाता है।
- प्रेक्षाध्यान-पद्धति में चित्त को ललाट के मध्य ज्योतिकेन्द्र पर केन्द्रित कर वहां पर चमकती हुई किसी श्वेत वस्तु का आलम्बन लेकर श्वेत रंग का साक्षात्कार करना अथवा पौर्णमासी के चन्द्रमा को ज्योतिकेन्द्र पर उगा हुआ देखकर अनुभव करना कि उसकी श्वेत रश्मियां ललाट के चारों ओर फैल रही हैं। यह प्रयोग भी क्रोधशमन का सशक्त आलंबन बन सकता है। प्रतिदिन इस अभ्यास को पांच-सात मिनिट तक किया जा सकता है।

प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य है—

- क्रोधविजय से जीव क्षमा को प्राप्त होता है। वह क्रोधवेदनीय कर्म का बन्धन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण कर देता है।
- जो व्यक्ति क्रोध-शमन की साधना करता है वह मान, माया और लोभ को भी विजित कर लेता है।
- क्रोध के उपशमन से प्रीति, विनय और विवेक का जागरण होता है।
- व्यावहारिक जीवन में क्रोध-आवेग पर नियंत्रण करने की फलश्रुति है—शान्त-सहवास, कलहमुक्ति, पारस्परिक सौहार्द, तनाव का निराकरण, सामुदायिक चेतना का विकास,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहनशीलता की वृद्धि तथा प्रसन्नता का प्रकटीकरण।

अतः साधक आचारांग के इस सूक्त को पुनः पुनः हृदयंगम करे– **'कसाए पयणुए किच्चे'**–हम कषाय को कृश करें, इसलिए करें कि क्रोध मनुष्य का शत्रु है, क्योंकि वह–

'वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति,
रूपं विरूपयति निन्द्यमतिं तनोति।
दौर्भाग्यमानयति शातयते च कीर्तिं,
रोषोऽत्र रोषसदृशो नहि शत्रुरस्ति।।'

इस जगत् में क्रोध वैर बढ़ाता है, मित्रता को मिटाता है, रूप को कुरूप बनाता है, निन्दनीय बुद्धि बढ़ाता है, दौर्भाग्य लाता है और कीर्त्ति को नष्ट करता है, इसलिए क्रोध जैसा कोई शत्रु नहीं है।

जब व्यक्ति क्रोध के परिणामों को देख लेता है तो वह अपने जीवन की दिशा को रूपान्तरित करता हुआ क्रोध को संबोधित करते हुए कहता है–

'बन्धो! क्रोध! विधेहि किञ्चिदपरं स्वस्याधिवासास्पदम्।'

भाई क्रोध! अब तुम अपना कोई दूसरा स्थान खोज लो। तुम मेरे साथ नहीं रह सकते। क्योंकि मन शान्तरस में ओतप्रोत हो गया है। यही है चेतना का रूपान्तरण। यही है क्रोध को अलविदा।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. अवबोध

आज का मनुष्य जीवन के उस रथ में आसीन है जिसमें दो अश्व जुते हुए हैं। एक अश्व है अहंकार का दूसरा अश्व है क्रोध का। दोनों मिलकर उस जीवनरथ को चला रहे हैं अथवा व्यक्ति मानरूपी हाथी के हौदे पर चढा हुआ है। उसका अंकुश क्रोधरूपी महावत के हाथ में है। अहंकार और क्रोध—दोनों का प्रभुत्व मनुष्य पर है। प्रश्न होता है कि अहंकार क्रोध को चला रहा है अथवा क्रोध अहंकार को। दोनों में प्रबल कौन है, कौन किसका संचालक है? समाधान दिया गया—अहंकार क्रोध का संचालक है। यदि अहंकार नहीं होता तो क्रोध का अस्तित्व भी नहीं होता। क्रोध अहंकार के द्वारा संचालित है, प्रेरित है। उसकी उत्पत्ति भी उस अहंकार के साथ जुड़ी हुई है, जिसके गर्भ में आकांक्षा और लोभ है। वह अहंकार कभी क्रोध उत्पन्न नहीं करता, जो मात्र अस्तित्व का बोध कराने वाला होता है।

'अस्तित्ववाचक अहं' मनुष्य का ऐसा आईना है जो व्यक्ति की पहचान कराता है। वास्तव में अहं के बिना किसी की पहचान नहीं हो सकती। किसी से पूछा जाए कि तुम कौन हो? उत्तर होगा—मैं हूँ। कौन बोल रहा है? मैं बोल रहा हूँ। मैं का तात्पर्य ही है—अस्तित्व का बोध। अपने अस्तित्व की अभिव्यक्ति देने के लिए व्यक्ति ने अहंशब्द का चुनाव किया। अहंशब्द संस्कृतनिष्ठ है। उसका विस्तार है अहंकार। जब अहं से अहंकार बनता है तब उसके साथ अनेक दोषों का मिश्रण हो जाता है। अहंकारी व्यक्ति अहं की भाषा में सोचता है कि जो मेरी तरह सोचे वह बुद्धिमान् और जिसके विचार मेरे विचारों से न मिलें वह मूर्ख होता है। जिस पर मैं चलूं दूसरे सभी मेरा अनुकरण करें, वही मेरा आदर्श है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया—**'अन्नं जणं पस्सति बिंबभूयं'**—अभिमानी व्यक्ति अपने अहंकार में चूर होकर दूसरों को परछाईं के समान तुच्छ मानता है। उसके लिए दूसरों को छोटा मानना जितना आसान है, उतना अपने को छोटा समझना कठिन है। प्रखर चिंतक रस्किन ने इसी सन्दर्भ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कहा था—'अभिमान से आदमी फूल सकता है, पर वह फैल नहीं सकता।' जब आदमी में अहं की हवा भरती है तो वह फुटबाल की भांति निरन्तर उछलता रहता है, पृथ्वी पर टिक नहीं सकता। वह अपने अहंभाव के कारण अपने सिवा दूसरों को देख नहीं सकता। वह मानान्ध बन जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा—**'लुप्यते मानतः पुंसां विवेकामल-लोचनम्।'** अभिमान में मनुष्य का विवेक-नेत्र लुप्त हो जाता है। संत तुलसीदास ने मानत्याग की दुर्लभता के विषय मे कहा था—

'कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बडाई ईर्ष्या 'तुलसी' दुर्लभ एह।।'

व्यक्ति के लिए कंचन और स्त्री का छोड़ना सहज हो सकता है, किन्तु मान-बडप्पन और ईर्ष्या को छोड़ना सरल नहीं है।

बाहुबलि भरत के अनुज और भगवान ऋषभ के पुत्र थे। महाराज भरत से युद्ध में विजित होने पर वे साधना के लिए जंगलों में चले गए। वे अपने पिता आदिनाथ के पास इस अहं के कारण नहीं गए कि उन्हें पूर्वप्रव्रजित अपने छोटे भाइयों को वन्दना करनी होगी। एक वर्ष तक वे कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित रहे, फिर भी उन्हें कैवल्य की प्राप्ति नहीं हुई। अन्त में उनकी भगिनीद्वय ब्राह्मी-सुन्दरी ने उन्हें प्रतिबोध देते हुए कहा—बन्धो! आप अहंकार के गजराज से नीचे उतरें। तत्काल बाहुबलि संभलें। उन्हें अपनी अस्मिता का अहसास हुआ। ज्योंही उन्होंने वन्दनार्थ जाने के लिए अपने कदम आगे बढ़ाए त्यों ही उनके अहंकार का वलय टूट गया। वे केवली बन गए।

जब व्यक्ति में महत्त्वाकांक्षा होती है, बडप्पन की भूख सताती है, आकांक्षाओं की तीव्रता जागती है तब व्यक्ति का अहंकार भी आसमान को छूने लग जाता है। मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी बहुधा फरमाया करते थे—हमारा यह जीव अनन्त बार बेर की गुठली बनकर कितनी बार पैरों के तले रौंदा गया है। हमें भिक्षा के लिए भी जब हाथ पसारना पड़ता है, घर-घर घूमना पड़ता है तब हम किस बात का गर्व करें?

अभिमान के नशे में कइयों का यही चिन्तन रहता है कि यह दुनिया मेरे ही बलबूते पर चल रही है। यदि मैं न होता तो यह संसार ही उजड़ जाता। यह व्यर्थ का अभिमान व्यक्ति के अज्ञान और दिग्मूढता का परिणाम है। संभव है कि मुर्गा सोचता हो कि प्रतिदिन का सूर्य मेरी बांग सुनने के लिए उदित होता है। टिटिहरी सोचती है कि मैं पैरों को ऊंचा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके सोती हूँ। यह आकाश मेरे पैरों के कारण ही ठहरा हुआ है। धूआं सोचता है कि मैं अग्निवंश का हूं, इसलिए मुझे ऊपर जाने का अधिकार है। राख सोचती है कि मैं भी अग्निवंश की हूं, मुझे भी पृथ्वी से मिलने का अधिकार है। ऐसे व्यर्थ का अभिमान पालने वाले व्यक्ति इस संसार में बहुत मिल जाएंगे। अभिमान के भी कई प्रकार हैं। कुछ लोग अपने रूप-ऐश्वर्य में खोए हुए हैं। उनका मानना है कि हम जितने सुन्दर, ऐश्वर्यशाली हैं शायद उतने स्वर्ग के इन्द्र-इन्द्राणी भी हैं या नहीं?

कुछ व्यक्ति जाति-कुल-बल के मद में अहंकारी बने हुए हैं। वे जाति-कुल के आधार पर दूसरों को नीचा मानते हैं, दूसरों के कुल की अवमानना करते हैं। अपने बल के अहं से वे दूसरों को तिरस्कृत और झुकाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ व्यक्तियों को अपने तप, लाभ और श्रुत का गर्व होता है। मैं तपस्वी हूं। मेरे जैसा श्रुतज्ञ कौन है? मैं पंडित हूं, शास्त्री हूं, बुद्धिमान हूं। मैं अपनी बुद्धिमत्ता से दुनिया को भी जीत सकता हूँ। ये मद के आठ स्थान प्रतिपल मनुष्य को दिग्मूढ बना रहे हैं। योगशास्त्र में कहा गया है—

'जाति-लाभ-कुलैश्वर्य-बल-रूप-तपः-श्रुतैः।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः।।'

जाति-लाभ-कुल-ऐश्वर्य-बल-रूप आदि का मद करता हुआ जीव भवान्तर में हीन जाति आदि को प्राप्त होता है।

अहंकार की मार से विवश बना हुआ शिष्य गुरु की सन्निधि में पहुंचा और पूछा—भंते! मैं परमात्मा को प्राप्त करना चाहता हूँ। क्या उसके लिए कोई उपाय है? गुरु ने उसे समाहित करते हुए कहा—तुम अपने से 'मैं' को शून्य कर लो या अपने को पूर्ण कर लो, तुम्हें परमात्मा मिल जाएगा। शिष्य की समस्या का समाधान हो गया।

'मैं' को शून्य करने का अर्थ है—स्वयं को अहंकार से सर्वथा मुक्त कर देना। अपने को पूर्ण करने का अर्थ है—वैसी अर्हता को पा लेना, जहां अहंकार और ममकार का द्वन्द्व ही समाप्त हो जाए।

गोस्वामी तुलसीदास ने इस संदर्भ में ठीक ही कहा—

'अहंकार की अगनि में, दहत सकल संसार।
तुलसी बचै संतजन, केवल शान्ति-आधार।।'

अहंकार एक अग्नि है। उसमें सारा संसार जल रहा है। केवल सन्तपुरुष ही उससे बचे हुए हैं, क्योंकि उनका आधार शान्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहंकार की चेतना क्या कुछ नहीं करती ? वह अनेक अनर्थों को उत्पन्न करती है। जैसा कि दसवैकालिकसूत्र में कहा गया—**'माणो विणयनासणो'**—मान विनय को नष्ट करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया—**'माणेण अहमागई'**— मान से मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है। कथासरित् सागर में समझाया गया—**'ज्ञानमार्गे ह्यहंकारः परिघो दुरतिक्रमः'**—अहंकार ज्ञानमार्ग में दुर्लंघ्य अर्गला के समान है।

ग्रन्थकार आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत विषय के प्रतिपाद्य में अहंकारजन्य अनेक अनर्थों का वर्णन किया है। वे लिखते हैं—अहंकार से अन्धा बना हुआ व्यक्ति मदोन्मत्त हाथी के समान है। वह उपशमरूपी आलान, निर्मल बुद्धिरूपी रज्जु, दुर्वचनरूपी धूलिसमूह, आगमरूपी अंकुश की अवमानना करता हुआ, स्वेच्छा से घूमता हुआ, विनयरूपी न्यायमार्ग का विध्वंस करता हुआ क्या-क्या अनर्थ नहीं करता? जिस प्रकार नदियों का उद्गमस्थल पर्वत है वैसे ही आपदारूपी नदियां अहंकाररूपी पर्वत से निकलती हैं।

अहंकारी व्यक्ति उस थोथे चने के समान है जिसमें सार कम होता है और बजता ज्यादा है। वह ऐसी अधजल गगरी के समान है जो सदा छलकता ही रहता है। ऐसे व्यक्ति के लिए संस्कृतकवि ने कहा—

'सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्दमर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वं जल्पन्ति मूढास्तु गुणैर्विहीनाः।।'

सम्पूर्ण भरा हुआ घड़ा कभी नहीं छलकता। आधा भरा हुआ घड़ा ही अधिक छलकता है। जो व्यक्ति विद्वान् एवं कुलीन होते हैं वे कभी गर्व नहीं करते, गुणविहीन मूढ व्यक्ति ही अधिक गर्व करते हैं।

प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर ने अभिमानी व्यक्ति के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए कहा—'अभिमानी व्यक्ति अपनी विनम्रता अथवा योग्यताओं का स्वयं बखान करता है। इसका अर्थ है कि वह अपनी विनम्रता को घायल करता है और अपनी योग्यताओं की असंदिग्धताओं को अशुद्ध-अपवित्र बनाता है।'

जैन आगम स्थानांगसूत्र में मान के स्वरूप को चार स्तम्भों के द्वारा समझाया गया है—

- **शैलस्तम्भ—** यह मान पत्थर के खम्भे के समान—'अनन्तानुबन्धी' होता है। इसमें प्रवर्तमान जीव मरकर नरक में उत्पन्न होता है।
- **अस्थिस्तम्भ—**यह मान हाड के खम्भे के समान—'अप्रत्याख्याना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरण' होता है। इसमें प्रवर्तमान जीव मरकर तिर्यंचयोनि में उत्पन्न होता है।

- **दारुस्तम्भ**—यह मान काठ के खम्भे के समान—'प्रत्याख्यानावरण' होता है। इसमें प्रवर्तमान जीव मरकर मनुष्यगति में उत्पन्न होता है।
- **तिनिशलतास्तम्भ**—यह मान सीसमजाति के वृक्ष की लता (लकड़ी) के खम्भे के समान—'संज्वलन' होता है। इसमें प्रवर्तमान जीव मरकर देवगति में उत्पन्न होता है।

अतः ज्ञानीपुरुषों ने सुखी बनने का उपाय बताते हुए कहा है—

'अभिमानं सुरापानं, गौरवं घोर-रौरवम्।
प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।'

अभिमान मद्यपान के समान है। गौरव घोर नरक के समान है। प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा के सदृश है। जो व्यक्ति इन तीनों को छोड़ता है वही सुखी बन सकता है।

वास्तव में सुखी बनने का रास्ता है-अभिमान का विसर्जन।

कृतिकार सूरीश्वर ने उस जीवन को संजीवनी औषध के समान माना है जो विनय के गुण से भावित होता है, जिसमें मार्दवरूपी अमृतरस छलकता है, इसलिए अहंकार को जीतने का एकमात्र उपाय है—मार्दव—नम्रता। आगमों में भी कहा गया—**'माणं मद्दवया जिणे।'** महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने कहा था—'नम्रता वह कवच है जो कभी नहीं टूटता।' जिसने अहंकार की सचाई को समझ लिया, उसके स्वरूप को समझ लिया, आकांक्षाओं में बहते हुए अपने आपको देख लिया, वही व्यक्ति विनम्रता की साधना कर सकता है।

प्रस्तुत विषय की फलश्रुति के रूप में कुछेक बिन्दुओं को इस प्रकार रखा जा सकता है—

- अहंकार विजय का व्यावहारिक परिणाम है—विनम्रता। निरंहकारी व्यक्ति सत्य के प्रति, दूसरों के प्रति और सबसे अधिक अपने प्रति विनम्र होता है।
- अहंकार विजय का आध्यात्मिक परिणाम है—सतत अपने अस्तित्व की अनुभूति और स्मृति।
- अहंकार के साथ जुड़ा है—क्रोध, लोभ और आकांक्षा।
- अहंकार हिंसाबुद्धि के धूम्र से व्याप्त है।
- अहंकार में ज्ञान-औदार्य आदि गुणों का विनाश हो जाता है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७.अवबोध

रामायण का प्रसंग है। राम, लक्ष्मण और सीता वन-प्रवास में दण्डकारण्य की ओर जा रहे थे। मार्ग में पम्पा सरोवर को देखकर उनके पैर रुक गए। राम ने सरोवर में एक बगुले को देखकर लक्ष्मण को संबोधित करते हुए कहा—

'पश्य लक्ष्मण! पम्पायां बकः परमधार्मिकः।
मन्दं मन्दं पदं धत्ते जीवानां वधशङ्कया।।'

लक्ष्मण! तुम पम्पा सरोवर में इस बगुले को देखो। यह परम धार्मिक है। यह इस आशंका से धीरे-धीरे पैर रख रहा है कि कहीं मेरे से जीवों का वध न हो जाए।

राम के ये स्वर सरोवर की मछलियों के कानों में पड़े। उनसे रहा नहीं गया। उन्होंने अपनी व्यथा प्रकट करते हुए राम से कहा—

'बकः किं वर्ण्यते राम! येनाहं निष्कुलीकृतः।
सहचारी विजानीयात् चरित्रं सहचारिणाम् ।।'

राम! आप इस बगुले को परम धार्मिक बता रहे हैं। इसने तो हमारे कुल का ही नाश कर दिया। साथी के चरित्र को साथ में रहने वाला ही जान सकता है, उसे आप नहीं जान सकते।

यह बगुलावृत्ति आज समाज में चारों ओर फैली हुई है। आदमी आदमी को धोखा दे रहा है। व्यक्ति बाहर से अपने आपको कुछ दिखाता है और भीतर में उसका रूप कोई दूसरा होता है। बाहर से वह राम भी बन सकता है, भक्त प्रह्लाद, मीरा, सूरदास के तुल्य भी हो सकता है, किन्तु आचरण में उसका रूप रावण, शूर्पणखा से भी निकृष्टतम हो जाता है। यह द्विरूपता ही व्यक्ति को धोखा देने वाली होती है। इसलिए नीतिकार कहता है—

'तन उजला मन सांवला, बगुला कपटी भेख।
यां सूं तो कागा भला, बाहर भीतर एक।।'

जो लोग बाहर से बगुले के समान स्वयं को सफेद दिखाते हैं और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीतर में मन से काले कपटी होते हैं वे किसी का भला नहीं कर सकते। उनसे तो वे लोग अच्छे होते हैं जो अपने को कौए के समान बाहर और भीतर से एक समान रखते हैं, क्योंकि कौआ बाहर से भी काला होता है और भीतर से भी धूर्त और काला होता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह सामाजिक-बन्धन में भी जीता है और व्यवहार के स्तर पर भी जीता है। सामाजिकता के नाते व्यक्ति के हित एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। उन्हें गौण नहीं किया जा सकता। फिर भी व्यक्ति में स्वार्थ की चेतना इतनी अधिक प्रबल होती है कि वहां दूसरों के हित गौण हो जाते हैं और स्वयं का स्वार्थ प्रधान बन जाता है। वहां माया भीतर के दुर्ग में छिपी रहती है और मायाचार अपना काम करता है। मायाचार या कपटाई करने वाला अपने आपको इतने सुंदर ढंग से प्रस्तुत करता है कि सामने वाला उसकी बातों को सुनकर हतप्रभ हो जाता है और उसके कार्यकलापों से ठगा भी जाता है। यह एक प्रकार का ढोंग है। हर व्यक्ति उस कला में निपुण नहीं होता, किन्तु ठगाई करने वाला उस कला में अवश्य निपुण होता है। महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने इस विषय में कहा था— 'जो गुण स्वयं में नहीं होते उसे दिखाने की कोशिश करना ही ढोंग है।'

सफेद कमीज के नीचे गन्दी बनियान हो सकती है। सीता, राजीमती आदि महासतियों के गीत गाने वालों के कमरे में कुलटाओं के चित्र हो सकते हैं। आगम, पिटक, गीता, उपनिषद् आदि रखने वालों के पुस्तकालय में अश्लील साहित्य मिल सकता है। सुख का स्वांग करने वाले परम दुःखी हो सकते हैं, इसलिए बाहर के रूप को देखकर अन्दर के गुणों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

यह एक सचाई है कि किसी के असली रूप को पहचानना भी कठिन होता है। हर व्यक्ति असलियत को छिपाकर कृत्रिमता का बाना पहन कर ही दुनिया के रंगमंच पर अभिनय करता है और वह अपनी प्रतीति भी उसी रूप में करवाना चाहता है, जिससे हर कोई उसे असली रूप में जान सके। यही है माया, प्रवचंना, ठगाई, धोखाधड़ी तथा पाखंड। ठगने वाला अथवा धोखा देने वाला दूसरों को ठगकर या धोखा देकर इसलिए प्रसन्न होता है कि मैंने कितनी चतुराई से दूसरों को ठगा है। दूसरा ठगा जाता है या नहीं अथवा किससे ठगा जाता है, पर ठगने वाला तो निश्चित ही स्वयं में ठगा जाता है। पाश्चात्य विचारक जी.बैली (G. Bailey) ने इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय में कहा था—'तमाम छलकपटों में सबसे निकृष्ट छलकपट है—अपने आपको ठगना।' संसार में कहावत है कि दियासलाई दूसरों को जलाने की प्रवृत्ति करती है, किन्तु पहले उसी का ही मुंह जलता है। इसी आशय को प्रकट करते हुए उपदेशप्रासाद में कहा गया—**'भुवनं वञ्चयमाना, वञ्चयन्ति स्वमेव हि।'** जगत् को ठगते हुए कपटी पुरुष वास्तव में अपने आपको ही ठगते हैं।

धूर्त अथवा कपटी पुरुष सहसा पहचाने नहीं जाते। कभी-कभी मनुष्य अपने अज्ञान के कारण धूर्त पुरुषों को भी सज्जन व्यक्तियों की कोटि में गिन लेता है। नीतिकारों ने धूर्त व्यक्ति के लक्षणों को बताते हुए लिखा है—

'मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला।
हृदयं क्रोधसंयुक्तं त्रिविधं धूर्तलक्षणम् ।।'

धूर्त व्यक्ति का मुख कमलपत्र के समान विकस्वर होता है, वाणी चन्दन के समान शीतल होती है और हृदय क्रोध से भरा हुआ होता है—ये तीन लक्षण उसमें पाए जाते हैं।

इन्हीं लक्षणों को प्रकारान्तर से ऐसे भी देखा जा सकता है—**'ठाठ तिलक और मधुरी बाणी, दगाबाज की यही निशानी।'**

माया का संसार बड़ा ही विचित्र और विशाल होता है। एक माया को छिपाने के लिए मायावी को कितनी-कितनी किलाबन्दी करनी पड़ती है, कितने मंसूबों को बांधना होता है, कितना असत्य का सहारा लेना पड़ता है तब भी माया किसी न किसी रूप में अथवा कभी न कभी प्रकट हो ही जाती है। माया का स्वरूप उन तूम्बों के समान है जिनको दबाकर नहीं रखा जा सकता। इस प्रसंग में आचार्य भिक्षु ने कहा था—

'तस्कर तोड्या तूंबड़ा दाबै पाणी मांय।
बो दाबै बै ऊबसै, करनी छानी नांय।।'

किसी तस्कर ने तूम्बों को छिपाने के लिए जलाशय का आश्रय लिया। उसने दोनों हाथों से कुछेक तूम्बों को जल में छिपाने का प्रयास किया, किन्तु अन्य तुम्बे जल के ऊपर आकर तैरने लगे। पुनः उसने ऊपर आए तूम्बों को जल में छिपाने का प्रयास किया तब हाथ से दबे हुए तुम्बे पुनः ऊपर आकर जल पर तैरने लगे, तूम्बे छिपे नहीं रह सके। आखिर माया माया ही होती है। वह तूम्बों की भांति कभी छिप नहीं सकती। वह एक न एक दिन अवश्य ही प्रकट होती है। जो व्यक्ति माया के चक्कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में एक बार भी धोखा खा जाता है वह पुनः उस माया में फंसने का प्रयास नहीं करता और वह बड़ी ही सावधानी से संभल-संभल कर पग रखता है। इसलिए कवि ने सत्य ही कहा है—

'फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजे व्यवहार।
जैसे हांडी काठ की, चढै न दूजी बार।।'

जिस प्रकार काठ की हांडी अग्नि पर एक बार चढ़ने के बाद जलकर नष्ट हो जाती है, दूसरी बार वह अग्नि पर नहीं चढ़ सकती, वैसे ही कपट की प्रवृत्ति एक बार ही चल पाती है। उसे जान लेने पर मनुष्य दोबारा उस प्रवृत्ति से धोखा नहीं खाता।

शुकबोध में भी माया के स्वरूप को दर्शाते हुए कहा गया है—

'मायाकरण्डी नरकस्य हण्डी।
तपोविखण्डी सुकृतस्य भण्डी।।'

माया एक पिटारी है, नरक की हांडी है, वह तप को खंडित करने वाली और सुकृत को नष्ट करने वाली है।

इस प्रकार माया अनेक दोषों की जनक है, फिर भी व्यक्ति उसे अपनाता है और मायावी बनकर मायाचार करता है। उसकी प्रकृति ही कुछ ऐसी होती है कि वह सब चीजों को कुटिलता से देखता है। उसकी मति, गति, भावना तथा आचरण सब कुछ कुटिलता से परिपूर्ण होते हैं।

जैन आगमों तथा अन्यान्य ग्रन्थों में भी मायाजन्य दोषों का विस्तार से वर्णन हुआ है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—**'माया गईपडिग्घाओ'**—माया सुगति का नाश करती है। दसवैकालिकसूत्र में बताया गया—**'माया मित्ताणि नासेइ'**—माया मैत्री का नाश करती है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—**'माया तैर्यग्योनस्य'**—माया से तिर्यंचयोनि मिलती है। स्थानांगसूत्र में तिर्यंच गति में जाने के चार कारणों का उल्लेख है। उनमें एक कारण माया भी है। इसी प्रकार स्थानांगसूत्र में माया को वंशीभूत, मेषविषाण, गोमूत्रिका तथा अवलेखिका के समान माना गया है। मेषविषाण के समान माया का आचरण करने वाला जीव मरकर तिर्यंच गति में उत्पन्न होता है।

विवेकविलास में कहा गया—**'नृणां स्त्रीत्वप्रदा माया'**—माया पुरुष को स्त्रीत्व देने वाली होती है। उसका उदाहरण है—भगवान मल्लिनाथ। ज्ञातासूत्र में बताया गया है कि धर्म के विषय में की हुई सूक्ष्म माया भी अनर्थ के लिए होती है, जैसे कि भगवान मल्लिनाथ ने महाबल के भव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया था, किन्तु तपस्या में थोड़ी-सी माया के कारण उनको स्त्रीरूप में जन्म लेना पड़ा।

सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट है—**'जे इह मायादि मिज्जई, आगंता गब्भादणंतसी।'** जो साधक मनुष्य-जीवन में माया में फंस जाता है, वह अनन्त बार गर्भ के दुःखों को प्राप्त होता है। प्रस्तुत सूत्र (सूत्रकृतांग) में अन्यत्र कहा गया—जो मायावी पुरुष माया का आचरण कर उसकी आलोचना नहीं करता, उसका प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, विवर्तन, विशोधन नहीं करता तथा पुनः उसे न करने के लिए अभ्युत्थित नहीं होता और न यथायोग्य तपःकर्मरूप प्रायश्चित्त को स्वीकार करता है वह या तो मृत्यु के पश्चात् इस लोक में साधारण कुल में जन्म लेता है या वह परलोक में दुर्गति में उत्पन्न होता है।

जहां माया होती है वहां व्यक्ति को सदैव भय बना रहता है और उस स्थिति में सहसा किसी का विश्वास भी नहीं किया जा सकता। माया एक शल्य है। उसके रहते हुए व्रत या धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। उमास्वाति ने इसी आशय से लिखा था—**'निःशल्यो व्रती'**—जो शल्यरहित होता है वही व्यक्ति व्रती या धार्मिक हो सकता है।

इसलिए भारतीय संस्कृति में निष्कपटता, सरलता, ऋजुता का सदा से मूल्य रहा। भगवान महावीर ने कहा—**'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई'**—धर्म उसमें ठहरता है, जो शुद्ध होता है। **'सोही उज्जुयभूयस्स'**—शुद्धि उसे प्राप्त होती है जो ऋजुभूत होता है। शुद्धि और ऋजुता का परस्पर गहरा संबंध है। महात्मा ईसा ने इस प्रसंग में कहा था—जिनका हृदय बालकों की तरह पवित्र और स्वच्छ होता है, जो बालकों की भांति सरल और निष्कपट होते हैं वे व्यक्ति ही ईश्वरीय राज्य में प्रवेश कर सकते हैं।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! ऋजुता-सरलता से जीव क्या प्राप्त करता है? भगवान ने कहा—ऋजुता से वह काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता और कथनी-करनी की समानता को प्राप्त होता है।

जो व्यक्ति सरल होता है वह सबको सरलता से देखता है। उसकी गति, मति, भावना तथा आचरण सब सरलतायुक्त होते हैं। इसलिए कविमानस ने कहा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सरलजनों की सरल गति, वक्रजनों की वक्र।
सीधा जाता तीर ज्यों, चक्कर खाता चक्र।।'

सरल हृदय मायारहित होता है। वह सबको प्रिय लगता है। इसलिए बच्चों की प्रियता का हेतु उनकी सहजता, ऋजुता और सरलता ही होती है। जहां सरलता होती है वहां परमात्मा का निवास होता है, सद्गति और मोक्ष का वास होता है। सरल पुरुष अपने लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

कहीं-कहीं नीतिकारों ने व्यक्ति को अति सरल बनने का भी निषेध किया है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति सरलतम होता है उसका दूसरे-दूसरे लोग दुरुपयोग करते हैं, उनके हितों की अनदेखी करते हैं। इसी आशय से चाणक्यनीति में कहा गया—

'नात्यन्तसरलैर्भाव्यं, गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र, कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः।।'

मनुष्य को अति सरल नहीं होना चाहिए। उस अति सरलता का परिणाम तुम वन में जाकर देखो। वहां सीधे-सरल वृक्ष काटे जाते हैं और बांके-टेढे वृक्ष खड़े रह जाते हैं।

यह सत्य लौकिक जीवन में खरा उतर सकता है और अति सरल मनुष्य को कभी-कभी मुसीबत में भी डाल सकता है, पर धर्म और मोक्ष की आराधना के लिए यह सत्य यथार्थता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। वहां मनुष्य को अति सरल होना अत्यन्त अनिवार्य होता है। उसके बिना सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी सत्य को उलटकर ऐसे भी कहा जा सकता है कि सीधी लकड़ी पर राष्ट्रध्वज लहराया जाता है और टेढ़ी-बांकी लकड़ियों को चूल्हे में जलाया जाता है।

जिस प्रकार शुद्ध साध्य की प्राप्ति कभी अशुद्ध साधनों से नहीं हो सकती उसी प्रकार मायादि दोषों से उच्च लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह तो सरलता से ही संभव है। आगमो में यत्र-तत्र माया को छोड़ने का निर्देश किया गया है—**'मायं च वज्जए सया'**—माया का सदा वर्जन करना चाहिए। **'मायं चज्जवभावेण'**—माया-कपट को सरलभाव से जीतो। **'मायामोसं विवज्जए—'** मायामृषा (कपट सहित असत्य) का वर्जन करो।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण में मायाजन्य दोषों का वर्णन करते हुए उनको दूर से छोड़ने का निर्देश दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वे कहते हैं—माया कल्याण को जन्म देने के लिए बन्ध्या स्त्री के समान है, सत्यरूपी सूर्य को अस्त करने के लिए सन्ध्या के समान है, कुगतिरूपी युवती का वरण करने के लिए वरमाला के समान है, मोहरूपी हाथी के लिए शाला के समान है, उपशमरूपी कमलों के विनाश के लिए अत्यधिक हिम के समान है, अपयश की राजधानी के समान है तथा सैंकड़ों कष्टों को सहयोग देने वाली है।

माया की परिणति भविष्य में वैसे ही उपद्रव करने वाली होती है जैसे कि अपथ्यकारक भोजन रोग को उत्पन्न करने वाला होता है। वह अविश्वास की जननी है तथा उससे महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है, इसलिए माया को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

प्रस्तुत प्रकरण की फलश्रुति के रूप में कुछेक बिन्दु इस प्रकार हैं—

- माया अविश्वास की जननी है, भय का स्रोत है।
- माया को छोड़ने का अर्थ है—ऋजुता-सरलता का विकास, अभय का विकास।
- ऋजुता से काया, भाव और भाषा की सरलता प्राप्त होती है और कथनी-करनी की समानता उपलब्ध होती है।
- माया एक शल्य है। निःशल्य व्यक्ति ही व्रतों की साधना और धर्म की आराधना कर सकता है। वह ऋजुता से ही संभव है।

ऋजुता-सरलता की साधना के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। बिना अभ्यास के ऋजुता का भाव पुष्ट नहीं हो सकता। अतः ऋजुता का अभ्यासी पुरुष बार-बार ऋजुता की अनुप्रेक्षा करे। वह कायोत्सर्ग की स्थिति में अपने आपको सुझाव देते हुए इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें—'ऋजुता-सरलता का भाव पुष्ट हो रहा है, वक्रता का भाव क्षीण हो रहा है।' फिर इसका मन ही मन नौ बार जप भी करे।

इस अनुप्रेक्षा से धीरे-धीरे वक्रता का ह्रास होकर सरलता का विकास होता है। यह माया को कम करने का एक सक्षम प्रयोग है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८.अवबोध

मनुष्य की प्रवृत्ति अनेक प्रेरणाओं और भावनात्मक उत्तेजनाओं से प्रेरित होकर चलती है। उनमें सबसे बड़ी प्रेरणा है लोभ की। लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य क्या कुछ नहीं करता? वह आवश्यकता से अधिक अर्थ का संग्रह करता है, अनैतिक उपायों को काम में लेता है, क्रूरतापूर्ण कार्यों में प्रवृत्त होता है तथा परार्थ को गौणकर स्वार्थ की बात सोचता है। इसलिए गौतमकुलक में कहा गया—**'लुद्धा नरा अत्थपरा हवन्ति'**—लोभी मनुष्य अर्थपरायण होते हैं। उनके जीवन की दौड़ सदा धन के पीछे लगी रहती है। जब अर्थ ही सब कुछ होता है तब व्यक्ति में कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय आदि का विवेक भी लुप्त हो जाता है। मनुष्य में सबसे अधिक लोभ की चेतना काम करती है। लोभ का परिवार इतना अधिक बड़ा है कि उसमें क्रोध, मान, माया आदि का भी समावेश हो जाता है। इसलिए दसवैकालिकसूत्र में कहा गया—**'लोहो सव्वविणासणो'**—लोभ सब गुणों—प्रीति, विनय और मैत्री का नाश करने वाला है। यदि धन का बंटवारा ठीक प्रकार से नहीं हुआ तो पुत्र पिता से रुष्ट हो जाता है, यह प्रीति का नाश है। किसी भाई को पिता के द्वारा अधिक धन दिए जाने पर दूसरे भाई का अंटसंट बकना विनय का नाश है। पुत्र के द्वारा कपटपूर्वक धन ग्रहण करने पर उसे स्वीकार नहीं करना मित्रभाव का नाश है। इस प्रकार लोभ की यह सर्वगुणनाशक प्रवृत्ति है। सभी कषाय एक लोभ की परिधि में सिमट जाते हैं। यदि लोभ प्रबल है तो क्रोध ज्यादा सताएगा, अहंकार ज्यादा हावी होगा और माया का जाल विस्तृत होगा। वे सब लोभ-प्रवृत्ति की प्रेरणाएं हैं।

लोभ का उद्गम-स्थल है—अपनी ही असीमित-विशाल इच्छा तथा महत्त्वाकांक्षा। व्यक्ति को लोभरूपी भूत तभी लगता है जब वह अनगिन कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से ग्रस्त होता है। कभी-कभी तो व्यक्ति अपनी इच्छाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने में इतना अधिक पागल हो जाता है कि उसके सामने जीवन का मूल्य भी गौण हो जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इच्छा की प्यास न तो कभी बुझती है और न ही पूर्णतया सन्तुष्ट होती है। वह तो बिना पाल का सरोवर है। उसकी कोई सीमा नहीं होती। वह तो असीम है।

प्रत्येक इच्छा की अपनी मांग होती है। किसी की मांग छोटी होती है तो किसी की मांग बड़ी। दोनों में बड़ा अन्तर होता है। पाश्चात्य विचारक काउली (Cowley) ने इस विषय में कहा था—'गरीबी कुछ चीजें मांगती है, विलासिता बहुत-सी चीजें चाहती हैं, किन्तु लोभप्रेरित इच्छा सब कुछ चाहती है।' उन इच्छाओं का कभी अन्त नहीं आता। जब तक मन में असन्तोष की आग है तब तक इच्छाओं का पार भी नहीं पाया जा सकता। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया—

'कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया।।'

धन-धान्य से परिपूर्ण यह समूचा लोक भी यदि किसी एक को दे दिया जाए तो भी वह उससे संतुष्ट नहीं होता, तृप्त नहीं होता, क्योंकि यह आत्मा दुष्पूर है—संतुष्ट होने वाली नहीं है।

योगशास्त्र में कहा गया—**'असन्तोषवतः सौख्यं न शक्रस्य न चक्रिणः'**—असन्तोषी इन्द्र और चक्रवर्ती भी जब सुख नहीं पा सकते तो फिर मनुष्यों की बात ही क्या?

प्रत्येक मनुष्य को दूसरों की थाली में ही ज्यादा घी दिखता है। प्रत्येक की सोच भी यही रहती है कि दूसरा व्यक्ति मेरे से बहुत धनवान् है, सुखी है। वह दूसरों की सुख-सुविधाओं, ऐश्वर्य को देखकर मन ही मन कल्पना करता है कि काश! मैं भी उस जैसा बन जाऊं? यह महत्त्वाकांक्षा ही व्यक्ति में लोभ की चेतना को जगाती है। इस विषय में संस्कृतकवि ने ठीक ही कहा—

'अधोऽधः पश्यतः कस्य, महिमा नो गरीयसी।
उपर्युपरि पश्यन्तः, सर्व एव दरिद्रति।।'

जब व्यक्ति अपने से नीचे के व्यक्ति को देखता है तो उसका बड़प्पन और अधिक बढ जाता है। जब वह अपने से ऊपर के व्यक्ति को देखता है तो उसे नीचे वाले सभी दरिद्र प्रतीत होते हैं। फिर वह अपने आपको ऊपर वाले व्यक्ति के समान बनाने का प्रयत्न करता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने असन्तोष के विषय में कहा था—'चिड़िया कहती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, काश! मैं बादल होती। बादल कहता है—काश! मैं चिड़िया होता। नदी का एक किनारा कहता है—सम्पूर्ण सुख दूसरे किनारे पर है तो दूसरा किनारा कहता है—सारा सुख पहले किनारे पर है। इस प्रकार असन्तोष दोनों ओर है, सन्तोष कहीं भी नहीं है। इसी भावना को प्रकट करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं—

'तारे ऊपर हैं, वे नीचे आना चाहते हैं
और पेड़ जो नीचे हैं, वे ऊपर जाना चाहते हैं
सन्तोष ऊपर भी नहीं, नीचे भी नहीं है।'

जब तक चित्त में आकांक्षाओं तथा कामनाओं का ज्वार है तब तक व्यक्ति सन्तोष और तृप्ति का अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए योगशास्त्र में कहा गया—

'तृप्तो न पुत्रैः सगरः, कुचिकर्णो न गोधनैः।
न धान्यैस्तिलकः श्रेष्ठी, न नन्दः कनकोत्करैः।।'

चक्रवर्ती सगर साठ हजार पुत्रों को पाकर भी सन्तोष नहीं कर सका, कुचिकर्ण अत्यधिक गोधन से भी तृप्त नहीं हो सका, तिलक श्रेष्ठी को प्रचुर धान्यसंग्रह भी संतोष नहीं दे सका और नन्दराजा सोने के ढेरों से भी शान्ति नहीं पा सका।

यह है असीमित इच्छाओं और कामनाओं की अपूर्ति का परिणाम। ऋषिभाषित में कहा गया—

'इच्छा बहुविहा लोये, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छामणिच्छाए जिणित्ता सुहमेधति।।'

संसार में इच्छाएं अनेक प्रकार की हैं। उनसे बंध कर जीव बहुत क्लेश-दुःख पाता है, इसलिए इच्छा को अनिच्छा से जीतकर ही मनुष्य सुख पा सकता है।

अनिच्छा से इच्छाओं को कैसे जीता जाए, यह आज का अहं प्रश्न है। भगवान महावीर ने इसका समाधान देते हुए कहा—**'इच्छा लोभं न सेविज्जा'**—साधक को इच्छा और लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए। इच्छाओं की विजय इच्छापरिमाणव्रत से ही संभव हो सकती है। जब भी मन में इच्छाएं उत्पन्न हों, मन को इच्छाओं के विरुद्ध मोड़ लो। इसी संदर्भ में पाश्चात्य विचारक हेल्वेटियस (Helvetius) ने कहा था—'इच्छाओं को शून्य करने के लिए तुम्हें मन को शून्य करना चाहिए।' तभी तुम इच्छाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर नियंत्रण पा सकोगे और अनिच्छा के द्वारा इच्छाओं को जीत सकोगे।

लोभ भी इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को उत्तेजित करता है, असन्तोष की आग भड़काता है। लोभी व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति धन के लाभ से गतिमान् होती है। इसलिए पाश्चात्य निबन्धकार बेकन (Bacon) ने कहा था—'लोभी मनुष्य ठीक प्रकार से यह नहीं कह सकता कि धन उसके अधिकार में है, जैसा कि धन यह कह सकता है कि वह लोभी उसके अधिकार में है।' क्योंकि धन का नशा मनुष्य को जड़मूढ बना देता है। उससे जकड़ा हुआ व्यक्ति परार्थ और संबन्धों को भी भुला देता है। धन की मादकता कैसी होती है, उसका उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

'कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाए बौरात है, या पाए बौराय।।'

कनक दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—सोना और धतूरा। धतूरे से सोने में सौ गुनी मादकता अधिक होती है। धतूरे को खाने पर मनुष्य नशे में मत्त हो जाता है और सोना प्राप्त होने पर मनुष्य उसके मद में उन्मत्त-बावला बन जाता है।

सब जगह धन की पूजा है। यदि किसी के पास धन है तो वहां व्यक्ति का आदर, सत्कार और आवभगत है। अन्यथा कोई किसी को नहीं पूछता। इसलिए सन्त तुलसीदास ने कहा—

दौलत से दौलत मिले, कर-कर लांबा हाथ।
तुलसीदास गरीब की, कोउ न पूछे बात।।

गरीब व्यक्ति को कोई नहीं पूछता। जिनके पास धन-दौलत है उन्हीं से सारी बातें की जाती हैं, क्योंकि धन धन को अपनी ओर खींचता है।

धन के लोभ में व्यक्ति अपने कर्तव्य को भी भूल जाता है, वह पथभ्रष्ट हो जाता है। इसी आशय से कवि तुलसीदास ने कहा—

'दौलत की दो लात है, तुलसी निश्चय कीन्ह।
आवत अन्धा करत है, जावत करे अधीन।।'

जब मनुष्य को धन-संपत्ति की प्राप्ति होती है तब वह अन्धा—विवेकशून्य बन जाता है। जब धन उसके पास से जाता है तब वह व्यक्ति को अपने अधीन बना लेता है, वह उसकी अधीनता से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए धन दोनों ओर से लात मारता है, आते समय भी और जाते समय भी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन का लोभ भाई-भाई के हृदय में घृणा पैदा करता है, परिवार में विवाद और विग्रह उत्पन्न करता है, मित्रों के बीच वैमनस्य की दीवार खड़ी करता है और घर-घर में कलह भी वही कराता है। इसलिए आचारांगसूत्र में कहा गया—**'करेइ लोहं वेरं वड्ढइ अप्पणो'**—जो व्यक्ति लोभ करता है वह वैर को बढ़ाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया—**'लोहाओ दुहओ भयं'**—लोभ से ऐहिक-पारलौकिक—दोनों प्रकार का भय है।

आयुर्वेद में लोभ को हृदय-दौर्बल्य, अरुचि और अग्निमांद्य का मूल कारण माना गया है, क्योंकि लोभी व्यक्ति सदा भयभीत बना रहता है। वह सत्य को कहने और उसे स्वीकार करने में सदा हिचकिचाता है, इसलिए उसका हृदय निर्बल हो जाता है। वह निरन्तर अर्थार्जन की बात सोचता है, उसका सारा चिन्तन अर्थ की ही परिक्रमा करता है, इसलिए उसमें अरुचि और अग्निमांद्य का होना भी स्वाभाविक होता है।

प्रस्तुत काव्य के रचयिता सूरीश्वर सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण में लोभजनित दोषों का वर्णन किया है। वे कहते हैं—मनुष्य जिसके लिए दुर्गम अटवी में घूमता है, विकट देशान्तर में जाता है, गहन समुद्र का अवगाहन करता है, बहुकष्ट-साध्य कृषि करता है, कृपण स्वामी की सेवा करता है तथा दुःशक्य संचरण वाले युद्ध में जाता है वह सब लोभ का ही परिणाम है। और तो क्या? लोभ समस्त धर्मरूपी वन को जला रहा है, उसमें दुःखरूपी भस्म भरी हुई है। उससे अपकीर्तिरूप धूआं उठ रहा है और वह अत्यधिक धनरूप इन्धन के कारण प्रज्वलित है। ऐसे लोभरूपी अग्नि में गुणों का समूह शलभ की भांति जलकर भस्मसात् हो जाता है।

आचारांगसूत्र में बतलाया गया—**'लोभस्स पासे णिरयं महंतं'**—लोभ को तुम महान् नरक के रूप में देखो। उसी सत्य को गौतमकुलक में प्रकट किया गया—**'लुद्धा महिच्छा नरयं उवेंति'**—लोभी और महेच्छक व्यक्ति नरक को पाते हैं। अर्थलोभी धनिकों के लिए ईसामसीह ने कहा था—'सूई के छेद में से ऊंट का निकलना सहज है, किन्तु लोभी धनिकों का स्वर्ग के द्वार में प्रवेश करना असंभव है।

अंगुत्तरनिकाय में कहा गया—इस संसार में दो ही व्यक्ति दुर्लभ हैं—एक वे जो स्वयं तृप्त हैं, सन्तुष्ट हैं और दूसरे वे जो दूसरों को तृप्त करते हैं, सन्तुष्ट करते हैं। दसवैकालिकसूत्र में बतलाया गया—**'सन्तोषपाहन्नरए स पुज्जो'**—पूज्य वही है जो संतोष की प्रधानता में अनुरक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार भारतीय साहित्य सन्तोष की महान् गुण-गाथाओं से भरा हुआ है। शेखसादी ने सन्तोष को संबोधित करते हुए कहा था—ओ सन्तोष! तू मुझे ऐश्वर्यशाली बना दे! क्योंकि कोई ऐश्वर्य तुझ से बढ़कर नहीं है।

कवि ने ठीक कहा—

'गोधन, गजधन, वाजिधन और रतनधन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूलि समान।।'

जब व्यक्ति के पास सन्तोषरूपी धन आ जाता है तब वह गोधन, गजधन, वाजिधन और रतनधन-सभी धनों को धूलि के समान मानने लग जाता है।

आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण में लोभविजय के लिए सन्तोष को प्रधान साधन मानते हुए कहा है—जो मनुष्य सन्तोष को धारण करता है उसके सामने कल्पवृक्ष प्रकट हो जाता है, उसके घर में कामधेनु आ जाती है, उसके चिन्तामणि रत्न हस्तगत हो जाता है, निधि उसके समीप हो जाती है और जगत् उसके वशवर्ती हो जाता है तथा स्वर्ग और मोक्ष की संपदाएं उसके लिए सुलभ हो जाती हैं। अतः सन्तोष समस्त दोषरूपी अग्नि के उपशमन के लिए मेघ के समान है।

प्रतिपत्ति के रूप में प्रस्तुत प्रकरण को इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

- लोभ का मूल कारण है—व्यक्ति की असीमित कामनाएं और इच्छाएं।
- इच्छाओं को अनिच्छा के द्वारा ही जीता जा सकता है। वह 'इच्छा-परिमाणव्रत' के द्वारा ही संभव है।
- जितना अधिक लाभ होता है, लोभ उतना ही आगे से आगे बढ़ता रहता है।
- लोभ असन्तोष को बढ़ाता है।
- लोभ को अलोभ से जीता जा सकता है। जैसे कि आचारांगसूत्र में कहा गया—**'लोभं अलोभेण दुगंछमाणे लद्धे कामे नाभिगाहइ।'**
- लोभ-विजय का फलित है सन्तोष। उसकी प्राप्ति होने पर कौन धनवान् और कौन दरिद्र? सब समान होते हैं। इसलिए सन्तोष सर्वोत्कृष्ट धन है। इस संदर्भ में कवि ने उचित ही कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या,
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः?।।'

राजसभा में उपस्थित संन्यासी ने राजा से कहा–राजन् ! तुम लक्ष्मी से सन्तुष्ट हो और हम वल्कल पहनकर संतोष का अनुभव करते हैं। तुम्हारे और हमारे संतोष में कोई अन्तर नहीं है। दरिद्र वह है जिसमें तृष्णा विशाल है। मन के संतुष्ट होने पर कौन धनवान् और कौन दरिद्र?

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९.अवबोध

फूल में सौरभ और कांटें–दोनों होते हैं। सौरभ की सुवास सबको प्रिय लगती है, कांटों की चुभन हर किसी को अखरती है। उस सौरभ और चुभन से फूल स्वयं प्रभावित न भी हो, पर वे दोनों दूसरों को अवश्य प्रभावित करते हैं।

मनुष्य भी फूल की भांति सौरभ और कांटों से संवलित होकर जीवन जीता है। व्यक्ति की सुजनता सौरभ के समान एक गुण है और दुर्जनता कांटें के समान एक अवगुण है। दोनों से अन्य व्यक्ति तो प्रभावित होते ही हैं, किन्तु स्वयं व्यक्ति भी उनसे प्रभावित होता है। महान् व्यक्ति वही होता है जिसमें सज्जनता का वास होता है। दूसरे व्यक्ति भी उसी के पास बैठना-उठना और रहना पसन्द करते हैं जो भलाई का जीवन जीते हैं। इस संदर्भ में प्रसंगरत्नावली का प्रसिद्ध श्लोक है–

'गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं, दूतेऽपि वसतां सताम्।
केतकीगन्धमाघ्राय, स्वयं गच्छन्ति षट्पदाः।।'

सज्जन व्यक्ति भले ही दूर रहे, किन्तु उनके गुण जीवन-निर्माण में दूत का कार्य करते हैं, जैसे केतकी की सुगन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर स्वयं उनके पास चले जाते हैं।

सज्जन व्यक्ति किसी को अपने पास नहीं बुलाते, फिर भी लोग उनसे मुग्ध होकर उनके पास चले जाते हैं। रत्न स्वयं किसी की तलाश नहीं करता और न ही वह कभी किसी से कहता है कि तुम मेरे पास आओ, किन्तु व्यक्ति स्वयं उसकी तलाश करता है, वह उसके पास जाता है। क्योंकि आकर्षण हमेशा गुणों का अथवा मूल्यवत्ता का होता है। जिसके पास गुण होते हैं, मूल्यवत्ता होती है उसके पास सभी जाना चाहते हैं, निर्गुण के पास कोई फटकना भी नहीं चाहता। इसलिए मूल्यांकन गुणिजनों का होता है। इस प्रसंग में नीतिकार दुर्जन-संगति से दूर रहने का परामर्श देते हुए लोगों से कहते हैं–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सद्भिरेव सहासीत, सद्भिः कुर्वीत संगतिम्।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च, नासद्भिः किञ्चिदाचरेत् ।।'

तुम सज्जनों के साथ बैठो, उनकी संगति करो तथा उनसे विवाद एवं मित्रता करो, पर दुर्जनों के साथ कुछ भी मत करो, उनसे सदा बचते रहो।

दुर्जन व्यक्ति अपनी दुष्टता से कभी बाज नहीं आता। उसकी खलता का फल सबको भोगना पड़ता है। चाणक्यनीति में दुर्जन व्यक्ति की दुष्टता को बताते हुए कहा गया—

'तक्षकस्य विषं दन्ते, मक्षिकायाः शिरोविषम् ।
वृश्चिकस्य विषं पुच्छे, सर्वाङ्गे दुर्जनो विषम् ।।'

सांप के दान्त में ही विष होता है, मक्खी के शिर में ही विष होता है और बिच्छू की पूंछ में ही विष होता है, किन्तु दुर्जन व्यक्ति सारे अंगों से विषमय होता है।

विषधारक जीव-जन्तु अपनी-अपनी एक-एक प्रवृत्ति से मनुष्य की घात करते हैं, पर दुर्जन व्यक्ति की प्रवृत्तिमात्र ही घातक होती है। इसलिए पंचतन्त्र में कहा गया—

'स्पृशन्नपि गजो हन्ति, जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
पालयन्नपि भूपालः, प्रहसन्नपि दुर्जनः।।'

हाथी स्पर्श करता हुआ भी मनुष्य को मार देता है, सांप सूंघता हुआ तथा राजा पालन करता हुआ भी मनुष्य को मार देता है, किन्तु दुर्जन व्यक्ति तो हंसता हुआ भी मनुष्य को मार देता है, क्योंकि उसके हास्य में दुष्टता होती है। इसलिए नीतिकार सत्य कहते हैं—**'निसर्गतोऽन्तर्मलिना ह्यसाधवः'**—दुर्जन मनुष्य स्वभाव से ही मन के मैले होते हैं।

दुर्जन व्यक्तियों का मन सदा कुटिलता से भरा रहता है। उनका लक्ष्य दूसरों के अहित करने में ही लगा रहता है। वे अपनी कुचेष्टाएं मच्छर के समान करते हैं, इसलिए संस्कृतकवि ने मच्छर से दुष्ट व्यक्ति की तुलना करते हुए कहा—

'प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं,
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः,
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति।।'

जैसे मच्छर पहले पैरों पर आक्रमण करता है, फिर वह पीठ का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मांस खाता है—पीठ को काटता है। तत्पश्चात वह कानों के इर्द-गिर्द आकर गुनगुनाता है और बाद में छिद्र को देखकर निःशंक होकर सहसा उसमें प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति प्रथम पैरों में गिर कर चापलूसी करता है, फिर वह पीठ पीछे चुगली खाता है, कानों में मीठी-मीठी बातें करता है और मौका पाकर भीतर घुस जाता है, फिर वह निःशंक होकर भीतर से घात करता है।

दुष्टों की ये दुश्चेष्टाएं मच्छर के समान होती हैं। इसलिए नीतिज्ञ व्यक्ति सुझाव देते हैं कि दुर्जन के साथ प्रीति और वैर दोनों ही नहीं करने चाहिए। उसका व्यवहार अंगारें के समान होता है। अंगारा गर्म हो तो हाथ जलाता है और ठंडा हो तो हाथ को काला करता है। उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति की सारी चेष्टाएं दुर्जनता से ओत-प्रोत होती हैं।

सज्जन व्यक्तियों में सज्जनता का महान् गुण होता है। वे सदा परहित में उद्यत रहते हैं। उनका चिन्तन और व्यवहार सदा सकारात्मक होता है। वे कभी परदोष-कथन नहीं करते और पर-सम्पदाओं में लुब्ध नहीं होते। उनमें आत्मश्लाघा नहीं होती। वे न्याय और औचित्य को कभी नहीं भूलते तथा किसी के अप्रिय कहने पर भी वे कभी क्रोध नहीं करते। वे दूसरों की पीड़ा को देखकर स्वयं पीड़ा की अनुभूति करते हैं तथा दूसरों के गुणों को देखकर स्वयं प्रमुदित होते हैं। वे अपने व्यवहार से किसी को उत्पीड़ित नहीं करते। उनका अन्तःकरण सदा करुणा से छलकता रहता है। उनकी आंखों में निरन्तर प्रेम और आचरण में भलाई झलकती है। उनकी विद्या, धन तथा शक्ति गर्व के लिए नहीं होती, दूसरों के दमन के लिए नहीं होती। वे उनका उपयोग परहित के लिए करते हैं। वे जो सोचते या कहते हैं उसके अनुरूप वे उसका संपादन भी करते हैं। उनकी सारी शक्ति परार्थ में ही लगती है। वे सबके लिए इष्टचिन्तन और मंगलकामना करते हैं। उनकी नीति किसी भी परिस्थिति में **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'** की नहीं होती। वे दुर्जनों के साथ भी सज्जनता का व्यवहार करते हैं। इसी आशय से संत कबीर ने कहा था—

'जो तोको कांटा बुवै, ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, ताको है तिरसूल।।'

जो व्यक्ति तेरे लिए कांटे बोता है तो भी तू उसके लिए फूल ही बोता रह। तुझे फूल ही प्राप्त होंगे और उसे त्रिशूल—कांटे ही मिलेंगे।

यह सत्य है कि दूसरों का अहित करने वाले स्वयं का ही अहित करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, दूसरों को प्रताडित-संतापित करने वाले स्वयं ही प्रताडित-संतापित होते हैं। जहां दुर्जन व्यक्ति अपनी बुराई को नहीं छोड़ता वहां सज्जन पुरुष सदा अपनी सुजनता बनाए रखता है, वह कभी परिस्थितियों से विचलित नहीं होता। इसलिए नीतिकार सत्य कहते हैं—

'सुजनो न याति विकृतिं, परहितनिरतो विनाशकालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य।।'

परहित में लगा हुआ सज्जन पुरुष विनाश काल प्राप्त होने पर भी विकृति—दुर्जनता को प्राप्त नहीं होता, वह अपनी सुजनता बनाए रखता है, जैसे कि चन्दनवृक्ष काटे जाने पर भी उसकी सुगन्ध कुठार के मुख को सुरभित करती है।

सज्जन पुरुष की भलाई और दुर्जन पुरुष की बुराई आतप और छाया की भांति विपरीतगामी दिशाएं हैं। दोनों में कोई मेल नहीं है। दुर्जन व्यक्ति की दुर्जनता को सज्जनता में बदलना नीम को मीठा और लहसुन की दुर्गन्ध को मिटाने के समान है, जैसे–नीम के वृक्ष को कितनी ही बार दूध, घी अथवा गुड़ से सिंचित किया जाए अथवा लहसुन को बार-बार कस्तूरी से मर्दित किया जाए तो भी नीम कभी मीठा नहीं होता और लहसुन कभी अपनी दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता, वैसे ही दुर्जन पुरुष अपनी बुराई को कभी नहीं छोड़ता, इसलिए संतों ने कहा—

'दुर्जन कबहु न सुधरै, सौ साधन के संग।
मूंज भिजोवे गंग में, ज्यूं भीजै ज्यूं तंग।।'

जिस प्रकार मूंज को गंगा के पानी में भिगोने पर भी वह सिकुड़ता ही जाता है वैसे ही दुर्जन व्यक्ति सत्संगति के सैंकड़ों अवसर पाने पर भी कभी नहीं सुधरता, उसमें दुर्जनता वैसी की वैसी बनी रहती है।

दुर्जन चाहे कितना ही विद्वान् हो, पढा-लिखा हो, फिर भी वह छोड़ने योग्य होता है। इसी सत्य को प्रकट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं—

'दुर्जनः परिहर्त्तव्यो, विद्यया भूषितोऽपि सन् ।
मणिनालंकृतः सर्पः, किमसौ न भयंकरः?'

जिस प्रकार सांप मणि से विभूषित होता है, फिर क्या वह भयंकर नहीं होता ? उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति विद्या से अलंकृत होने पर भी सदा त्याज्य होता है।

प्रस्तुत काव्य के रचनाकार आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दौर्जन्य संसर्ग का वर्जन करते हुए कहा है—कुपित सर्प के मुख में हाथ डालना, जलते हुए अग्निकुंड में कूदना तथा भाले की नोक को उदर में डालना कदाचित् अच्छा हो सकता है, किन्तु ज्ञानी पुरुषों को दुर्जनता का आश्रय लेना कदापि अच्छा नहीं होता, क्योंकि वह विपदाओं का घर है।

ग्रन्थकार सूरीश्वर अपनी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए भले पुरुषों को सलाह देते हैं कि वे यश और वैभव के लिए दुर्जनता का आचरण न करें। वह एक कुत्सित आचरण है। उसका आचरण करना मानो जलसिंचन के बहाने धान्य के खेत में अग्नि फेंकने के समान है। पुनः वे कहते हैं कि सौजन्य का आचरण करने वालों के लिए निर्धनता श्रेष्ठ हो सकती है, किन्तु अनैतिक आचरण से अर्जित संपदा कभी श्रेयस्कर नहीं होती, क्योंकि उसका परिणाम बुरा होता है। सहज कृशता जिस प्रकार भविष्य में सुन्दर लगती है, शोथ से उत्पन्न स्थूलता कभी अच्छी नहीं लगती वैसे ही दुर्जनता कभी अथवा किसी परिस्थिति में अच्छी नहीं हो सकती।

अतः व्यक्ति के लिए सुजनता का आचरण करना अथवा सज्जन पुरुषों का आश्रय लेना यश को बढ़ाने वाला, वैभव का विस्तार करने वाला तथा भवभ्रमण को मिटाने वाला होता है। आचार्य भर्तृहरि ने सज्जनों और दुर्जनों के साथ मैत्री का स्वरूप दर्शाते हुए कहा है—

'आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण, लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्ध-परार्द्धभिन्ना, छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम् ।।'

दुर्जनों की मित्रता दिन के पूर्वार्ध की छाया के समान है। वह प्रारंभ में बड़ी होकर क्रमशः क्षीण होती जाती है। सज्जनों की मित्रता दिन के परार्द्ध की छाया के समान है। वह प्रारंभ में छोटी होकर क्रमशः बढ़ती जाती है।

जो व्यक्ति अपना कल्याण अथवा सुयश चाहते हैं उन्हें सदा सौजन्य का आचरण करना चाहिए। प्रस्तुत प्रकरण की फलश्रुति के रूप में कुछेक तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

- सुजनता संपदाओं का घर है और दुर्जनता विपदाओं का।
- सुजनता व्यक्ति का अपना निजी गुण है और दुर्जनता अवगुण।
- दुर्जन पुरुषों का संसर्ग करना अनेक विपदाओं को आमंत्रित करता है।
- सौजन्य से सुयश, कल्याण और वैभव की वृद्धि होती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवभ्रमण का क्लेश मिटता है।

- सज्जन व्यक्ति के पास दूसरा व्यक्ति सदा शान्ति और अभय का अनुभव करता है।
- दुर्जन व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी कुटिलता अथवा दुष्टता को नहीं छोड़ता। उसकी सन्निधि में रहने वाला व्यक्ति प्रायः भय का अनुभव करता है।
- सौजन्य सहज कृशता के समान है। उसका विपाक भविष्य में सरस होता है। दुर्जनता शोथ से उत्पन्न स्थूलता के समान है। उसका विपाक भविष्य में विरस होता है।
- सज्जन व्यक्तियों की संगत करना अथवा सुजनता का समाचरण करना मोक्षपथ पाने का सहज और सुगम उपाय है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०.अवबोध

सूर्य का मूल्य इसलिए है कि वह अपने आलोक से जग को आलोकित करता है। चन्द्रमा का मूल्य इसलिए है कि वह अपनी ज्योत्स्ना से शीतलता प्रदान करता है। तारों का मूल्य इसलिए है कि वे अपनी चमक से गगनमंडल को चमकाते हैं। आलोक, ज्योत्स्ना और दीप्ति—ये क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और तारों के गुण हैं। तभी सूर्य, चन्द्रमा और तारों की गुणवत्ता और मूल्यवत्ता है। जहां गुण होते हैं वहां पदार्थजगत् अथवा प्राणिजगत् का भी मूल्य बढ़ जाता है। गुणों के कारण ही उनमें प्रभुता का समावेश होता है और गुरुता आती है। इसी सत्य को संस्कृतकवि ने प्रकट करते हुए लिखा—

'ज्येष्ठत्वं जन्मना नैव, गुणैर्ज्येष्ठत्वमुच्यते।
गुणाद् गुरुत्वमायाति, दुग्धं दधि घृतं क्रमात् ।।'

गुरुता जन्म से ही नहीं होती, वह प्राप्त होती है गुणों से। जैसे कि गुणों के कारण दूध से दही, दही से घी क्रमशः गुरुता को पाता है, मूल्यवान् होता है।

यह सचाई है कि निर्गुण पदार्थ अथवा निर्गुण व्यक्ति की कोई मूल्यवत्ता नहीं होती। व्यक्ति का बड़प्पन उसके गुणों से प्रकट होता है न कि उच्चासन पर बैठने से। यदि कौआ सुमेरु के शिखर पर भी बैठ जाए तो भी वह गरुड़ नहीं बन सकता। संस्कृत-साहित्य में गुणों के महत्त्व को प्रकाशित करते हुए कहा गया—**'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते, पितृवंशो निरर्थकः'**—गुणों की सर्वत्र पूजा होती है, पिता के वंश की नहीं। गुणों के सामने पिता के वंश का मूल्य भी अर्थहीन हो जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया—**'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'**—गुणिजनों की पूजा अथवा सम्मान गुणों के कारण ही होता है, स्त्री-पुरुष के भेद अथवा आयु से नहीं होता। इसी के आधार पर संसार में एक कहावत भी है कि आते समय व्यक्ति का सम्मान अच्छी वेश-भूषा से होता है और जाते समय सम्मान गुणों का होता है। यदि व्यक्ति में गुण हैं तो वह दीपक के समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरों के लिए पथप्रदर्शक बनता है, दुर्गुणरूप हाथी को वश में करने के लिए अंकुश का काम करता है और अच्छा जीवन यापन करने के लिए एक आदर्श बनता है।

व्यक्ति का गुण ही दूसरों को अपनी ओर खींचता है और गुणों के कारण ही अनेक संपदाएं आकृष्ट होकर गुणिजनों के पास जाती हैं। यद्यपि उनमें गुणों की गुरुता होती है, फिर भी स्वयं व्यक्ति उनकी पहचान का पेरामीटर नहीं बन सकता। उसे भी अपनी पहचान के लिए किसी अन्य दर्पण की आवश्यकता होती है, जिसमें वह अपने गुणों को संक्रान्त अथवा प्रतिबिम्बित कर सके। वैसा दर्पण कोई गुणज्ञ व्यक्ति ही हो सकता है। वही वस्तुतः गुणिजनों के गुणों को प्रतिभासित कर सकता है। इसी तथ्य को अभिज्ञानशाकुन्तल में अभिव्यक्त करते हुए कहा गया—

'गुणिनि गुणज्ञो रमते, नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः।
अलिरेति वनात् पद्मं, न दर्दुरस्त्वेकवासोऽपि।।'

गुणज्ञ व्यक्ति ही गुणिजनों से प्रेम करता है, अगुणशील व्यक्ति कभी गुणी व्यक्ति में सन्तुष्ट नहीं होता, जैसे कि भौंरा वन से चलकर कमल के पास चला जाता है, किन्तु मेंढक पानी में रहता हुआ भी कमल के पास नहीं जाता।

इस जगत् में गुणों का अर्जन करने वाले व्यक्ति भी विरल होते हैं तो गुणों को सहेज कर रखने वाले भी विरल ही होते हैं। स्थानांगसूत्र में उन कारणों पर विचार किया गया है, जिनसे पुरुष विद्यमान गुणों को अस्वीकार अथवा विनाश करते हैं। वे चार कारण हैं—१. क्रोध २. प्रतिनिवेश–दूसरों की पूजा-प्रतिष्ठा सहन न करना ३. अकृतज्ञता ४. मिथ्याभिनिवेश—दुराग्रह।

कुछेक व्यक्ति अविद्यमान गुणों का दीपन अथवा वरण करते हैं। स्थानांगसूत्र में उसके चार कारण बतलाए गए हैं—१. गुणग्रहण करने का स्वभाव होना २. पराए विचारों का अनुगमन करना ३. प्रयोजन- सिद्धि के लिए सामने वाले को अनुकूल बनाने की दृष्टि रखना ४. कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करना।

वे व्यक्ति विरल होते हैं, जो गुणिजनों के गुणों को जानते हैं, परखते हैं, पर वे लोग विरलतम होते हैं जो गुणग्राहक बनकर दूसरों के गुणों के प्रति प्रमोदभावना प्रकट करते हैं, गुणवान् व्यक्तियों की अनुमोदना करते हैं तथा उनका संसर्ग कर उनके गुणों का अनुकरण-अनुसरण कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनको जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं। गुणग्राहकता के विषय में संत कबीर ने सत्य ही कहा है—

'जब गुण के गाहक मिलें, तब गुण लाख बिकाय।
जब गुण का गाहक नहीं, कौड़ी बदले जाय।।'

गुणों का मोल तभी बढ़ता है जब उन्हें लेने वाला कोई गुणग्राही होता है। जब गुणों को ग्रहण करने वाला ही कोई नहीं होता तब उनका भी अवमूल्यन हो जाता है, उनका मोल कौड़ियों में होता है।

यह सच है कि हीरा अथवा रत्न अपना मूल्यांकन स्वयं नहीं कर सकता। उसे भी जौहरी जैसे किसी गुणज्ञ पारखी की आवश्यकता होती है। वैसे ही गुणज्ञ व्यक्ति ही किसी के गुणों की परख अथवा मूल्यांकन कर सकता है। यदि किसी में कोई गुण ही नहीं है तो उसे कोई पारखी मिल भी गया तो वह उसका मूल्यांकन करेगा भी क्या? वह तो उसे निकृष्ट ही समझेगा।

रूप के सौंदर्य से किसी की गुणवत्ता का अंकन नहीं किया जा सकता। कभी-कभी बाहरी सौन्दर्य भी व्यक्ति को भटकाने वाला होता है। इसी आशय से कवि ने भौंरे को संबोधित करते हुए कहा—

'नहीं चम्पा नहीं केतकी, भंवर! देख मत भूल।
रूपरूड़ो गुणबाहिरो, रोहिड़ा रो फूल।।'

हे भंवर! तू किसको देखकर लुब्ध हो रहा है? यह कोई चम्पा अथवा केतकी का फूल नहीं है। यह तो रोहिड़े का फूल है। यह रूप से सुन्दर है, किन्तु इसमें कोई गुण नहीं है, इसलिए तू इसको देखकर अपने आप को मत भूल।

जो व्यक्ति गुणज्ञ नहीं होते, वे गुणों को भी ठुकरा देते हैं और गुणिजनों की निन्दा भी करते हैं। उनके लिए गुण-अगुण का विवेक करना दुर्लभ होता है। चाणक्यनीति में ऐसे व्यक्तियों के लिए कहा गया—

'न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाम् ।।'

जो व्यक्ति जिसके गुणोत्कर्ष को नहीं जानता वह सदा उसकी निन्दा ही करता है, इसमें आश्चर्य नहीं है। जैसे कि भीलनी हाथी के कुम्भस्थल से प्राप्त मुक्ता को छोड़कर गुंजा को ही धारण करती है।

जैसे गुणों का ग्रहण करना, उन्हें पहचानना कठिन होता है वैसे ही गुणवान् पुरुषों की संगत करना भी कठिनतम होता है। कभी-कभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणिजनों की संगति दुर्गुण अथवा निर्गुण व्यक्ति के समूचे जीवन को बदल देती है। अंगुलिमाल डाकू भगवान् बुद्ध की संगत पाकर महान् ऋषि बन गए। अर्जुनमाली जैसे आततायी का जीवन भगवान महावीर की सन्निधि पाकर रूपान्तरित हो गया। गुणवान् व्यक्ति का जादुई पवित्र आभामंडल तथा उसकी वाणी में अद्भुत शक्ति होती है। उसकी सन्निधि से जीवन में अवश्य बदलाव आता है। गुणी व्यक्ति तथा निर्गुण व्यक्ति का जीवन कैसा होता है? इसे बृहत्कल्पभाष्य में एक गाथा के द्वारा समझाया गया है—

'गुणसुट्ठियस्स वयणं घयपरिसित्तुव्व पावओ भाइ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेहविहूणो जह पईवो।।'

गुणवान् व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की भांति तेजस्वी और प्रकाशयुक्त होता है और गुणहीन का वचन तैलविहीन प्रदीप की भांति निस्तेज और प्रकाशशून्य होता है।

जो व्यक्ति तेजस्वी तथा प्रकाशयुक्त पुरुष के पास बैठता है अथवा निस्तेज और प्रकाशहीन पुरुष के पास बैठता है, उसकी संगति करता है, निश्चित ही उसके गुण अथवा अवगुण उस व्यक्ति में भी संक्रान्त हो जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने इस विषय में कहा था—**'बांध्यो कालारी पाखती गोरियो, वर्ण नावें पिण लखण आवे रे।'** दो बैल पास-पास बंधे हैं। एक काला है और दूसरा सफेद। काला बैल कुबुद्धियुक्त है। सफेद बैल में काले बैल का वर्ण तो संक्रांत नहीं होता, पर सदा साथ में रहने से उसकी कुबुद्धि तो संक्रांत हो ही जाती है। इसी प्रकार यदि बेर का वृक्ष कदली वन के पास उगता है तो बेर भले ही कदली न बने, किन्तु उसकी सुवास का प्रभाव तो बेर के पौधे पर हो ही जाता है। इसी उद्देश्य से नीतिकार कहते हैं—**'स्तोकोऽपि गुणिसंसर्गः श्रेयसे भूयसे भवेत्'**—गुणिजनों का थोड़ा-सा संसर्ग भी महान् कल्याण के लिए होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को गुम्फित करने वाले आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत 'गुणिसंग' प्रकरण में संगतिजन्य अभीष्ट फलों का बड़ी रोचकता से वर्णन किया है। वे कहते हैं—गुणोत्तम पुरुषों की संगति से मनुष्य की कुमति दूर होती है, मोह का भेदन होता है, विवेकशीलता बढ़ती है, न्याय का जन्म होता है, नम्रता का विस्तार होता है, यश फैलता है, धर्म का धारण तथा दुर्गति का निवारण होता है। पुनः सूरीश्वर अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि यदि किसी को उपरोक्त गुणों की तथा अन्य गुणों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकांक्षा है तो उसे गुणिजनों का संग स्वीकार करना चाहिए।

उन्होंने निर्गुण व्यक्तियों की संगति का वर्जन करते हुए भी उनके कटुक परिणामों की चर्चा की है। वे कहते हैं कि निर्गुण पुरुषों की संगति महिमारूपी कमल पर हिमपात, धनधान्य आदि की वृद्धि करने वाले मेघ के लिए प्रचंड वायु, दयारूप उपवन को रौंदने के लिए हाथी, कल्याणरूपी गिरि के भेदन के लिए वज्र, कुमतिरूप अग्नि को जलाने के लिए इन्धन तथा अन्यायरूपी लताओं को पनपने के लिए कन्द के समान है। ऐसी संगति कल्याण की अभिलाषा करने वालों के लिए सर्वथा अनाश्रयणीय है।

इसी सत्य को पुष्ट करते हुए नीतिकार भी कहते हैं—**'पुरुषा अपि बाणा अपि गुणच्युताः कस्य न भयाय'**–गुणविहीन पुरुष और गुण अर्थात् डोरी रहित बाण किसको भय उत्पन्न नहीं करते? इसलिए गुणविहीन की संगति वर्जनीय है।

प्रस्तुत प्रकरण की प्रतिपत्ति के रूप में कुछेक सत्यों का प्रतिपादन इस प्रकार है—

- गुणिजनों का संगम जीवन का रूपान्तरण करता है तथा बुराइयों के निवारण के लिए बहुत बड़ा आलम्बन बनता है।
- गुणग्राही बनकर किसी के अथवा कहीं से गुणों का अर्जन करना स्वयं की विशेषता है।
- निर्गुण व्यक्तियों की संगत से गुण भी दुर्गुण के रूप में परिणत हो जाते हैं।
- गुणिजनों की पहचान के लिए भी अपनी विवेक-शक्ति का विकास करना आवश्यक है।
- पूजा अथवा सम्मान सदा गुणों का होता है।
- व्यक्ति में गुरुता अथवा प्रभुता भी गुणों के कारण आती है।
- जहां गुणग्राहकता नहीं होती वहां विकास स्तंभित हो जाता है।
- आध्यात्मिक विकास के लिए किसी के गुणों को देखकर आह्लादित होना भी उन गुणों का स्वीकरण है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१.अवबोध

शिष्य के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह गुरु के सान्निध्य में पहुंचा। विनम्रता से वन्दन करते हुए बोला—गुरुदेव! आप पुनः पुनः अपने उपदेशों में इन्द्रियदमन की शिक्षा देते हैं। इन्द्रियां मनुष्यमात्र के लिए बहुत उपयोगी हैं। उन्होंने हमारा क्या बिगाड़ा है? इन्द्रियां ही तो हमारे बाह्य जगत् से सम्पर्क करने का माध्यम बनती हैं। वे ही हमें बाहरी जगत् का ज्ञान कराती हैं। यदि मनुष्य कानों को बन्द कर ले तो भाषा का अपना क्या मूल्य रहेगा? भाषा दूसरों के साथ सम्पर्क साधने का एक माध्यम है। समाज-निर्माण का मूलभूत तत्त्व भी भाषा ही है। इसी प्रकार आंख दूसरों को देखती हैं, रूप का ज्ञान कराती हैं। चक्षु का संयम करने से वह दूसरों को कैसे देख सकेगा, बिना देखे वह दूसरों को कैसे पहचान सकेगा? आंखों को मूंदकर रहना क्या जग में अन्धेरा नहीं है? प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय में व्यापृत होकर उस-उस विषय का ज्ञान कराती है तब इन्द्रियदमन क्यों?

गुरु ने शिष्य के तर्क को सुना। तर्क का प्रतिवाद करते हुए गुरु ने कहा—वत्स! तुम जो कहते हो वह सत्यांश है, पूरा सत्य नहीं है। इन्द्रियां हमारे ज्ञान का स्रोत हैं। वे केवल ज्ञान का ही वहन नहीं करती, संवेदन भी करती हैं। मनुष्य दो प्रकार की चेतनाओं के मध्य जीता है। एक चेतना है—संविज्ञान-चेतना, दूसरी चेतना है—संवेदन-चेतना। दोनों चेतनाओं का दरवाजा एक ही है। उस दरवाजे से आदमी भी आ सकता है और पशु भी। उससे अच्छा भी आ सकता है और बुरा भी। जब इन्द्रियां संविज्ञान-चेतना तक सीमित रहती हैं, उनके माध्यम से कोरी ज्ञान की चेतना बहती है तब तक इन्द्रियां हमारे लिए उपादेय हैं, क्योंकि ज्ञान उपादेय है। उदाहरणस्वरूप व्यक्ति केवल आंख से देखता है, केवल कान से सुनता है। यह उसकी संविज्ञान-चेतना है। यह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षयोपशम है। वहां इन्द्रियदमन की बात गौण है।

जब इन्द्रियां संवेदन-चेतना के धरातल पर चली जाती हैं वहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयों के ग्रहण के साथ-साथ उनमें राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता तथा मनोज्ञ-अमनोज्ञ का भाव भी जुड़ जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आवरणीय कर्म के साथ-साथ मोहनीय कर्म भी जुड़ जाता है, तब चित्त की निर्मल धारा कलुषित हो जाती है। उस स्थिति में इन्द्रियदमन की बात मुख्य होती है।

जिस प्रकार गंगोत्री का पानी स्वभावतः स्वच्छ और निर्मल होता है, आगे चलकर वह भी गंदगी मिलने से दूषित हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियां संविज्ञान-चेतना तक बुरी नहीं हैं, बुरी होती हैं संवेदन-चेतना के स्तर पर। उस समय वे इन्द्रियां राग-द्वेष के प्रभाव से आविष्ट होती हैं, मूर्च्छा-आसक्ति की गंदगी से कलुषित होती हैं। तब वे इन्द्रियां उच्छृंखल तथा उत्पथगामी हो जाती हैं और वे व्यक्ति को भटकाने वाली होती हैं।

उच्छृंखल इन्द्रियां कितनी जटिल और खतरनाक होती हैं, उसका अनुभव इन्द्रियों के स्तर पर जीने वाला ही कर सकता है।

गीता में कहा गया—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।'
'क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।'

जो व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों का निरन्तर चिन्तन करता है उसके मन में उनके प्रति आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति से कामवासना उभरती है। उससे क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृतिविभ्रम और स्मृतिविभ्रम से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि नष्ट होने पर व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत काव्य के प्रणेता आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण में इन्द्रियजन्य दोषों का उल्लेख करते हुए कहा है—इन्द्रियां आत्मा को कुपथ पर ले जाने के लिए दुष्ट घोड़े के समान हैं। वे कृत्य-अकृत्य के विवेकरूपी जीवन को हरण करने के लिए काले नाग के समान हैं। वे पुण्यरूपी वृक्षों के वन को खंड-खंड करने के लिए तीक्ष्ण कुठार के समान हैं। वे व्रतों की मर्यादा को भंग करने वाली हैं। इसी प्रकार वे इन्द्रियां प्रतिष्ठा का नाश, न्याय की मर्यादा का विघटन, अनाचरणीय कार्यों में मति का स्थापन, असंयम में प्रेम का विस्तार, विवेक के उदय का विध्वंस तथा विविध विपदाओं को जन्म देती हैं।

इन्द्रियां मन के द्वारा प्रेरित हैं। मन इन्द्रियों को संचालित कर रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वह पवन की भांति चंचल है। वह भाव मन को चंचल बना रहा है। विषय इन्द्रियों को चंचल बना रहे हैं और मन उस चंचलता में अपनी आहुति देकर इन्द्रियविषय-विकारों को उत्तेजित कर रहा है। इसी उद्देश्य से केशी कुमारश्रमण ने गणधर गौतम से पूछा था—गौतम! तुम मनरूपी साहसिक भयंकर दुष्ट अश्व पर चढे हुए हो। वह निरन्तर दौड़ रहा है। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाएगा? गौतम ने समाधान देते हुए कहा—श्रमण! तुम ठीक कह रहे हो। जब-जब वह उन्मार्ग में जाने का प्रयत्न करता है तब मैं श्रुत की लगाम खींचकर उसे रोक लेता हूं। वह अपने मार्ग पर आ जाता है।

इन्द्रियों की उच्छृंखलता ही शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्वास्थ्य को रुग्ण बना रही है और उन्हीं के कारण ही कभी-कभी मनुष्य को मौत का मुंह भी देखना पड़ता है। विवेकचूडामणि में कहा गया—

'शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च, पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः।
कुरङ्ग-मातङ्ग-पतङ्ग-मीन-भृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम्?।।'

पांच इन्द्रियों के शब्दादिक पांच विषयों में से एक-एक विषय से बन्धे हुए मृग, हाथी, पतंग, मछली एवं भ्रमर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। फिर पांचों विषयों से जकड़ा हुआ मनुष्य अपने आपको उनसे कैसे बचा सकता है?

उत्तराध्ययनसूत्र में इसे एक निदर्शन के द्वारा समझाया गया है—**'अपत्थं अंबगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए'**। इन्द्रियों के वशवर्ती होकर स्वाद में लोलुप राजा अपथ्य आम को खाकर अपना राज्य गवां बैठा और वह काल-कवलित हो गया। वैसे ही संयमी मुनि संयम के लिए अपथ्य का सेवन कर आध्यात्मिक राज्य को खो देता है। अनेक ऋषि-महर्षि इन्द्रिय-विषयों में आकृष्ट होकर, मन की भावनाओं को विकृत कर अपनी साधना से भ्रष्ट हुए। उसका निदर्शन भर्तृहरि के इस संस्कृत-श्लोक में मिलता है—

'विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
आहारं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहः कथमहो दम्भं समालोक्यताम् ।।'

वायु, जल और पत्तों का आहार करने वाले विश्वामित्र एवं पराशर आदि अनेक तपस्वी ऋषि स्त्री के सुन्दर मुखकमल को देखकर मोहग्रस्त-विकारग्रस्त हो गए, तब घी, दूध एवं दधियुक्त भोजन करने वाले मनुष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियनिग्रह कैसे कर सकते हैं? यह दम्भ नहीं तो क्या है?

इसका तात्पर्य है कि निस्सार भोजन करने वाले ऋषि-मुनि भी अपनी इन्द्रियों को विजित नहीं कर सके तो पौष्टिक आहार करने वाले इन्द्रिय-दमन कैसे कर सकते हैं? श्रीमद्भागवत में कहा गया—**'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः'**। इन्द्रियां संपीडित करने वाली होती हैं। वे संन्यासी के मन का भी हरण कर लेती हैं, विषयों की ओर उन्मुख कर देती हैं।

यह एक सचाई है कि प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में सुख की खोज कर रहा है। उसकी वह खोज बालुकणों में स्नेह पाने तथा कदली में सार खोजने जैसी है। अतः भक्तपरिज्ञा में कहा गया—

'सुट्ठुवि मग्गिज्जंतो, कत्थवि केलीइ नत्थि जहसारो।
इंदियविसएसु तथा, नत्थि सुहं सुट्ठुवि गविट्ठं।।'

बहुत खोज करने पर भी जैसे कदली में कहीं भी सार नहीं मिलता वैसे ही इन्द्रियविषयों में भी तत्वज्ञ पुरुषों ने अच्छी प्रकार खोज करके भी कहीं सुख नहीं देखा।

जो सुख इन्द्रियनिग्रह में है वह सुख अनियन्त्रित इन्द्रिय में कहां से प्राप्त होगा? आज का मनुष्य इन्द्रियसुखों को पाने की आशा से दौड़ रहा है। फिर भी उसे सुख नहीं मिल रहा है। आज का युग इन्द्रिय-असंयम के कारण अनेक समस्याओं तथा अपराधों से घिरा हुआ है। शरीर और चक्षु-असंयम के कारण बलात्कार एवं यौनशोषण जैसी जघन्य प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं। जीभ की अत्यधिक लोलुपता के कारण शरीर विविध रोगों से आक्रान्त हो रहा है। मनोज्ञ शब्दादिक सुनने में गृद्ध बना हुआ व्यक्ति चारित्रहीन जीवन जी रहा है। इस प्रकार इन्द्रियविषयों में पागल बना हुआ मनुष्य क्या कुछ नहीं करता?

अध्यात्म के आचार्यों ने एक ऐसे उपाय की खोज की, जिससे इन्द्रियों का दमन भी हो जाए और इन्द्रियां भी अपने-अपने विषय का ज्ञान करती रहें। इस संदर्भ में आचार्यों ने कहा—इन्द्रियविषयों के साथ प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, राग-द्वेष की चेतना जुड़ी हुई है। दोनों स्थितियों में रागद्वेषमुक्त चेतना से तटस्थभाव से प्रेक्षा करना। चाहे राग का भाव आए, चाहे द्वेष का भाव आए, चाहे प्रियता का भाव आए, चाहे अप्रियता का भाव आए, चाहे मनोज्ञभाव आए, चाहे अमनोज्ञभाव आए—दोनों का निग्रह करना तथा दोनों में सम रहना ही इन्द्रियदमन की साधना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययनसूत्र में सूत्रकार ने कहा—जीव श्रोत्र आदि पांचों इन्द्रियों के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द आदि विषयों में होने वाले राग-द्वेष का निग्रह करता है। वह तत्संबन्धी—रागद्वेष के निमित्त से होने वाला कर्मबन्ध नहीं करता तथा पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियां कर्म-बन्धन का हेतु भी है और कर्मनिर्जरण का हेतु भी। इन्द्रियां शत्रु भी हैं और मित्र भी। जब इन्द्रियां रागद्वेष की उत्पत्ति का हेतु बनती हैं तब इन्द्रियां कर्मबन्धन का कारण और शत्रु बन जाती हैं, क्योंकि रागद्वेष मोहकर्म की प्रकृतियां हैं, संवेदन-चेतना की प्रतीक हैं। श्रोत्र आदि इन्द्रियों का असंयम मनोज्ञ शब्द आदि विषयों के प्रति राग उत्पन्न करता है और अमनोज्ञ शब्द आदि विषयों के प्रति द्वेष उत्पन्न करता है। इससे श्रोत्र आदि इन्द्रियां कर्मबन्ध का हेतु और शत्रु बन जाती हैं। यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है। श्रोत्र आदि इन्द्रियों का निग्रह करने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों के निमित्त से होने वाला कर्मबन्ध रुक जाता है और अतीत में श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त से जो कर्मबन्ध हुआ है उसकी निर्जरा हो जाती है। तात्पर्य की भाषा में जब तक संविज्ञान-चेतना के साथ संवेदन-चेतना का संबंध नहीं होता तब तक व्यक्ति श्रोत्र आदि इन्द्रियों से संबंधित नए कर्मों का अर्जन नहीं करता और पूर्वबद्ध श्रोत्र आदि इन्द्रियों से संबंधित कर्मों को क्षीण कर देता है।

जितेन्द्रिय बनने के लिए मनोज्ञ-अमनोज्ञ, प्रिय-अप्रिय भाव का निग्रह करना आवश्यक है, यही साधना का केन्द्रबिन्दु है। इन्द्रियविजय की साधना वीतराग, साधु अथवा संन्यासियों के लिए जितनी आवश्यक है उतनी ही जरूरी है मानवमात्र के लिए। महामात्य कौटिल्य ने इसी संदर्भ में कहा था—**'अवश्येन्द्रियः चातुरंतोऽपि राजा सद्यो विनश्यति'**—जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं है वह चक्रवर्ती राजा भी शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। एक सीमा तक शासक और सामाजिक प्राणी—दोनों के लिए इन्द्रिय-संयम की आवश्यकता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इन्द्रियजय की चर्चा करते हुए कहा गया—**'इन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात् कार्यः।'** इन्द्रियों को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष का त्यागकर विजित किया जा सकता है। ये सब इन्द्रिय-आसक्ति को उत्पन्न करते हैं। तात्पर्यार्थ में संविज्ञान-चेतना से संवेदन चेतना को पृथक् करना ही इन्द्रियदमन की साधना है।

इन्द्रियसंयम से शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं और बुद्धि तथा भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी पवित्र बने रहते हैं। इसलिए गीता में कहा गया—**'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'** प्रज्ञा वहीं प्रतिष्ठित होती है जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं। इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता किस प्रकार सध सकती है, उसका एक निदर्शन गीता में इस प्रकार है—

'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।'

जैसे कछुआ सब ओर से अपने अङ्गों को समेट लेता है वैसे ही जब पुरुष इन्द्रियों को इन्द्रिय-विषयों से हटा लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

तत्त्वानुशासन में इन्द्रियों को वश में करने का उपाय बताते हुए कहा गया है—

'ज्ञानवैराग्यरज्जुभ्यां, नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रियवाजिनः।।'

इन्द्रियरूपी घोड़े नित्य उत्पथ में जा रहे हैं, मन को जीतने वाला व्यक्ति ज्ञान और वैराग्य की लगाम से उन्हें अपने वश में कर सकता है।

इन्द्रियों को वश में करने का तात्पर्य है—मन को वश में करना और जगत् को वश में करना। उसके बिना घर का त्याग करना, मौन को धारण करना, आचार-व्यवहार में दक्ष होना, गण में रहना तथा आगम-पठन में रत रहना, तप तपना आदि प्रयत्न राख में आहुति देने के समान हैं, इसलिए इन्द्रिय संयम सबसे बड़ा वशीकरण मंत्र हैं। उस मंत्र की सिद्धि के लिए प्रतिदिन कायोत्सर्ग की मुद्रा में संकल्प करें—मेरा राग का भाव घट रहा है, द्वेष का भाव घट रहा है। मैं केवल ज्ञाता-द्रष्टा हूं। जब संकल्प क्रमशः प्रबल होगा तो संविज्ञान-चेतना का विकास होता जाएगा और संवेदना स्वतः कम होती जाएगी। यही है आध्यात्मिक विकास का सोपान और यही है इन्द्रियसंयम की साधना।

प्रस्तुत प्रकरण का निष्कर्ष इन वाक्यों में पढा जा सकता है—

- इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों को चंचल बनाते हैं और उनको प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष तथा मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावों से विकृत करते हैं।
- इन्द्रियां संविज्ञान-चेतना के स्तर तक बुरी नहीं हैं, बुरी है संवेदन-चेतना के स्तर पर।
- इन्द्रियसंयम की साधना का अर्थ है—इन्द्रियों को संविज्ञान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतना तक सीमित रखना।

- इन्द्रियों का असंयम शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य को असन्तुलित करता है।
- प्रत्येक प्राणी के लिए इन्द्रियसंयम आवश्यक है। फिर वह चाहे संयमी-त्यागी हो अथवा राजा या चक्रवर्ती हो।
- साधना का आदि बिन्दु है–इन्द्रिय-संयम और निष्पत्ति है–वीतरागता।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२.अवबोध

किसी व्यक्ति ने लक्ष्मी को संबोधित करते हुए कहा—हे लक्ष्मी माता! तू जहां भी रहती है वह तेरी कृपा से लक्ष्मीवान् बन जाता है। जहां तेरी कृपादृष्टि नहीं होती वह सदा दरिद्रता का अनुभव करता है। दरिद्र व्यक्ति भी जब लक्ष्मीवान् से मिलने जाता है तब उसे यही उत्तर मिलता है कि अभी तो महाराजश्री सो रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, आराम कर रहे हैं, भोजन कर रहे हैं। उनसे अभी मिलने का समय नहीं है, जाओ, सुबह आना। इस प्रकार निर्धनों के लिए लक्ष्मीपतियों का दरवाजा बन्द रहता है। अधिकारी व्यक्ति भी उनसे मिलने नहीं देते, रोकते रहते हैं। अतः कमलनेत्रे लक्ष्मि! तू इन गरीबों को भी अपने कृपाकटाक्ष से देख, जिससे वे तेरे कृपापात्र बन सकें।

लक्ष्मी कहां रहती है, किसके पास जाती है, यह उसकी अपनी इच्छा है, पर हर व्यक्ति लक्ष्मी की कामना अवश्य करता है। लक्ष्मी धन की देवी है। उसकी उपासना करने का अर्थ है—धन को प्राप्त करना, ऋद्धि-सिद्धि और समृद्धि से युक्त होना। वे व्यक्ति भाग्यशाली हैं जिनके द्वार पर लक्ष्मी दस्तक देती है। वह भी वहीं प्रकट होती है जहां सुसंस्कृत वाणी, गुरुजनों की पूजा, नीति और बल—सभी का सम्मिलन होता है तथा जहां कोई दन्तकलह नहीं होता और सदा पुरुषार्थ की पूजा की जाती है। लक्ष्मी का मिलना और उसका स्थिर रहना—ये दोनों भिन्न बाते हैं। व्यक्ति लक्ष्मी को स्थिर करने का बहुत प्रयत्न करता है, पर विरल व्यक्ति ही उसमें सफल हो पाता है। विदुरनीति में लक्ष्मी के विषय में कहा गया—

'श्रीर्मङ्गल्यात् प्रभवति, प्रागल्भ्यात् संप्रवर्धते।
दाक्षिण्यात् कुरुते मूलं, संयमात् प्रतिष्ठति।।'

लक्ष्मी शुभ कार्य से उत्पन्न होती है, चतुरता से बढ़ती है, निपुणता से जड़ जमाती है और संयम से स्थिर होती है।

जिसमें शुभ कार्य, चतुरता, निपुणता तथा संयम की समन्विति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है वही व्यक्ति लक्ष्मी को प्रसन्न कर सकता है, अपने गृह-आंगन में उसे प्रतिष्ठित कर सकता है।

लक्ष्मी का स्वभाव है कि वह किसी एक स्थान पर अथवा किसी एक व्यक्ति के पास प्रतिबद्ध होकर निश्चल नहीं ठहरती। वह स्वतंत्र विहरण करना चाहती है। वह बादलों की छाया के समान अस्थिर, जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर तथा विद्युत् की भांति चपल होती है। बादलों की छाया क्षणभर के लिए पथिक को परितोष देने वाली होती है, किन्तु अगले ही क्षण वह आगे खिसक जाती है। पानी का बुलबुला पानी से उठता है और देखते-देखते पानी में ही विलीन हो जाता है। विद्युत् अचानक आकाश में चमकती है, किन्तु पलभर में आंखमिचौनी कर पलायित हो जाती है। लक्ष्मी भी मनुष्य को कुछ समय के लिए अपना लुभावना रूप दिखाती है और फिर कालान्तर में वह अपने रूप को छिपा लेती है। यही है लक्ष्मी का स्वभाव, यही है उसकी चपलता, चंचलता और तरलिता।

आचार्य विनोबा भावे ने इस संदर्भ में कहा था—लक्ष्मी का कार्य है धन देना। संस्कृत में धन को द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य का अर्थ है बहने वाला। यदि धन किसी के पास स्थिर रहता है तो उसका तात्पर्य है कि रुके हुए पानी की तरह उसमें बदबू आना।

किसी साधु अथवा अकिंचन त्यागी को धन में बदबू आ सकती है। किन्तु जनसामान्य तो उसमें सौरभ का ही अनुभव करता है। संसार में एक कहावत भी है कि गृहत्यागी यदि धन रखता है तो वह अपनी साधना से च्युत होता है। यदि गृहस्थ के पास धन नहीं है तो समाज में उसका सम्मान फूटी कौड़ी के समान भी नहीं होता। एक सामाजिक प्राणी की सारी प्रतिष्ठा धन के कारण ही होती है। क्योंकि धन जीवननिर्वाह का एक प्रमुख साधन है। उसके बिना जीवन की आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिए महाभारत में कहा गया—**'अर्थस्य पुरुषो दासः दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।'** मनुष्य धन का दास है। धन किसी का दास नहीं है।

सामाजिक धरातल पर धन का मूल्यांकन कम नहीं किया जा सकता। ससार में तीन शक्तियों की पूजा होती है—अध्यात्म की शक्ति, सत्ता की शक्ति तथा धन की शक्ति। जिसके पास धन की शक्ति होती है वह दुनिया का बड़ा विजेता हो सकता है। महान् सिकन्दर मकदूनिया-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरेश फिलिप्स का बेटा था। धन की शक्ति के कारण ही वह वर्षों-वर्षों तक सारी दुनिया में छाया रहा। धन के महत्त्व को बताते हुए पंचतन्त्र में कहा गया—

'गतवयसामपि पुंसां, येषामर्थो भवन्ति ते तरुणाः।
अर्थेन तु ये हीना, वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः।।'

जिन व्यक्तियों के पास धन है वे बुढ़ापे में भी तरुण बने रहते हैं। जो धनविहीन हैं वे युवावस्था में भी वृद्ध हो जाते हैं।

मनुष्य के सभी गुण तभी सार्थक बनते हैं जब उसके पास धन होता है। धन ही जीवन को चलाता है, दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। बिना धन के कुछ नहीं होता। अन्ततः उसे धन की ही शरण में जाना पड़ता है। महाकवि माघ ने धन के प्रयोजन को सिद्ध करते हुए कहा है—

'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं, हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः।।'

भूखे आदमी की भूख व्याकरण से नहीं मिटती, प्यासे आदमी की प्यास काव्यरस से तृप्त नहीं होती, विद्या के द्वारा किसी ने कुल का उद्धार नहीं किया, इसलिए तुम धन का उपार्जन करो। उसके बिना सभी कलाएं निष्फल हैं।

जीवन की अनिवार्यता के लिए तथा धनसिद्धि के लिए व्यक्ति को लक्ष्मी की पूजा-अर्चना करनी होती है। यह एक सचाई है कि लक्ष्मी के पास धन देने का सामर्थ्य भी है तो वह अस्थिर भी है। जब मनुष्य के पास लक्ष्मी आती है तो वह उसके नशे में धुत हो जाता है। जब वह जाती है तब व्यक्ति विषादग्रस्त हो जाता है। आचारांग की टीका में कहा गया—

'विभवः इति किं मदस्ते, च्युतविभवः किं विषादमुपयासि?
करनिहितकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम्।।'

हे मनुष्यो! तुम्हारे पास धन है, फिर अहंकार क्यों? यदि तुम धनविहीन हो तो फिर विषाद क्यों? मनुष्यों का यह जीवन हाथ में आई हुई गेंद के समान पतन और उत्थान वाला है।

जिनके पास धन है वे अपने आप में मूढ होकर अन्धता का जीवन जीते हैं। उन्हें परपीड़ा का अनुभव ही नहीं होता। वे यह भी नहीं जानते कि अन्य लोग भी विपत्तिग्रस्त हैं। उनकी प्रायः चिन्ता अपने ऐश्वर्य, सुख-सुविधा की होती है। वे दूसरों के कष्टों से अनजान बने रहते हैं। परदर्द को देखकर दो बून्द आंसू बहाने वाले लोग कम होते हैं, किन्तु अधिकतर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोग दूसरों पर हंसने वाले होते हैं। वे उस समय इस सचाई को भूल जाते हैं कि लक्ष्मी सर्वदा उनके अधीन रहने वाली नहीं है। इस आशय से संस्कृतकवि ने लिखा—

'आपद्गतान् हससि किं द्रविणान्धमूढ!,
लक्ष्मीः स्थिरा न भवतीति किमत्र चित्रम्।
किं तन्न पश्यसि घटीजलयन्त्रचक्रे,
रिक्ता भवन्ति भरिताः पुनरेव रिक्ताः।।'

धन से अन्धे बने हुए हे मूढ मनुष्य! तुम आपद्ग्रस्त मनुष्य का उपहास क्यों करते हो? लक्ष्मी कभी स्थिर नहीं रहती, इसमें आश्चर्य क्या है? क्या तुम अरहट को नहीं देखते? उसके खाली डोल कुएं से पानी भरते हैं और पुनः वे बाहर आकर खाली हो जाते हैं।

मनुष्य का कभी लक्ष्मीसंपन्न होना तथा कभी लक्ष्मीविपन्न होना निरन्तर चलता ही रहता है। लक्ष्मी का एकछत्र साम्राज्य कभी नहीं होता। यह महादेवी लक्ष्मी का ही प्रताप है कि वह मनुष्यों में बहुत-सी बुराइयों को भी उत्पन्न करती है। इसलिए नीतिकार ने लक्ष्मीजन्य विकारों को दर्शाते हुए कहा है—

'बधिरयति कर्णविवरं, वाचं मूकयति नयनमन्धयति।
विकृतयति गात्रयष्टिं, संपद्रोगोयमद्भुतो राजन् ! ।।'

हे राजन्! यह संपदा एक अद्भुत रोग है। यह कानों को बधिर, वाणी को मूक, नेत्र को अन्धा एवं शरीर को विकृत कर देता है।

किसी के पास लक्ष्मी आए और उसका चित्त विकृत न बने, वह अभिमानी और चिन्तित न बने, यह हो नहीं सकता। लक्ष्मी के प्रभाव से मनुष्य अनेक बुराइयों में चला जाता है।

प्रस्तुत काव्य के काव्यकार आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत प्रकरण में लक्ष्मीगत विकारों का उपमाओं सहित सुन्दर विवेचन किया है। वे लिखते हैं—जैसे निद्रा मनुष्य को चैतन्यशून्य करती है वैसे ही लक्ष्मी मानव को विवेक-विकल बनाती है। जैसे मदिरा उन्माद पैदा करती है वैसे ही लक्ष्मी अहंकार को पुष्ट करती है। जैसे धूआं किसी को देखने में व्यवधान डालता है वैसे ही लक्ष्मी मनुष्य को अन्धा बनाती है। जैसे बिजली में चपलता होती है वैसे ही लक्ष्मी में अस्थिरता होती है। जैसे वन की ज्वाला प्यास को बढाती है वैसे ही लक्ष्मी लोभ को वृद्धिंगत करती है। जैसे कुलटा स्वेच्छा से घूमती है वैसे ही लक्ष्मी भी स्वतन्त्र विचरण करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्मी की साधना करना सहज-सरल कार्य नहीं है। उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक कष्टों को झेलता है। उसके लिए वह क्या क्या नहीं करता? वह स्थान-स्थान पर घूमता है, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी तथा अन्यान्य अनेक कष्टों को भोगता है, मानसिक क्लेशों को सहता है और अत्यन्त निकृष्ट कार्यों को करने के लिए भी तैयार हो जाता है।

सूरीश्वर सोमप्रभ ने भी उसकी एक झलक का उल्लेख करते हुए कहा है—धनार्थी व्यक्ति को नीच पुरुषों की चापलूसी करनी होती है, उनके सामने झुकना पड़ता है, गुणविहीन शत्रु का गुणोत्कीर्त्तन करना पड़ता है तथा अकृतज्ञ स्वामी की सेवा में भी सन्तोष का अनुभव करना होता है।

इतना सब कुछ होते हुए भी मनुष्य की अन्धी दौड़ धन के पीछे लगी हुई है। वहां अर्थ-अनर्थ की बात गौण हो जाती है और धन उसके लिए प्रमुख बन जाता है। मनुष्य का सारा प्रयत्न लक्ष्मी को प्रसन्न करने में लगता है, पर लक्ष्मीदेवी को प्रसन्न करना किसी के वश की बात नहीं है। फिर भी लक्ष्मी नीच पुरुषों के पास जाती है। किसी ने इस रहस्य को जानने के लिए लक्ष्मी से पूछा—हे लक्ष्मी माता ! तुम मूर्खों को ही प्रायः धन देती हो। क्या विद्वानों के साथ तुम्हारा कोई मत्सरभाव है? लक्ष्मी ने जिज्ञासु को समाहित करते हुए कहा—मैं मूर्खों में अनुरक्त नहीं हूं, न मैं चंचल और मत्सरभाव रखने वाली हूं। विद्वज्जन तो विद्या के कारण लोगों के द्वारा पूज्य बन जाते हैं, किन्तु नीच अथवा मूर्ख व्यक्तियों की मेरे बिना कोई गति नहीं है।

यह भी एक सचाई है कि लक्ष्मी और सरस्वती का जन्मजात वैर है। जहां सरस्वती होती है वहां लक्ष्मी नहीं होती और जहां लक्ष्मी होती है वहां सरस्वती अपना प्रभाव नहीं दिखाती। दोनों में कौन बड़ी है, यह कहना कठिन है। फिर भी दोनों का अपने-अपने क्षेत्र में मूल्य है। सरस्वती को गौण कर मात्र लक्ष्मी की कामना करना भी अपूर्ण है और लक्ष्मी को गौण कर सरस्वती की उपासना करना भी अधूरा है। काश! दोनों की संयुक्त उपासना की जा सके।

प्रस्तुत प्रकरण के प्रतिपाद्य को इन शब्दों में रेखांकित किया जा सकता है—

- लक्ष्मी चपल, चंचल और तरलित है, उसका आसन कमलिनी है। कमलिनी के संसर्ग से पैरों में कांटे लग जाने से वह कहीं एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान पर अपने पैर टिका नहीं पाती, लड़खड़ाती हुई चलती रहती है।

- लक्ष्मी नीच पुरुषों के पास जाती है। उसका उत्पत्ति-स्थल समुद्र है, पानी है। समुद्र-संगति के कारण लक्ष्मी का नीचे की ओर गति करने का स्वभाव है।
- लक्ष्मी की विष के साथ समीपता है। दोनों एक ही स्थान समुद्र से उत्पन्न होते हैं। जैसे विष प्राणघातक होता है वैसे ही लक्ष्मी भी ज्ञान-चेतना को विनष्ट करने वाली होती है।
- अर्थ-अर्जन के साथ-साथ उसका विसर्जन भी आवश्यक है।
- लक्ष्मी अनेक दोषों की जननी है।
- लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अनेक जघन्य प्रवृत्तियां करनी होती हैं।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३.अवबोध

भारतीय संस्कृति में दान को एक पवित्र कार्य के रूप में स्वीकार किया गया है, इसलिए भारतीय साहित्य में दान का कुछ अधिक ही महत्त्व रहा है। दान के पीछे मुख्यतया अनुग्रह का भाव तो छिपा हुआ है ही, पर उसके साथ भारतीय मानस में एक अवधारणा भी जमी हुई है कि दान देने से पुण्य का लाभ मिलता है। किसी समर्थ व्यक्ति द्वारा अपनी ओर से जरूरतमन्द लोगों की सहायता करना, परोपकार के लिए किसी को कुछ देना अथवा सामाजिक व्यवस्था के लिए सहभागिता के रूप में अपने आप को प्रस्तुत करना आदि दान के अनेक प्रकार हो सकते हैं।

प्राचीन काल में दान समाज-व्यवस्था का एक सुन्दरतम रूप था। दक्षिण भारत में उस व्यवस्था के अन्तर्गत दान के चार प्रकार प्रचलित थे—अन्नदान, शिक्षादान, औषधदान तथा अभयदान। उत्तर भारत में राजाओं की ओर से अनेक प्रकार की दानशालाएं चलती थीं। अकाल आदि परिस्थितियों में अकाल-राहत के लिए राज्यकोष से विशेष व्यवस्थाएं की जाती थीं, पदयात्रियों की सुविधा के लिए आहार आदि का दान दिया जाता था। उस समय दान विविधरूपों में प्रचलित था। यह सत्य है कि प्राचीन काल में दान का जो स्वरूप था वह अर्वाचीन परम्परा में बहुत कुछ बदल गया। बदलती संस्कृति और बदलते युग में मानवीय दुर्बलताओं की झलक कुछ ज्यादा ही देखने को मिलती है। आज का दानदाता नाम की भावना, यश-कीर्त्ति तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख से ज्यादा ही प्रताड़ित है तो दूसरी ओर दान लेने वाले के मन में मुफ्तखोरी का मनोभाव पनप रहा है, इसलिए आज दान देना और दान लेना तो नाममात्र का रह गया और उसके पीछे पनपने वाली अन्यान्य आकांक्षाएं प्रबलता से अपना सिर उठा रही हैं। उसकी फलश्रुति है कि व्यक्ति सूई का दान देता है तो वह उसके बदले अपने घर में स्वर्ग से विमान को उतरते देखना चाहता है, इसलिए कविमानस ने उचित ही लिखा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'एरण की चोरी करी, दीयो सूई को दान।
ऊपर चढ़ देखण लागो कद आवै विमान।।'

एरण की चोरी कर सूई का दान देना और फिर अपने गृह-प्रांगण में विमान के उतरने की प्रतीक्षा करना दान का कौन-सा सुन्दर रूप है? अनैतिक आचरणों से अर्जित धन में से धन का कुछ अंश दान दे देना कौनसा नैतिक कार्य है? दान देकर प्रतिफल की आकांक्षा करना भी कौनसा सामाजिक हित है? पर जो चल रहा है वह किसी से अज्ञात नहीं है। हर व्यक्ति उसी प्रवाह में बह रहा है।

दूसरी ओर दान लेने वाला भी गरीबी, बेरोजगारी की आड़ में धन को ऐंठना चाहता है। उससे भिखमंगी, बेरोजगारी तो पनप ही रही है उसके साथ-साथ श्रमनिष्ठा का मूल्य भी घट रहा है। कहते हैं कि विधाता ने मनुष्य को दो हाथ इसलिए दिए कि वह अपनी रोजी-रोटी कमाकर अपना पेट भर सके। पर मनुष्य अपने दोनों हाथों को भी दूसरों के हाथों में सौंपकर अकर्मण्यता का जीवन जी रहा है। वह चाहता सब कुछ है, पर करता कुछ नहीं। वह अपनी रोटी भी दूसरों के तवे पर सेकता है। उसका परिणाम है कि व्यक्ति पुण्य के नाम पर दिन में भीख मांगता है और रात में उन रुपयों की शराब खरीदता है, उन रुपयों से जुआ खेलता है। इस प्रकार दाता ने जो दिया और याचक ने जो लिया उसका न तो सदुपयोग होता है और न ही किसी को पुण्य का लाभ मिलता है। दान का यथार्थ में जो उद्देश्य होना चाहिए वह दोनों ओर से विघटित हो जाता है।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने दान के संदर्भ में महान् क्रान्ति की। उनका अभिमत प्रचलित मान्यता से सर्वथा विपरीत था। उन्होंने दान देने से पूर्व दाता, देय, और याचक की मीमांसा पर बहुत बल दिया। उनका सिद्धान्त था कि आध्यात्मिक, लोकोत्तर अथवा पारमार्थिक दान वही हो सकता है, जिसमें देने वाला, लेने वाला और देयवस्तु—तीनों शुद्ध होते हैं। उन तीनों में से यदि एक भी अशुद्ध है तो वह दान कभी शुद्ध नहीं हो सकता और वह आध्यात्मिक दान नहीं कहला सकता, इसलिए ऐसे दान के लिए त्रिकोणात्मक शुद्धता की आवश्यकता है। जैसे घृत, आटा और चीनी—इन तीनों के योग से हलुआ तैयार होता है, वह अन्यान्य वस्तुओं से नहीं बनता, वैसे ही जिस दान से असंयम का पोषण होता है, वह दान निरवद्य नहीं कहला सकता। ऐसे दान को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महात्मा गांधी ने दरिद्रता और भिखमंगी बढ़ाने वाला दान कहा। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'बिना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चंगे मनुष्य को खाना देना मेरी अहिंसा बर्दाश्त नहीं कर सकती। यदि मेरा वश चले तो जहां मुफ्त खाना दिया जाता है, ऐसा प्रत्येक सदाव्रत अथवा अन्नछत्र बन्द करा दूं।'

विनोबाजी ने कहा—'दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। ऐसे संन्यासी को छोड़कर किसी को भीख मांगने का अधिकार नहीं है।'

आचार्य अमितगति ने शुद्ध दान को पुष्ट करते हुए कहा—

'वितीर्य यो दानमसंयतात्मने, जनः फलं काङ्क्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यमपास्तदूषणम्।।'

जो व्यक्ति असंयतात्मा को दान देकर पुण्यरूप फल की आकांक्षा करता है वह जलती अग्नि में बीज फेंककर धान पैदा करना चाहता है।

इसी प्रकार सोमदेव सूरी ने कहा—**'भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः'**—अपात्र (असंयमी) को दान देना राख में आहुति देने के समान व्यर्थ है।

आचार्य भिक्षु ने सुपात्र दान की महिमा का उल्लेख करते हुए लिखा—

'सुपात्र नै दियां संसार घटै छै, कुपात्र नै दियां वधै संसार।
ए वीर वचन साचा कर मानों, तिण में शंका नहीं छै लिगार।।'

सुपात्र को देने से संसार घटता है, कुपात्र को देने से संसार बढ़ता है, यह वीर प्रभु का यथार्थ वचन है। इसमें शंका के लिए तनिक भी स्थान नहीं है।

इसी प्रकार आचार्य भिक्षु ने सुपात्र दान को मोक्ष का मार्ग और कुपात्र दान को संसार-भ्रमण का हेतु बताते हुए लिखा है—

'सुपात्र दान मुगति रो मारग, कुपात्र सूं रुले संसार।'

आवश्यकताओं का निर्वहन करना भी एक सामाजिक दायित्व है। उसके साथ-साथ लोकोत्तर साधना की पृष्ठभूमि भी मनुष्य के जीवन से जुड़ी हुई है। उसकी साधना करना भी उसकी व्यक्तिगत साधना है। दोनों ही स्थितियों में वह दोनों प्रकार का दान देता है। लौकिक दृष्टि से दिया जाने वाला दान सांसारिक अनुबन्ध का कारण होता है और लोकोत्तर दृष्टि से दिया जाने वाला दान परमार्थ को बढ़ाने वाला होता है। यद्यपि दोनों की विपरीतगामी दिशाएं हैं। दोनों को एक समानान्तर रेखा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खड़ा कर देना, दोनों के फल अथवा उपयोगिता को एक साथ मिला देना अथवा दोनों को एक मान लेना ही दृष्टिभ्रम अथवा समस्या को उत्पन्न करना है।

दोनों की अपनी अलग-अलग उपयोगिता अथवा मूल्यवत्ता है। उन दोनों की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक दान मोक्ष का मार्ग है तो दूसरा सामाजिक अभिवृद्धि का कारण है। अपनी नासमझी के कारण व्यक्ति पारमार्थिक दान में लौकिक दान तथा लौकिक दान में पारमार्थिक दान का मिश्रण कर देता है। पात्र के दान और अपात्र के दान में बहुत बड़ा अन्तर है। इसलिए नीतिकारों ने कहा—

'पात्रापात्रविभेदोस्ति, धेनुपन्नगयोरिव।
तृणात् संजायते क्षीरं, क्षीरात् संजायते विषम् ।।'

पात्र और अपात्र में गाय और सर्प जितना भेद होता है।[1] गाय को सूखा तृण खिलाने पर भी वह दूध के रूप में परिणत होता है और सर्प को दूध पिलाने पर भी वह विष के रूप में परिणत होता है, इसलिए यहां यह कहना सार्थक होगा कि दान के सभी प्रकार धर्म के अंग नहीं होते।

शास्त्रों में दान के महत्त्व को बहुत उजागर किया गया है। केवल देने मात्र से व्यक्ति पुण्यार्थी और धर्मार्थी नहीं हो जाता। दान देना एक बात है। उसके पीछे धन का ममत्व छूटना अथवा आसक्ति का त्याग होना अन्य बात है। वास्तव में वही दान दान है जिसमें ममत्व का त्याग होता है। उसे विसर्जन भी कहा जा सकता है। दान और विसर्जन में यही अन्तर है कि दान में देश, काल, पात्र की अनिवार्यता रहती है। उसमें नाम, कीर्ति, सम्मान की भी भावना बनी रहती है। विसर्जन में केवल त्याग का महत्व होता है। वह त्याग ही व्यक्ति को बहुत-सी उपाधियों से बचाता है। जब छोड़ने की मनोवृत्ति का निर्माण होता है तब ही व्यक्ति विसर्जन कर सकता है। वह विसर्जन त्याग-चेतना का प्रतीक है।

प्रस्तुत काव्य के प्रणेता आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत 'दान प्रकरण' में दान का अतिशय वर्णन किया है। वह दान के लोकोत्तर परिप्रेक्ष्य में यथार्थ प्रतीत नहीं होता। यदि दान ही मनुष्य के लिए सर्वेसर्वा होता तो आज जो समस्याएं पनप रही हैं वे कभी नहीं होतीं। ग्रन्थकर्त्ता ने सुपात्र की चर्चा अवश्य की है, पर सुपात्र कौन, उसके क्या लक्षण होने चाहिए,

१. रूपक की भाषा में कहा गया—गाय पात्र है और सर्प अपात्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस ओर संकेत नहीं किया। उन्होंने दान को समग्रता से ग्रहण कर उसका प्रतिपादन किया है। कौन-सा दान किसके लिए आदेय और उपयोगी हो सकता है, उसका भी प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णन नहीं है। ग्रन्थकार ने निष्पत्ति के रूप में यही कहा है कि कोई भी दान निष्फल नहीं जाता। चाहे वह दान सुपात्र को दिया जाए, चाहे वह मित्र अथवा शत्रु को दिया जाए। चाहे वह दान नौकर, राजा अथवा भाट-चारण को ही प्रदान किया जाए। देने वाले का नाम, सुयश हो सकता है, पर ऐसे दान से **'दानं मोक्षकारणम्'** की फलश्रुति क्रियान्वित नहीं होती। संयमी पुरुष यदि दान ग्रहण करता है तो वह अपने संयम-जीवन के निर्वाह के लिए करता है। असंयमी पुरुष के लिए वह सीमा नहीं होती।

पात्रदान का महत्त्व सर्वत्र है। याज्ञवल्क्यस्मृति में पात्र की विवेचना करते हुए कहा गया—

'पाकारेणोच्यते पापं, त्रकारस्त्राणवाचकः।
अक्षरद्वयसंयोगे, पात्रमाहुर्मनीषिणः।।'
'न विद्यया केवलया, तपसा वापि पात्रता
यत्र वृत्ती इमे चोभे, तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ।।'

'पा' का अर्थ है—पाप और **'त्र'** त्राण-रक्षा का वाचक है। पा+त्र—इन दोनों अक्षरों के संयोग से शब्द की निष्पत्ति होती है। तात्पर्य की भाषा में जो आत्मा को पाप से बचाता है, वह पात्र होता है।

पात्रता केवल विद्या से अथवा केवल तपस्या से नहीं आती। जिसमें विद्या (ज्ञान) और तपस्या (चारित्र) इन दोनों का संयोग होता है, वही पात्र कहा जाता है।

वर्तमान युग के संदर्भ में दान के विषय में कुछेक बिन्दु चिन्तनीय हैं–

- पात्र, अपात्र और कुपात्र की भेदरेखा की स्पष्टता।
- दाता, देय और याचक की शुद्धता का चिन्तन।
- दान के अनेक प्रकारों में कौन-सा दान लौकिक और कौन-सा लोकोत्तर होता है, इसका विश्लेषणात्मक अध्ययन।
- दान और विसर्जन के मध्य भेदरेखा को समझना।
- सामाजिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक उन्नयन के लिए दिए जाने वाले दान को भिन्न-भिन्न समझना।
- दान का एकमात्र उद्देश्य सहयोग अथवा परोपकार के लिए होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- जिस दान से बेरोजगारी, गरीबी, मुफ्तखोरी, भिखमंगी और पुरुषार्थहीनता को बढ़ावा मिले वैसे दान का सर्वत्र निषेध होना चाहिए।

निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत प्रकरण का सार यही है कि जहां लोकोत्तर की भावना का प्रश्न है वहां पात्रशुद्धि, दाताशुद्धि और देयशुद्धि—तीनों की आवश्यकता है। जहां सामाजिक सहयोग और सामाजिक कर्त्तव्यबोध है, वहां पात्रशुद्धि की विचारणा नहीं की जाती।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४.अवबोध

जैन साधना-पद्धति में साधना की दो महत्त्वपूर्ण विधियां हैं— संवर और निर्जरा। कृत कर्मों की विशोधि करना, उनका निर्जरण करना अर्थात् कर्मशरीर को प्रकम्पित कर उससे कर्मपरमाणुओं को पृथक् करना निर्जरा की प्रक्रिया है। इसे आज की भाषा में रेचन की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। नए सिरे से आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का बन्धन अथवा चिपकाव न हो, उसके लिए कर्मपुद्गलों को आकृष्ट करने वाले आत्मपरिणामों का संवरण करना, उनका निरोध करना संवर है। ये दोनों पद्धतियां आत्मशोधन की प्रक्रियाएं हैं।

मनुष्य अपने आप में कितना स्वस्थ अथवा शुद्ध है, इसका उत्तर अपने आप में खोजा जा सकता है। शारीरिकस्तर पर अथवा मानसिकस्तर पर प्राणी स्वस्थ हो भी सकता है और नहीं भी, पर चैतसिकस्तर पर संसार का हर प्राणी अस्वस्थ और कलुषित है। वीतराग को छोड़कर ऐसा कौनसा प्राणी है जो अपने आप को पूर्ण पवित्र और निर्मल कह सके ? इसलिए सहज ही प्रश्न होता है कि यह अपवित्रता, कलुषता तथा अस्वस्थता क्यों? इसका एक ही उत्तर है कि हर प्राणी कर्मों के जाल में गूंथा हुआ है। अनादिकाल से वे कर्मबन्धन प्राणिमात्र को संसार के प्रवाह में प्रवाहित कर रहे हैं। उसी के कारण कभी मनुष्य रागद्वेष की मलिनता से आविल होता है, कभी वह कषाय की चतुरंगिनी सेना—क्रोध, मान, माया तथा लोभ से प्रतिहत होता है। कभी चित्त की चंचलता उसे भटकाती है तो कभी मोह की माया उसे मूढ बनाती है। कभी मन, वचन, काया का वैषम्य चित्त को विक्षिप्त करता है तो कभी उनकी वक्रता उन्मार्ग पर ले जाती है। इस प्रकार कर्मपुद्गलों के कारण एक ही जीव अनेक रूपों वाला अनेक परिस्थितियों वाला तथा अनेक चित्तों वाला हो जाता है। उसके मूल स्वरूप को पहचानना और खोजना बड़ा कठिन होता है। मनुष्य का शुद्ध रूप कर्ममल के आवरण से ढंका रहता है, इसलिए उसका विकृत अथवा अशुद्ध रूप ही सामने आता है। आज का अहं प्रश्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि शुद्ध आत्मा का दर्शन कैसे किया जाए, उसे किस प्रकार उपलब्ध किया जाए?

यह भी एक सचाई है कि व्यक्ति जब तक प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह की चेतना में लिप्त रहेगा तब तक वह कर्मों के संग्रहण से मुक्त नहीं हो सकता। उसके लिए कर्मरजों से आत्मा को रंजित न होने देना आत्मशुद्धि का सर्वोत्तम उपाय है। वह है—तपस्या। वस्तुतः बिना तपे कोई शुभ फल मिलता ही नहीं। इसी प्रसंग में गांधीजी ने कहा था—'तपस्या जीवन की सबसे बड़ी कला है। तप वही होता है, जो पांचों इन्द्रियों और मन को वश में करना सिखाता है।' दसवैकालिकसूत्र में भी मुनि के लिए निर्देश किया गया—**'परक्कमेज्जा तवसंजमम्मि'**—मुनि को तप और संयम में पराक्रम करना चाहिए, क्योंकि **'तवेण परिसुज्झइ'**—तप से आत्मा पवित्र होती है, **'तवेणं वोदाणं जणयइ'**—तप से व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्म क्षीण होते हैं, **'भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ'**—तप से करोड़ों भवों के संचित कर्म जीर्ण होकर निर्जरित होते हैं। मनुस्मृति में भी तप की महिमा को बताते हुए कहा गया—

'यद् दुस्तरं दुरापं, यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः।।'

जो दुस्तर है, जिसको प्राप्त करना कठिन है, जो दुर्गम और दुष्कर है वह सब तपस्या के द्वारा साध्य है। अतः तप का अतिक्रम करना मुश्किल है।

पातंजल योगदर्शन में तपःसिद्धि के विषय में मिलता है—**'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः'**—तपस्या से अशुद्धि का क्षय होता है। अशुद्धि का क्षय होने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। इसलिए यह कहना सार्थक होगा—**'तपसा क्षीयन्ते कर्माणि'**—तपस्या कर्मों को क्षीण करती है। वह ऐसी अग्नि है जो आत्मा को तपाकर सुवर्ण की भांति निखार देती है। वह ऐसी चुम्बकीय छड़ी है जो आत्मा से कर्मरजों को खींच कर विलग कर देती है। वह ऐसी अद्भुत शक्ति है जो कर्मशरीर को धुन कर कर्ममल को दूर कर देती है।

प्रस्तुत प्रकरण में तपगौरव को दर्शाते हुए आचार्य सोमप्रभ कहते हैं--तप पूर्वभव में अर्जित कर्मरूपी पर्वतों को तोड़ने के लिए वज्र की भांति है, कामरूपी दावानल की ज्वाला के शमन के लिए जल के समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, दारुण इन्द्रियसमूहरूपी सर्प को वश में करने के लिए मन्त्राक्षर तुल्य है, विघ्नरूपी अन्धकारसमूह को नष्ट करने के लिए दिन की तरह है, लब्धिरूपी संपत्लता को उत्पन्न करने के लिए मूल के समान है, ऐसा तप निष्काम भावना से आचरणीय है।

पुनः उन्होंने तपश्चर्या की श्लाघा करते हुए कहा है—जो तप कल्याणकारक और इन्द्रियसमूह का दमन करने वाला है तथा जिससे महान् ऋद्धियां-सिद्धियां प्राप्त होती हैं, वैसा तप किसके लिए श्लाघ्य नहीं होगा?

पुनः आचार्य ने कर्मक्षय के साथ तप का अविनाभावी संबंध प्रकट करते हुए कहा है—जिस प्रकार दावानल के सिवाय अन्य कोई वन नहीं जला सकता, मेघ के बिना कोई दावानल नहीं बुझा सकता, पवन को छोड़कर अन्य कोई मेघ को छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता वैसे ही कर्मसमूह का क्षय करने के लिए तप के सिवाय कोई समर्थ नहीं हो सकता।

प्रकरण के अन्त में उन्होंने तप के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—यह तप एक वृक्ष के समान है। इसका मूल सन्तोष है। प्रशम इसका परिकर—स्कन्धबन्ध का विस्तार है। पांचों इन्द्रियों का निग्रहण इसकी शाखाएं हैं। देदीप्यमान अभय इसके पत्र हैं। शीलसंपदा इसके नवपल्लव हैं। यह श्रद्धारूपी जलपूर से सिक्त होने पर विपुल कुल, बल, ऐश्वर्य और सौन्दर्य का विस्तार करने वाला है। स्वर्ग आदि की प्राप्ति होना इसके पुष्प हैं तथा यह मोक्षपद का फल देने वाला है।

तपस्या करने का उद्देश्य है—आत्मशुद्धि या आत्मोदय। जो तपस्या अन्यान्य कामनाओं से की जाती है वह वस्तुतः आत्मोपलब्धि का हेतु नहीं बनती। कामना के आधार पर तप के भी दो प्रकार हो सकते हैं—आत्मसिद्धि के लिए की जाने वाली तपस्या, जिसे जैन शब्दावली में सकाम निर्जरा कहते हैं। भौतिक सिद्धि के लिए की जाने वाली तपस्या, जिसे अकाम निर्जरा कहते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति कभी तूड़ी, तृण आदि के लिए खेती नहीं करता। वह धान्य के लिए ही खेती करता है। इसलिए तपस्या भी आत्मशुद्धि के लिए ही होनी चाहिए। हो सकता है उस तप के साथ अन्यान्य भौतिक लब्धियां भी प्राप्त हो जाएं, पर एक साधक तपस्वी के लिए वे सर्वथा अनभिलषणीय होती हैं। वे तो मात्र दिग्भ्रमित करने के लिए साधनामार्ग में पड़ने वाले पड़ाव हैं, इसलिए दसवैकालिकसूत्र में मानवमात्र के लिए तपस्या के उद्देश्य को स्पष्ट करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए कहा गया—**'नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।'**

इस लोक की कामना को लेकर, जैसे—धन, प्रसिद्धि या सम्मान आदि के लिए, परलोक की कामना से देव, इन्द्र, अहमिद्र या चक्रवर्ती बनने के लिए तथा कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नहीं करना चाहिए। तप का उद्देश्य केवल निर्जरा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र में भी निर्जरा के उद्देश्य को पुष्ट करते हुए कहा गया—**'णो पूयणं तवसा आवहेज्जा'**—तपस्या से पूजा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। **'तेसिं पि तवोऽसुद्धो'**—जो कीर्त्ति आदि की कामना से तप करते हैं उनका तप अशुद्ध होता है।

शास्त्रों में कारण और कार्यभेद के अनुसार तप के बारह भेद बतलाए गए हैं। उनमें अनशन, ऊनोदरी आदि प्रथम छह तप बाह्य हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय आदि अन्तिम छह तप आभ्यन्तर हैं। वास्तव में कर्मनिर्जरण के कारण निर्जरा का एक ही प्रकार है। वह भी तप के बारह भेद होने के कारण बारह प्रकार का हो जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के तप आत्मशुद्धि का हेतु बनते हैं।

गीता में भी तीन प्रकार के तपों की चर्चा है—शारीरिक तप, वाचिक तप और मानसिक तप। गीता में कहा गया है—

'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते।।'

- देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानीजनों का पूजन करना तथा पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना शारीरिक तप है।
- दूसरों को उद्विग्न न करना, सत्य, प्रिय, हितकारी वचन कहना तथा सत्शास्त्रों का अध्ययन करना वाचिक तप है।
- मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, मौन, आत्मसंयम और भावों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पवित्रता रखना मानसिक तप है।

आगे गीता में कहा गया कि यदि तीनों प्रकार का तप बिना किसी आकांक्षा के परम श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जाए तो वह तप सात्विक, यदि वह सत्कार, मान एवं पूजा-प्राप्ति के लिए दम्भपूर्वक किया जाए तो वह तप राजसिक तथा जो शरीर को पीड़ित करने के लिए अथवा दूसरों का नाश करने के लिए किया जाए, वह तप तामसिक कहलाता है।

तप की आराधना करना केवल शरीर को सताना नहीं है, किन्तु तपस्याजन्य कष्टों को भी समभावपूर्वक सहना अभीष्ट है। कुछ लोग मानते हैं कि जैनों की तपस्या केवल शरीर को ही सताने वाली और शरीर को सुखाने वाली है। उनका यह चिन्तन सम्यक् नहीं है। वास्तव में जो तपस्या विवेकपूर्वक अथवा ज्ञानपूर्वक की जाती है अथवा जिस तपस्या के पीछे किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति जुड़ी होती है वही तपस्या सार्थक और महान् निर्जरा का हेतु बनती है। आगमों में अपना बल, पराक्रम, श्रद्धा, आरोग्य को देखकर तथा क्षेत्र-काल को जानकर तपस्या करने का विधान किया गया है।

आचार्य यशोविजयजी ने भी स्वकृत तपोष्टकम् में कहा है—

'तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च।।'

तप वैसा ही करना चाहिए, जिसमें दुर्ध्यान न हो, योगों में हानि न हो और इन्द्रियां क्षीण न हों।

जो तप अज्ञानपूर्वक, अविवेकपूर्व तथा अपनी क्षमता के प्रतिकूल स्थिति में किया जाता है, वह अनेक समस्याओं को उत्पन्न करने वाला तथा असन्तुलन की स्थिति का निर्माता होता है। ऐसा तप कभी-कभी व्यक्ति को विक्षिप्त भी बना देता है।

वह तप भी फलदायी नहीं होता जिसमें बाह्याडम्बरों की भरमार होती है। ऐसा तप दूसरों के लिए दिखावा होता है तो अपने लिए छलावा होता है। वही तप वास्तव में तप है जिसके साथ ध्यान, आत्मचिन्तन, स्वाध्याय, सामायिक आदि प्रवृत्तियों का संयोग होता है। केवल भूखा मरना अथवा शरीर को सुखाना ही धर्म नहीं है। धर्म का रहस्य है—कर्म-निर्जरण। वह तपस्या के द्वारा ही सुलभ है। निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य है—

• तपस्या है—सत्य के लिए तपना, सत्य के लिए खपना तथा सत्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की दिशा में प्रस्थान करना।

- तपस्या शरीर को कष्ट देना नहीं है, न ही इन्द्रियों को क्षीण करना है।
- तपस्या केवल मौन रहना और मन को मूढ करना भी नहीं है।
- तपस्या है—शरीर, इन्द्रिय, वाणी और मन को समाहित करना।
- तपस्या है—आत्मोपलब्धि तथा आत्मा की उज्ज्वलता।
- तपस्या है—ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, ऊर्जा का संचय।
- तपस्या है—कर्मनिर्जरण की दिशा में प्रयाण, मोक्षाभिमुख होने का अभियान।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५.अवबोध

आज का युग वैज्ञानिक युग है, शिक्षण-प्रशिक्षण तथा शोध-अनुसंधान का युग है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है—असंभाव्यता में संभाव्यता को खोजना, असंभव को संभव बनाना। आज के विज्ञान ने नए-नए अनुसंधानों के आधार पर परिवर्तन की दिशा में नए-नए कीर्त्तिमान स्थापित किए हैं। उसने जीन्स-हारमोन्स को बदला है, अंगों का प्रत्यारोपण किया है तथा प्राणियों के क्लोन आदि बनाए हैं। अब उसके विविध प्रयोग पशु-पक्षियों के स्वभाव और व्यवहार को बदलने में भी सिद्ध हो रहे हैं। उसी का परिणाम है कि सम्यक् प्रशिक्षण के द्वारा एक कुत्ते को अनेक विधाओं में प्रशिक्षित किया जा सकता है, एक तोते को 'स्वागतम् स्वागतम्' का पाठ सिखाया जा सकता है, सर्कस में विविध करतब दिखाने के लिए शेर, भालू, चीते आदि हिंस्र पशुओं को भी प्रशिक्षित किया जा सकता है और चूहे तथा बिल्ली के सिर पर इलेक्ट्रोड लगाकर कुछ समय के लिए उन दोनों के जन्मजात वैर का शमन किया जा सकता है। यह स्वभाव और व्यवहार का परिवर्तन कैसे हुआ? यदि वह प्रयोग के द्वारा संभव है तो क्यों नहीं मनुष्यों की आदतों और व्यवहार में परिवर्तन किया जा सकता? विज्ञान के लिए ऐसा करना कोई अस्वाभाविक और असंभावित भी नहीं लगता। उसके आधार पर आदमी के व्यवहार और आदतों में भी परिवर्तन हो सकता है।

आज की खोजों के आधार पर शरीर की विद्युत् मनुष्य के सारे व्यवहार को संचालित करती है। मनुष्य की प्राण विद्युत् और जैविक विद्युत् आचार-व्यवहार को नियन्त्रित करती है। यदि विद्युत् धारा को बदल दिया जाये तो भावना में बहुत बड़ा परिवर्तन घटित हो सकता है। भावना के द्वारा शारीरिक विद्युत् और रासायनिक द्रव्यों में भी परिवर्तन किया जा सकता है। यही कारण है कि वीतराग व्यक्ति के पास आने वाले सिंह और बकरी अपने वैरभाव को भूलकर एक घाट पर पानी पीने लग जाते हैं। वीतराग पुरुष का आभामंडल और उनके शरीर से प्रवाहित होने वाली विद्युत् इतनी अधिक निर्मल और सशक्त होती है कि उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समीपस्थ आने वाले प्राणी की दूषित भावनाओं का मल धुल जाता है और वहां वैरभाव की इतिश्री हो जाती है। अतः जैन परम्परा में भावना का सर्वाधिक मूल्य रहा है। भगवान महावीर ने मोक्ष के चार हेतुओं का प्रतिपादन किया— दान, शील, तप और भावना। उनमें भी मुख्यतया भावना की प्रमुखता है। यदि दान, शील और तप भी भावना से भावित-वासित नहीं होते हैं तो वहां द्रव्यक्रिया के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं है। भावक्रिया की सिद्धि के लिए तीनों में भी भावना की प्रमुखता है।

चाणक्यनीति में भावना की प्रमुखता को स्वीकार करते हुए कहा गया है—

'न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृन्मये।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम् ।।'

भगवान न तो काष्ठ में है, न पत्थर में है और न मिट्टी में है। भगवान का निवास तो पवित्र भावना में है, इसलिए भावना ही भगवत्-प्राप्ति का मुख्य कारण है।

आचारांगसूत्र में भावना की महत्ता को उजागर करते हुए कहा गया—**'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा'**—जो आश्रव कर्मप्रवेश के हेतु हैं वे भावना की पवित्रता से परिस्रव हो जाते हैं, कर्म के निरोधक हो जाते हैं और जो परिस्रव हैं वे भावना की अपवित्रता से आश्रव—कर्मग्रहण के हेतु हो जाते हैं। इसी प्रकार ओघनिर्युक्ति में कहा गया—**'जे जत्तिया य हेउ भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे।'** चलना-फिरना, बोलना, देखना आदि जितनी भी मनुष्य की आवश्यक प्रवृत्तियां हैं वे सब रागद्वेष के जुड़ने पर संसार-भ्रमण की हेतु बन जाती हैं। वे ही जब रागद्वेष से वियुक्त होती हैं तब वे मुक्ति की हेतु बन जाती हैं।

यह सत्य है कि आत्ममुक्ति अथवा कर्मनिर्जरा के लिए भावना के मूल्य को गौण नहीं किया जा सकता। कौन व्यक्ति कितनी साधना करता है, उसके साथ भावना का तादात्म्य जुड़ा हुआ है। यदि साधना के साथ भावना की पवित्रता जुड़ी हुई है तो वह साधना साधक को परम पद तक पहुंचा देती है। शास्त्रों में कहा गया है—

'मनोयोगो बलीयांश्च भाषितो भगवन्मते ।
यः सप्तमीं क्षणार्धेन नयेद् वा मोक्षमेव च ।।'

भगवान ने मनोयोग को बलवान् कहा है। मनोयोग अर्थात् भावनाओं की उत्कृष्ट विशुद्धि जीव को आधे क्षण—अल्प समय में मोक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुंचा देती है और उनकी निकृष्टता अर्थात् अपवित्रता आधे क्षण में सातवीं नरक का बन्धन करा देती है।

प्रस्तुत काव्य के काव्यकार आचार्य सोमप्रभ ने भी प्रस्तुत 'भावना प्रकरण' में भावना के बिना सभी कर्मकाण्डों को तुषवपन की भांति निष्फल माना है। वे कहते हैं—शुभ भावना के बिना अर्हतों की अर्चा, दान, तप, स्वाध्याय आदि अनुष्ठान वैसे ही व्यर्थ हैं जैसे रागरहित पुरुष के प्रति तरुणियों का कटाक्ष, कृपण स्वामी की सेवा का श्रम, पत्थर पर कमलों का आरोपण तथा बंजर भूमि पर बरसने वाली वर्षा।

जैन आगमों में भावना को एक नौका के रूप में प्ररूपित किया गया है। जिसकी आत्मा भावनायोग से विशुद्ध होती है वह भावना की नौका में आरूढ होकर जीवन की महानदी को पार कर इस छोर से उस छोर तक पहुंच जाता है, समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है–

'भावनाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
णावा व तीरसंपण्णा, सव्वदुक्खा विउट्टति।।'

आगमों में अनेक स्थलों पर 'भावितात्मा' शब्द का प्रयोग देखा जा सकता है। उसका तात्पर्य ही है कि भावितात्मा बने बिना जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आज के वैज्ञानिक भावना के प्रयोगों को चिकित्सा-विज्ञान और मानव-स्वभाव तथा व्यवहार-परिवर्तन के कार्यों में काम ले रहे हैं। यद्यपि वैज्ञानिक शब्दावली में 'भावना' शब्द प्रयुक्त नहीं है। वे भावना के स्थान पर Brain washing (मस्तिष्कीय धुलाई), Suggestion अथवा Auto Suggestion (सुझाव अथवा स्वतः सुझाव) का प्रयोग कर रहे हैं। वे सभी प्रयोग भावना के ही प्रयोग हैं। भावना की जो निष्पत्ति है वही निष्पत्ति इन प्रयोगों से सम्भव है।

भावना का अर्थ है—पुनः पुनः अभ्यास करना, विविध संकल्पों से मन को बार-बार भावित—वासित करना। जिस प्रकार रस्सी के बार-बार आवागमन से शिलापट्ट पर चिह्न पड़ जाता है वैसे ही बार-बार के अभ्यास से अवचेतन मन भी उस भावना से संस्कारित या भावित हो जाता है। आयुर्वेद में पुट और होम्योपैथी में पोटेन्सी का बहुत महत्त्व है। दवाई की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए आयुर्वेद में दवाई को पुट से और होम्योपैथी में पोटेन्सी देकर उसे भावित किया जाता है। उससे दवाई की क्रियाशीलता, प्रभावक क्षमता दुगुनी चौगुनी हो जाती है। इसी प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना के द्वारा भी मन की शक्ति को असीम शक्तिसंपन्न बनाया जा सकता है।

महर्षि पतंजलि ने ध्यान के तीन अंगों का प्रतिपादन किया—धारणा, ध्यान और समाधि। जैन योग में धारणा भावना का ही प्रतिरूप है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जब मन विषय के साथ जुड़ता है तब वह ध्येय बन जाता है। जब धारणा पुष्ट होती है तब वह ध्यान बन जाता है और जब ध्यान पुष्ट होता है तब वह समाधि बन जाता है। इस प्रकार एक ही ध्यान और एक ही विषय तीन प्रकार के आलम्बन से तीन रूपों में बंट जाता है। भावना का एक अर्थ है–सविषय ध्यान। विषय के प्रति अथवा ध्येय के प्रति तन्मय–एकाग्र हो जाना ही भावना की फलश्रुति है, इसलिए जप, भावना और सविषय ध्यान–तीनों में कोई अन्तर नहीं है। नामभेद होने पर भी तीनों की फलश्रुति एकाग्रता और तन्मयता की ओर ले जाने वाली है। अनेक आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से भावना के विषय को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उनका अभिमत इस प्रकार है—उत्तराध्ययनसूत्र के बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने लिखा है—**'भाव्यते—आत्मसान्नीयतेऽनयाऽऽत्मेति भावना'**—जो आत्मा को भावित करती है, आत्मसात् करती है उसे भावना कहते हैं। आवश्यकवृत्ति के वृत्तिकार हरिभद्रसूरी का अभिमत है—**'भाव्यत इति भावना ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः'**—ध्यान के योग्य चेतना का निर्माण करने वाली ध्यान के अभ्यास की क्रिया का नाम भावना है। 'मनोनुशासनम्' ग्रन्थ के प्रणेता आचार्यश्री तुलसी कहते हैं—**'चेतो विशुद्धये मोक्षक्षयाय स्थैर्यापादनाय विशिष्टं संस्कारापादनं भावना'** चित्तशुद्धि, मोक्षक्षय तथा अहिंसा-सत्य आदि की वृत्ति को टिकाने के लिए आत्मा में जो विशिष्ट संस्कार जागृत किये जाते हैं वह भावना है।

भावना शारीरिक विद्युत् तथा रासायनिक द्रव्यों के परिवर्तन का हेतु है। भावना गुण-संक्रमण का सिद्धान्त है। जिन गुणों से आत्मा को भावित किया जाता है अथवा जिसको जो कुछ बनना है उन गुणों से अपने आपको भावित करना आत्मा में उन गुणों की परिणति करना है। योगवशिष्ठ में उचित ही कहा गया—

'अमृतत्वं विषं याति सदैवामृतवेदनात् ।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसंवित्तिवेदनात् ।।'

विष का अमृतरूप में सदैव चिन्तन करने से वह अमृत बन जाता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा शत्रु का मित्रबुद्धि से चिन्तन करने पर वह मित्ररूप में परिणत हो जाता है।

यह प्रतिपक्ष की भावना नई आदतों तथा नए विचारों के निर्माण की प्रक्रिया है एवं प्रतिकूलता से अनुकूलता की स्थिति निर्मित करने का उपाय है। भगवान महावीर ने प्रतिपक्ष भावना से होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख करते हुए कहा—

'उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे।।'

उपशम की भावना से क्रोध, मृदुता की भावना से अभिमान, ऋजुता की भावना से माया तथा संतोष की भावना से लोभ को जीता जा सकता है।

प्रश्न होता है कि एक ही बात को पुनः पुनः दोहराने का प्रयोजन क्या? यह स्पष्ट है कि उसके बिना पुराने संस्कारों तथा पुरानी धारणाओं की धुलाई नहीं होती। यदि एक झूठ भी हजार बार दोहराने से सच हो सकता है तो एक सच हजार-लाख बार दोहराने पर फलित क्यों नहीं होगा? यह आवृत्ति, पुनरावृत्ति का सिद्धान्त विज्ञानसम्मत फ्रीक्वेन्सी (Frequency) का सिद्धान्त है। प्रत्येक शब्द की अपनी एक निश्चित फ्रीक्वेन्सी होती है। शब्द को दोहराते-दोहराते आत्मा की एकाग्रता जब उस फ्रीक्वेन्सी पर केन्द्रित होती है तब वह शब्द अपने आप सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना भिन्न-भिन्न ध्येय होता है। कोई व्यक्ति लेखक बनना चाहता है तो कोई दार्शनिक, कोई साहित्यकार तो कोई वक्ता तो कोई महान् साधक। सर्वप्रथम अपने इष्ट ध्येय का चुनाव करें। उसकी क्रियान्विति के लिए भावना का प्रयोग अपने आपको भावित करने का प्रयोग है। सर्वप्रथम कायोत्सर्ग कर पांच-दस दीर्घश्वास लें। तत्पश्चात् उस चिन्तन से अपने मन को भावित करें जो आप बनना चाहते हैं। उसमें आप इतने अधिक तन्मय और एकाकार हो जाएं जहां ध्याता और ध्येय की दूरी न रहे। आपकी अभीष्ट भावना स्थूल मन को पारकर अवचेतन मन की सतह में पहुंच जाए। दृढ़संकल्प से किया हुआ आपका प्रतिदिन का यह अभ्यास निश्चित ही सफलता की मंजिल देगा। यह है भावनायोग का चमत्कार और स्वयं के परिवर्तन का उपाय।

भावना प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार की हैं। बृहत्कल्पभाष्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसार भावनाओं के दो प्रकार ये हैं—**'दुविहाओ भावणाओ संकिलिट्ठा य, असंकिलिट्ठा य'**—संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट। संक्लिष्ट भावना अर्थात् अशुभ भावना, असंक्लिष्ट भावना अर्थात् शुभ भावना। असंक्लिष्ट (शुभ) भावना सब दुःखों से मुक्त करने वाली, आनन्ददायिनी तथा प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारक होती है। साधक प्रशस्त भावनाओं से अपने चित्त को भावित कर भावितात्मा हो सकता है। असंक्लिष्ट (प्रशस्त-शुभ) भावना के पांच प्रकार हैं—

- **ज्ञान भावना**—ज्ञान का अभ्यास और सूत्र-अर्थ की विशुद्धि आदि रखना।
- **दर्शन भावना**—स्वयं को शंका आदि दोषों से निवारित कर प्रशम, स्थैर्य आदि गुणों से भावित करना।
- **चारित्र भावना**—नए कर्मों का अग्रहण, पुराने बंधे हुए कर्मों का निर्जरण और शुभकर्मों के ग्रहण से अपने आप को भावित करना।
- **तप भावना**—तप में अपने आपको लगाना तथा तप का अनुमोदन आदि करना।
- **वैराग्य भावना**—जगत् के स्वभाव को जानना, अनासक्त, अभय और आशंसा से विप्रमुक्त होना।

संक्लिष्ट भावना (अशुभ भावना) अप्रशस्त होती है, मन में संताप और तनाव को उत्पन्न करती है। वह साधक के लिए सर्वथा वर्जनीय है। उस संक्लिष्ट—अशुभ भावना के भी पांच प्रकार हैं—

- **कान्दर्पी भावना**—कामचेष्टा में प्रवृत्त होना। हंसी-मजाक तथा विकथा करना आदि। कामसंबन्धी सभी आचरण इसी भावना के अन्तर्गत हैं।
- **आभियोगिकी भावना**—मंत्र आदि का प्रयोग करना, वशीकरण अथवा हुकूमत करना आदि। इसमें विविध प्रयोगों से अपना अधिकार जमाने की वृत्ति होती है।
- **किल्विषिकी भावना**—यह परस्पर क्लेश पैदा करने वाली भावना है। इस भावना के अन्तर्गत निन्दा, तिरस्कार, ज्ञान का अपलाप आदि सभी आ जाते हैं।
- **आसुरी भावना**—सदा विग्रह करना, क्षमायाचना के उपरान्त भी प्रसन्न न होना, निमित्तशास्त्र का प्रयोग करना आदि इसके लक्षण हैं। यह क्रूरवृत्ति की भावना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- **मोही भावना**—यह भावना सम्मोहन करने वाली तथा ममत्व पैदा करने वाली है। यह मेरा है, इस पर मेरा स्वामित्व है आदि इस भावना की निष्पत्ति है।

यद्यपि साधक का लक्ष्य संक्लिष्ट भावनाओं से हटकर असंक्लिष्ट भावनाओं की ओर, असमाधि से समाधि की ओर तथा ज्ञान से आचार की ओर प्रस्थान करना है, फिर भी नीतिकार कहते हैं—

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।
यादृशास्तन्तवः कामं तादृशो जायते पटः।।'

जिसकी जैसी भावना होती है वैसी ही सिद्धि होती है। जैसे तन्तु होते हैं वैसा ही कपड़ा बनता है।

भावना व्यक्तित्व-निर्माण का घटक है। यह व्यक्तिविशेष पर निर्भर करता है कि वह अपने जीवन में भावना को कितना मूल्य देता है? व्यक्ति को उसका फल भी भावना के अनुरूप ही मिलता है। संस्कृतकवि ने ठीक ही कहा है—

'दुग्धं देयानुसारेण, कृषिर्मेघानुसारतः।
लाभो द्रव्यानुसारेण, पुण्यं भावानुसारतः।।'

गाय-भैंस का दूध उनकी खुराक के अनुसार होता है, खेती वर्षा के अनुसार होती है, लाभ माल के अनुसार मिलता है और पुण्य का लाभ भावना के अनुसार प्राप्त होता है। इसलिए निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है—**'अन्ते मतिः सा गतिः'**—मरते समय प्राणी की जो भावना होती है, उसकी गति भी वैसी ही हो जाती है।

आचार्य सोमप्रभ ने भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता को हस्तगत करने के लिए शुभ भावना का समर्थन किया है। वह भावना ही भवसागर को तैरने के लिए महानौका, महाकषायरूपी पर्वतों के भेदन के लिए वज्र, मोक्षपथ तक जाने के लिए वेसरी तथा उपशमसुखों के लिए संजीवनी सिद्ध हो सकती है।

फलश्रुति के रूप में प्रस्तुत प्रकरण का सारतत्व है—

- भावना के द्वारा चेतना का रूपान्तरण।
- भावना के द्वारा व्यक्तित्व-विकास।
- भावना का दूसरों तक संप्रेषण।
- भावना के द्वारा चिकित्सा।
- भावना के द्वारा ग्रन्थियों के स्राव में परिवर्तन।
- भावना के द्वारा गुणों का संक्रमण। ●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६.अवबोध

यह संसार अनेक आकर्षणों का केन्द्रबिन्दु है। यहां इतने अधिक लुभावने आकर्षण हैं कि उनकी चकाचौंध में हर कोई चुंधिया जाता है। अनेकानेक सुख-सुविधाओं के साधन, पदार्थजगत् की कमनीयता और इन्द्रियविषयों के मनोज्ञ सुख व्यक्ति को बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। उस समय वैराग्य की बात करना और वैराग्य की बात सोचना एक अजूबा-सा लगता है। कुछ लोग मानते हैं कि जो कुछ है वह सब कुछ इस दुनिया में है। खाओ-पीओ, ऐश-आराम करो, यही जीवन का सार है। किसने स्वर्ग-नरक को देखा है? किसने स्वर्गीय-सुखों को भोगा है? किसने नारकीय दुःखों का अनुभव किया है? किसने किसको स्वर्ग-नरक के विषय में बताया है? उनसे भयभीत होकर अथवा अपने मन की कल्पना से वैराग्य का जीवन जीना एक प्रकार से दोहरी भूल है। यह तो प्राप्त को ठुकराकर अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना करने जैसा कार्य है।

यह अनुरागात्मक अनुबंध मनुष्य को सदा अपने घेरे में बान्धे रखता है। उसे तोड़ पाना सहज-सरल नहीं है। यह भी एक सचाई है कि अनुकूलता की स्थिति से अपने आपको विलग करना कठिन होता है। राग का बन्धन प्रियता का संवेदन है, अनुकूलता का बन्धन है। यही कारण है कि एक भंवरा काष्ठ को छेदने में समर्थ होता है, किन्तु अपने रागात्मक अनुबन्ध के कारण वह कमलकोष को छेद नहीं सकता। यही स्थिति मनुष्य की बनी हुई है। वह रागात्मक संवेदन के कारण भोग-विलास में रचा-पचा हुआ है। पदार्थजगत् की लालसा उसे प्रतिपल सता रही है और सुख-सुविधाओं को पाने की चिन्ता हमेशा उसके सिर पर सवार है।

दूसरी ओर द्वेष के बन्धन से भी आदमी मुक्त नहीं है। राग की दृष्टि से देखा जाए तो द्वेष प्रतिकूलता का बन्धन है, अप्रियता का संवेदन है। प्रतिकूलता को, अप्रिय संवेदन को फिर भी छोड़ा जा सकता है, किन्तु अनुकूलता को, राग को सहसा नहीं छोड़ा जा सकता। अनुकूलता में लगाव होता है, प्रतिकूलता में दुराव होता है। राग अनुकूल संवेदन है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और द्वेष प्रतिकूल संवेदन है। रूपक की भाषा में इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि राग-द्वेष दो प्रकार की विद्युत् हैं—एक विद्युत् व्यक्ति को खींचती है तो दूसरी विद्युत् झटका देकर उसे फेंक देती है, किन्तु मारक दोनों ही हैं।

वैराग्य को स्वीकार करने का अर्थ है—राग से विराग की ओर कदम बढ़ाना, भोग से त्याग की चेतना को जगाना, बाहर से भीतर की ओर प्रस्थान करना तथा संसार से पराङ्मुख होकर अध्यात्ममार्ग के प्रति समर्पित होना।

महर्षि पतंजलि ने वैराग्य को परिभाषित करते हुए लिखा—**'ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्'**—ज्ञान की पराकाष्ठा है-वैराग्य। जीवन में कब किसको वैराग्य हो जाए, कौन कब इस संसार से विरक्त हो जाए, कहा नहीं जा सकता। अज्ञात में वैराग्य के संस्कार छिपे रहते हैं। कोई निमित्त मिलता है तो वे उद्बुद्ध हो जाते हैं और जीवन की दिशा को मोड़ देते हैं। फिर भी सामान्यतया यही कहा जाता है कि वैराग्य का अवतरण अहंभाव के टूटने से होता है, भोग्यवस्तुओं के प्रति उदासीनता से होता है।

शिष्य ने गुरु से पूछा—गुरुदेव! मैं जानना चाहता हूं, वैराग्य क्या है? गुरु ने कहा—

'भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं,
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता,
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम्।।'

हृदय में जन्म-मरण का भय समा जाए, बान्धवजनों के प्रति होने वाला स्नेह दूर हो जाए, कामविकार मन से निकल जाएं तथा संसर्गदोष से रहित निर्जनवन में वास हो जाए और भगवद्भक्ति का अनुराग हो जाए तो इससे बढ़कर वैराग्य क्या हो सकता है, जिसकी याचना की जाए।

शिष्य समझ गया कि निवृत्ति ही वैराग्य है, वही सुख है, इसलिए सत्य कहा गया—**'तत्सुखं यत्र निवृत्तिः'**। सुख किसे नहीं चाहिए? हर व्यक्ति अपने सुख की चाबी अपने पास रखना चाहता है, अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में लेना चाहता है और स्वयं अपने भाग्य का स्वामी बनना चाहता है। किन्तु वैराग्य से बढ़कर दूसरा सद्भाग्य क्या हो सकता है? जिसके कदम वैराग्य के पथ पर बढ़ जाते हैं वह सौभागी होता है, सुखी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा अभय होता है। जिसे सुख की आकांक्षा है उसे वैराग्य का आचरण करना ही होगा। जीवन में प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी प्रकार का भय सताता रहता है। किन्तु जो व्यक्ति वैराग्यवान् होता है वह सदा अभय होता है। इस प्रसंग में संस्कृतकवि भर्तृहरि ने लिखा है—

'भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं,
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।'

भोग में रोग का, कुल में क्षीणता का, धन में राजा का, मौन में दीनता का, बल में शत्रु का, रूप में जरा का, शास्त्र में वाद का, गुण में दुर्जन का तथा शरीर में मृत्यु का भय बना रहता है। इस प्रकार इस संसार में मनुष्य के लिए सभी वस्तुएं भय पैदा करने वाली हैं, वैराग्य ही एक ऐसा है जो अभय है।

प्रस्तुत ग्रंथ में आचार्य सोमप्रभ ने भी वैराग्य को भयमुक्ति का हेतु माना है। उन्होंने वैराग्य के गौरव को उजागर करते हुए कहा है—वैराग्य पापरूपी रजों को दूर करने के लिए जल, उन्मत्त इन्द्रियरूपी हाथियों को वश में करने के लिए अंकुश, मनरूपी वानर को नियन्त्रित करने के लिए शृंखला, कामरूपी ज्वर के उपशमन के लिए औषध तथा शिवमार्ग पर बढ़ने के लिए रथ के समान हैं।

अकेला वैराग्य समस्त कर्मों का अन्त उसी प्रकार कर देता है, जैसे प्रचण्ड वायु उमड़ती हुई मेघघटा का, दावाग्नि वृक्षसमूह का, सूर्य का प्रकाश अन्धकार का तथा वज्र पर्वतों का भेदन कर देता है।

जिस दिन व्यक्ति के मन में वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित होता है उसी दिन से वह भोगों को काले नाग के फण के समान जानकर, राज्य को धूलि के तुल्य मानकर, इन्द्रियविषयों को विषाक्त अन्न की भांति समझकर, ऐश्वर्य-संपदा को राख के सदृश हृदयंगम कर तथा स्त्रियों के स्नेह को तृणवत् तुच्छ मानकर उन सबका यथायोग्य परिहार करने लग जाता है।

जब जीवन में विरक्ति का अवतरण होता है तो चेतना भी निर्लेपता और अनासक्ति के भाव से भावित हो जाती है। जहां आसक्ति और लेप का लेश होता है वहां चेतना मलिन और कलुषित होती है। उसके साथ चिपकाव, लगाव और विषयसुखतृष्णा योजित हो जाती है। उत्तराध्ययन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र में विरक्त साधक को मिट्टी के सूखे गोले की उपमा से उपमित करते हुए कहा गया—**'विरत्ता उ न लग्गंति जहा सुक्को उ गोलओ'**—मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कहीं भी नहीं चिपकता, आसक्त नहीं होता।

अनासक्ति कर्ममुक्ति का बहुत बड़ा हेतु है। अनासक्तभाव से किया हुआ प्रत्येक कार्य कर्मनिर्जरा में निमित्त बनता है। औपपातिकसूत्र में कहा गया—**'वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडेंति'**—वैराग्य को प्राप्त कर जीव कर्मों के समूह को तोड़ देते हैं।

विरक्ति के दो हेतु हो सकते हैं–अतिभोग से अतृप्ति और भोगों के विपरिणाम की अनुभूति। आत्मानुशासन में इसी आशय को स्पष्ट करते हुए कहा गया—

'विरज्य संपदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम् ।
नावमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम्।।'

जुगुप्सावान्—अजीर्ण रोग से ग्रस्त होने पर क्या व्यक्ति सुभुक्त भोजन का भी वमन नहीं करता, फिर संपदाओं से विरक्त होकर सन्तजन यदि उनको छोड़ते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

पदार्थ के प्रति विरक्त होना अथवा प्राप्त भोगों को पीठ दिखाना वास्तव में सुभुक्त भोजन का ही वमन करना है। यही अनुराग से विराग की यात्रा है, संसार से अध्यात्म की ओर अभिमुखता है। जीवन में सदा वैराग्य की महक बनी रहे, ऐसा चाहते हुए भी व्यक्ति प्रायः भोगों में डूबा रहता है। वह वैराग्य की ओर नहीं बढ़ पाता। उसका लगाव भौतिकता की ओर होता है। वैराग्य के संस्कारों को जीवन में लाने के लिए क्या करना चाहिए? यह जिज्ञासा प्रत्येक व्यक्ति की बनी रहती है। इसी जिज्ञासा के समाधान में आचार्य उमास्वाति ने लिखा—

'वृत्त्यर्थं कर्म यथा तदेव लोकः पुनः पुनः कुरुते।
एवं विरागवार्तहितुरपि पुनः पुनश्चिन्त्यः।।'

जिस कार्य से आजीविका चलती है, उस कार्य को लोग बार-बार करते हैं। उसी प्रकार वैराग्य वार्ता के हेतुओं का चिन्तन भी बार-बार करते रहना चाहिए।

वैराग्य के संस्कार वैरागीजन के निकट बैठने से, वैराग्यपरक बातों के श्रवण से, वैराग्य के योग्य बिन्दुओं का सतत चिन्तन करने से तथा वैराग्यपूरक साहित्य को बार-बार पढ़ने से पुष्ट होते हैं। वैराग्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रेक्षा भी उन संस्कारों को पुष्ट कर सकती है।

जब जीवन में वैराग्य का उदय होता है तब फलित होता है सुख। इसलिए नीतिकार ने कहा—**'कस्य सुखं न करोति विरागः'**—वैराग्य किसको सुख नहीं देता? संसार में वीतरागता ही सुख है। हितोपदेश में वैराग्य से प्राप्त लाभ की चर्चा करते हुए बताया गया—

'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्।।'

रागीजन वन में रहते हुए भी दोषमुक्त नहीं रह सकते और वैरागियों को घर में भी पांच इन्द्रियों के निग्रहस्वरूप तप की प्राप्ति हो जाती है। जो अकुत्सित प्रवृत्ति (अपापकारी प्रवृत्ति) में लगे रहते हैं उन रागरहित व्यक्तियों के लिए घर भी तपोवन है।

इसलिए वैराग्य और वितृष्णा—भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति—ये दोनों मुक्ति-प्राप्ति के आदि साधन हैं। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में जीव को वैराग्यरसिक बनने की प्रेरणा देते हुए कहा गया—

'देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिस्त्यज त्वं,
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनष्टम्,
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठ!।।'

प्रभुभक्ति में निष्ठा रखने वाले हे जीव ! तू इस हाड़, मांस और रुधिर वाले शरीर का अभिमान छोड़, स्त्रीपुत्रादिक की ममता को सदा दूर कर, क्षणभर में विनष्ट होने वाले इस जगत् को सदा देख और वैराग्यराग का रसिक बन।

प्रस्तुत प्रकरण के नवनीत को इन बिन्दुओं में देखा जा सकता है—

- वैराग्य अध्यात्म का प्रवेशद्वार है।
- देवों को किया जाने वाला नमस्कार, सद्गुरु-चरणसेवा आदि उपक्रम तभी मोक्ष देने वाले हैं जब वैराग्य की स्फुरणा उनके साथ होती है।
- मनुष्यजन्मरूपी वृक्ष का एक रसिक फल वैराग्य भी है।
- वैराग्य प्राणी को संसार के भय से मुक्त कर सकता है।
- अकेला वैराग्य समस्त कर्मों का भी निर्जरण कर सकता है।
- वैराग्य मनुष्य को शाश्वत सुख देता है।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. अवबोध

ग्रन्थकार सूरीश्वर सोमप्रभ ने अपने ग्रन्थ की इतिश्री सामान्योपदेश से की है। इससे पूर्व उन्होंने विविध विषयों से संबंधित पुष्पों का चयन कर पाठकों के सामने एक सुन्दर गुलदस्ता उपहृत किया है। यह गुलदस्ता मात्र विविध वर्ण वाले इक्कीस पुष्पों में ही गुम्फित हुआ है। सामान्योपदेश में उन्होंने सबके काम आने वाली जनभोग्य सामग्री को परोसा है और इक्कीस प्रकरणों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि विविध विषयों की विशद व्याख्या कर विशेष-रुचि वाले व्यक्तियों के लिए उन्हें उपभोग्य बनाया है।

सामान्योपदेश में श्लोकानुसार कुछेक विषय इस प्रकार प्रतिपादित हुए हैं—मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण कैसे हो? इष्ट सुख की प्राप्ति के साधन क्या हैं? कुशलपुरुषों द्वारा सुप्राप्य न्यायमार्ग का अनुवर्तन किस प्रकार किया जाए ? महान् पुरुषों के भूषण क्या हैं ? मुक्तिरूपी नगरी में जाने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए वर्जनीय कार्य कौन-से हैं? तथा सिन्दूरप्रकर के श्रवण से लाभ और ग्रन्थकार का परिचय।

ग्रन्थप्रणेता ने मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण करने के लिए तथा इष्ट सुखों की प्राप्ति के लिए विविध उपायों की चर्चा की है। विशेषतः वीतराग-स्तवना, पूजा-अर्चना के लिए उन्होंने सन्ध्या के समय को सर्वोत्तम माना है। वैदिकों में सन्ध्या का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस तथ्य से लगता है कि सूरीश्वरजी ने वैदिक परम्परा से श्रमणपरम्परा को जोड़ने का भी सार्थक प्रयास किया है। इसलिए वे वीतराग-स्तवना के लिए प्रातः, मध्याह्न तथा सायं–तीनों संध्याओं को करणीय मानते हैं।

अन्य श्लोक में उन्होंने मुक्तिरूपी नगरी में जाने के लिए सबसे बाधक तत्त्व इन्द्रियविषयों को माना है। वे मुमुक्षु को सावधान करते हुए कहते हैं—ये विषयरूपी विषवृक्ष हैं। इनके नीचे कभी निवास मत करना, क्योंकि इनकी छाया भी मूढता को फैलाने वाली है। उससे मूढ होकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति एक कदम भी नहीं चल पाता। गमन के अभाव में मुक्ति की प्राप्ति कैसे होगी?

काव्यकार ने 'सामान्योपदेश' में उन भूषणों की भी चर्चा की है जो मनुष्य के आन्तरिक सौन्दर्य के प्रतीक हैं। उन्होंने प्रत्येक अवयव का अलग-अलग भूषण बताते हुए कहा है—दान हाथ का भूषण है, गुरुचरणों में प्रणाम करना शिर का भूषण है, सत्यवाणी बोलना मुख का भूषण है, श्रुत का श्रवण करना कानों का भूषण है, निर्मलवृत्ति को धारण करना हृदय का भूषण है तथा विजय को प्राप्त कराने वाला पौरुष भुजाओं का भूषण हैं। जिनके पास ये भूषण हैं वे व्यक्ति ऐश्वर्य के बिना भी सुशोभित हैं। वे ही प्रकृति से महान् हैं।

ग्रन्थ का पठन-पाठन करना स्वाध्याय की सबसे बड़ी कुंजी है और कर्मनिर्जरण का एक महान् हेतु है। आचार्य सोमप्रभ ने ग्रन्थ के श्रवण को भी अज्ञानरूपी पंक को दूर करने के लिए स्वीकार किया है। वे कहते हैं—जो व्यक्ति अल्प उपदेश वाले इस लघु ग्रन्थ का निरन्तर श्रवण करता है उसे अवश्य ही ज्ञान का प्रसाद मिल जाता है, अज्ञानरूपी पंक नष्ट हो जाता है।

अन्त में प्रशस्तिवाचक श्लोक में गुरुपरंपरा का उल्लेख इस प्रकार है-'आचार्य अजितदेव के पट्ट पर आचार्य विजयसिंह पट्टासीन हुए। उनके चरणकमलों की उपासना करने वाले उनके शिष्य सोमप्रभ हुए। उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ सूक्तिमुक्तावली की रचना की।'

यह ग्रन्थ आदिवचन के आधार पर 'सिन्दूरप्रकर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा विभाग

उद्‌बोधक कथाएं

प्रस्तुत विभाग में काव्य के
विभिन्न विषयों से अनुबन्धित
उद्‌बोधक कथाएं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथा-संकेतिका

कथा	विषय	पृष्ठसं.
१. पार्श्वप्रभुः पातु वः	मंगलाचरण	२३५
२. धर्म से बड़ा न कोई.....	धर्म की प्रधानता	२४०
३. दुर्लभ मानवजीवन	मनुष्यजन्म की दुर्लभता	२४४
४. मनुष्यजन्मः चिन्तामणि रत्न	मनुष्यजन्म की दुर्लभता	२५१
५. गुरु का महत्त्व	गुरु का महत्त्व	२५३
६. गुरु लोभी चेलो लालची	गुरु का महत्त्व	२५६
७. संघशक्ति का निदर्शन	संघ प्रकरण	२६०
८. हार गई हिंसा	अहिंसा प्रकरण	२६३
९. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि : मानसिक हिंसा का परिणाम	अहिंसा प्रकरण	२६५
१०. सत्य की विजय	सत्य प्रकरण	२७०
११. असत्य का परिणाम	सत्य प्रकरण	२७५
१२. चिलातपुत्र	अस्तेय प्रकरण	२७९
१३. शील का चमत्कार	शील प्रकरण	२८५
१४. शील का माहात्म्य	शील प्रकरण	२८९
१५. शील सुकर या दुष्कर?	शील प्रकरण	२९६
१६. आकांक्षा से अनाकांक्षा की ओर	परिग्रहत्याग प्रकरण	२९९
१७. क्रोध और क्षमा की प्रतिमूर्ति : अतूंकारी भट्टा	क्रोधत्याग प्रकरण	३०३
१८. क्रोध को विफल करो	क्रोधत्याग प्रकरण	३०७
१९. चांडाल है क्रोध	क्रोधत्याग प्रकरण	३१०
२०. साधना में बाधक है अहं	मानत्याग प्रकरण	३१२
२१. रूप का अहंकार	मानत्याग प्रकरण	३१६
२२. तीर्थंकर मल्लि स्त्री क्यों?	मायात्याग प्रकरण	३१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. लोभ की पराकाष्ठा	लोभत्याग प्रकरण	३२२
२४. लोहो सव्वविणासणो	लोभत्याग प्रकरण	३२५
२५. सज्जनता का परिणाम	सौजन्य प्रकरण	३३०
२६. दुर्जनता की फलश्रुति	सौजन्य प्रकरण	३३६
२७. डाकू से संन्यासी	गुणिसंग प्रकरण	३४०
२८. संगत की रंगत	गुणिसंग प्रकरण	३४४
२९. इन्द्रियों की दासता	इन्द्रियदमन प्रकरण	३४५
३०. अनियन्त्रित इन्द्रियों का कहर	इन्द्रियदमन प्रकरण	३५३
३१. लक्ष्मी है वहां	लक्ष्मीस्वभाव प्रकरण	३५७
३२. प्रभुत्व किसका : धन या धर्म का?	लक्ष्मीस्वभाव प्रकरण	३५९
३३. सुपात्रदान	दान प्रकरण	३६७
३४. दृढप्रहारी	तप प्रकरण	३७४
३५. अनुराग से विराग	भावना प्रकरण	३७७
३६. भावना के अनुरूप फल	भावना प्रकरण	३८१
३७. यों हुआ वैराग्य	वैराग्य प्रकरण	३८३
३८. वृद्धावस्था : वैराग्य का हेतु	वैराग्य प्रकरण	३८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. पार्श्वप्रभुः पातु वः

प्रातःकाल का समय। मन्द-मन्द बहता हुआ वासन्ती पवन। चारों ओर फैली हुई वनराजि अतृप्त नयनों को तृप्त कर रही थी। वाराणसी नगर अपनी भव्यता, कला और संस्कृति के लिए दूसरे जनपदों में एक उदाहरण बना हुआ था। वहां के महाराज अश्वसेन एक धर्मनिष्ठ और न्यायप्रिय राजा थे। महारानी वामादेवी अर्हत्धर्म में आस्थाशील और करुणाशील महिला थी। उनके पुत्र कुमार पार्श्व भावी तीर्थंकर होकर धर्मचक्र का प्रवर्तन करने वाले थे।

राजप्रासाद की विशालता, सुन्दरता और कला की बेजोड़ प्रतिमा जन-जन के नयनों में बसी हुई थी। एक दिन राजकुमार अपने महल के वातायन से नगर की सुषमा का अवलोकन कर रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि राजमार्ग से गुजरने वाले लोगों पर पड़ी। हजारों लोग एक ही दिशा में अहंपूर्विकया आगे बढ़ रहे थे। राजकुमार कुतूहल और जिज्ञासा से भर गए। उन्होंने सोचा—क्या आज हमारे नगर में कोई महोत्सव है? अथवा कोई निर्ग्रन्थ श्रमण यहां पधारे हुए हैं? अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए उन्होंने अपने अंगरक्षकों से इसकी अवगति करनी चाही। पूछने पर ज्ञात हुआ कि नगर के बाहरी उद्यान में एक तपस्वी आया हुआ है। उसका नाम कमठ है। वह पंचाग्नि तप तपता है। उसके तपःप्रभाव से प्रभावित होकर लोगों की भीड़ उस तपस्वी के दर्शनार्थ वहां जा रही है।

तत्काल राजकुमार ने वस्तुस्थिति को जानने के लिए अपना अवधिज्ञान लगाया। वे अपने ज्ञानबल से जान गए कि यह कोरा पाखंड है, लोगों को दिग्मूढ करने का रास्ता है, धर्म के नाम पर धोखा है। इस प्रकार के क्रियाकाण्ड से जनता का कल्याण होने वाला नहीं है। इसका अवश्य ही रहस्योद्घाटन होना चाहिए। जन-जन को इसकी सत्यता और वास्तविकता का पता लगना चाहिए। यह सोचकर स्वयं पार्श्व ने वहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाना उचित समझा। वे तत्काल वहां गए और उन्होंने देखा कि तपस्वी के चारों ओर बड़े-बड़े लक्कड़ जल रहे हैं। उनसे निकलती हुई अग्नि की ज्वाला मानो आकाश से प्रतिस्पर्धा कर रही है। हजारों लोग खड़े-खड़े उस दृश्य को निहार रहे हैं। यह सब देखकर राजकुमार से रहा नहीं गया। उन्होंने तपस्वी को संबोधित करते हुए कहा—अरे तपस्वी! क्या तेरी यही तपस्या है? यह तो घोर हिंसा का काम है। क्या कभी हिंसा में धर्म होता है? इसमें तो नाग-नागिन का जोड़ा जल रहा है। तपस्वी ने कुमार पार्श्व के कथन का प्रतिवाद करना चाहा, किन्तु हाथकंगन को आरसी क्या? तत्काल पार्श्व ने उस विशाल काष्ठखंड को तपस्वी के सामने चिरवाया। उसमें से एक अधजला नागयुगल तड़फता हुआ बाहर आकर गिर पड़ा। वह अन्तिम सांसें गिन रहा था। कुमार ने तुरत-फुरत उस युगल को नमस्कार महामंत्र सुनाया और अरिहंत, सिद्धों की साक्षी से यावज्जीवन प्रत्याख्यान करा दिया। उसी समय उस युगल ने अपने प्राणों को छोड़ दिया। वे दोनों शुभ परिणामों में मरकर नागकुमार देवों के इन्द्र-इन्द्राणी—धरणेन्द्र पद्मावती बने।

इस घटना से कमठ तपस्वी का प्रभाव कम हो गया। उसे चारों ओर निन्दा और अपमान की दृष्टि से देखा जाने लगा। अपने को तिरस्कृत हुआ जानकर उसने क्रुद्ध होकर आमरण अनशन कर लिया। अन्त में वह मरकर मेघमाली देव बना।

बालक पार्श्व जब गर्भ में आए थे तब उनकी माता वामादेवी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में चौदह शुभ स्वप्नों को देखा था। वे स्वप्न उनके भावी तीर्थंकर होने की सूचना दे रहे थे। स्वप्नपाठकों ने भी उन स्वप्नों का वही फलादेश बताया था। इस शुभ संकेत से सारे घर में मंगलमय, प्रसन्नमय और उल्लासमय वातावरण छा गया।

गर्भस्थिति के पूरा होने पर पौष कृष्णा दसमी की मध्यरात्रि में बालक का जन्म हुआ। एक ओर देवताओं और देवेन्द्र ने बालक का जन्माभिषेक मनाकर अपनी प्रसन्नता को अभिव्यक्त किया तो दूसरी ओर महाराज अश्वसेन ने राज्यभर में मंगलदीपों और मंगलगीतों से उसका वर्धापन किया। स्वयं राजा ने याचकों को मुक्त हाथ से दान दिया, बन्दियों को कारागृह से मुक्त किया और जनता पर लगे कर-लगान को माफकर उन्हें लाभ पहुंचाया। इस प्रकार राज्यभर में किसी न किसी रूप में बालक का जन्मोत्सव मनाकर सभी ने उस खुशी में अपनी खुशी प्रकट की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालक कुछ बड़ा हुआ। अब महाराज अश्वसेन के सामने बालक के नामकरण का प्रश्न था। उसके लिए उन्होंने एक विराट् प्रीतिभोज का आयोजन किया। उसमें अनेक लोग सम्मिलित हुए। अनेक लोगों ने अनेक नामों का प्रस्ताव सामने रखा। उन पर चिन्तन-मनन भी चला। किन्तु किसी एक नाम पर सबकी सहमति नहीं बन पाई। अन्त में महाराज अश्वसेन ने अपनी ओर से एक नाम प्रस्तुत करते हुए कहा—एक बार मैं महारानी की गर्भावस्था के समय उनके साथ उपवन में गया था। उस दिन घोर अन्धेरी रात थी। रात को वहां एक काला नाग निकला। गर्भ के प्रभाव से महारानी ने उस अन्धेरी रात में भी उस काले नाग को पार्श्व में चलते हुए देखा। तत्काल रानी ने मुझे सावधान करते हुए उस काले नाग की सूचना दी। इसलिए बालक का नाम पार्श्वनाथ (पार्श्वनाग) रखा जाए तो कैसा रहे? सभी ने राजा के द्वारा प्रस्तावित नाम का अनुमोदन किया। तब से कुमार पार्श्व नाम से पुकारा जाने लगा।

बाल्यावस्था को पार कर राजकुमार यौवन की दहलीज पर पांव रख रहे थे। उनके अंग-अंग में अपूर्व लावण्य और सौन्दर्य टपक रहा था। उनके रूप-लावण्य की चर्चा भी सुदूर देशों में फैल चुकी थी। कुशस्थलपुर के राजा प्रसेनजित की राजकुमारी प्रभावती ने उनके रूप-लावण्य की चर्चा सुनकर राजकुमार पार्श्व से विवाह करने की मन ही मन एक दृढ प्रतिज्ञा की। उन्हीं दिनों कलिंग देश का युवा नरेश यवन भी प्रभावती को पाने के लिए आतुर था। उसने राजा प्रसेनजित से कहलवाया—या तो राजपुत्री का विवाह मेरे साथ कर दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। महाराज प्रसेनजित धर्मसंकट में पड़ गए। वे राजकुमारी की इच्छा के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सकते थे। इस संकट से उबरने के लिए उसने राजा अश्वसेन की सहायता लेनी चाही। जब राजा अश्वसेन युद्ध में जाने की तैयारी करने लगे तब राजकुमार पार्श्व को इस बात की जानकारी मिली। वे पिताश्री के पास आए और अनुरोध भरे स्वरों में कहा—तातश्री। इतने छोटे-से कार्य के लिए आप युद्ध में जाएं, यह आपको शोभा नहीं देता। आप मुझे अनुमति दें। यह काम तो मैं भी कर सकता हूँ। पिताश्री पुत्र के साहस, शौर्य और निर्भीकता को देखकर गर्व से फूले नहीं समाए। उन्होंने पुत्र को सभी प्रकार से योग्य और समर्थ जानकर युद्ध में जाने की सहर्ष स्वीकृति दे दी।

एक ओर राजकुमार के साथ चलने वाली सुसज्जित चतुरंगिणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेना थी तो दूसरी ओर इन्द्र द्वारा प्रदत्त गगनगामी रथ। दोनों से संवलित होकर राजकुमार ने वाराणसी से युद्धभूमि की ओर प्रस्थान किया। प्रस्थान करते ही कुमार पार्श्व ने अपनी ओर से एक दूत यवनराज के पास भेजा और कहलवाया कि वे अपने दुराग्रह को छोड़ दें और जानबूझकर इस पर्वत से न टकराएं।

दूत राजकुमार का संदेश लेकर राजा यवन के दरबार में पहुंचा। उसने राजा और सभासदों के बीच उस संदेश को सुनाया। संदेश सुनते ही सभी सदस्यों की आंखों में खून उतर आया। उनकी भुजाएं फड़कने लगीं। तभी वृद्ध मंत्री ने उनको शांत करते हुए कहा—क्रोध से कभी कोई समाधान नहीं होता। हम पहले अपनी शक्ति को पहचानें, फिर कोई निर्णय लें। जिनके साथ हम युद्ध करना चाहते हैं उनका सहयोग तो स्वयं इन्द्र और देव भी कर रहे हैं, फिर उनके सामने हमारी यह तुच्छ शक्ति कब तक टिक पाएगी? क्या हम उन्हें विजित कर सकेंगे? मेरी दृष्टि से हमें युद्ध का विचार छोड़कर उनके साथ मित्रता कर लेनी चाहिए।

वृद्ध मंत्री की बात राजा तथा अन्य सभी सदस्यों के गले उतर गई। राजा यवन ने दोस्ती का हाथ बढ़ाकर कुमार पार्श्व को अपना मित्र बना लिया। वह उनकी तन-मन से सेवा साधने लगा।

इधर राजा प्रसेनजित ने पुनः अपनी बात दोहराते हुए पार्श्व से कहा—आपने हमें राज्य संकट से उबारा है, उसके लिए धन्यवाद। अब आप राजकुमारी से पाणिग्रहण कर उसकी प्रतिज्ञा को भी पूर्ण कर दें। कुमार पार्श्व ने हंसते हुए कहा—अभी तो मैं यहां युद्ध के संकटमोचन के लिए आया था, पाणिग्रहण के लिए नहीं। अब तो मैं अपने देश लौट रहा हूँ।

राजकुमार पार्श्व विवाह के बन्धन में नहीं बन्धना चाहते थे, क्योंकि उनके चरण विरक्ति की ओर बढ़ चुके थे। फिर भी वे पिता के आग्रह को नहीं टाल सके। नहीं चाहते हुए भी उन्होंने पिता के कहने पर राजकुमारी प्रभावती से पाणिग्रहण कर विवाह के उपचार को निभाया।

राजकुमार पार्श्व के भोगावली कर्म शेष थे। उनका परिपाक होने पर वे दीक्षा के लिए उद्यत हुए। लोकान्तिक देवों ने उनसे जनकल्याण की याचना की। वर्षीदान देकर उन्होंने पौष कृष्णा एकादशी के दिन सौ व्यक्तियों के साथ वाराणसी के आश्रमपद उद्यान में दीक्षा स्वीकार की। उस दिन उनके तेले की तपस्या थी। दीक्षा लेते ही वे आत्मा से परमात्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और देह से विदेह की साधना में लग गए।

साधना का मार्ग कण्टकाकीर्ण होता है। साधना करने वालों को अपने पुरुषार्थ से उसे बुहारना होता है। उसमें भूख-प्यास आदि अनेक परीषहों को सहना होता है, विविध उपसर्गों का सामना करना होता है। तब कहीं वह मार्ग प्रशस्त होता है। साधना में संलग्न होकर भगवान पार्श्व गांव-गांव और नगर-नगर में जनपद विहार कर रहे थे। एक बार वे शिवपुर नगर के कुछ दूर तापस आश्रम में पहुंचे और वहीं एक वटवृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में स्थित हो गए। उस समय कमठ तापस का जीव, जो मेघमाली देव बना था, भगवान को ध्यानस्थ खड़े देखकर कुपित हो उठा। उसका भगवान के प्रति पूर्वभव का वैर जाग्रत हो गया। वह भगवान को विविध उपसर्ग देने लगा। पहले तो उसने शेर, चीता, व्याघ्र, विषधर आदि विविध रूप बनाकर कष्ट दिए। उन कष्टों में प्रभु मेरु की भांति अडोल और निष्प्रकम्प रहे। देव को यह कब सह्य हो सकता था? वह अपनी विफलता से निराश होकर और अधिक कुपित हो गया। उसने मेघ की विकुर्वणा की और देखते-देखते मूसलाधार वर्षा बरसानी प्रारम्भ कर दी। भगवान पार्श्व चारों ओर पानी से घिर गए। पानी का स्तर बढ़ते-बढ़ते घुटनों, जंघा, कमर को पारकर नासाग्र तक पहुंच गया। फिर भी भगवान अपनी ध्यानमुद्रा से किंचित्‌मात्र भी विचलित नहीं हुए। वे चेतना की उस गहराई तक पहुंचे हुए थे जहां शरीर का बोध समाप्त हो जाता है।

इधर नाग-नागिन का जीव, जो धरणेन्द्र-पद्‌मावती बने थे, का आसन प्रकम्पित हुआ। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से देखा कि कोई दुष्ट देव भगवान पार्श्व को उपसर्ग दे रहा है। वे दोनों तत्काल भगवान की सेवा के लिए वहां से आए। उन्होंने भगवान के पैरों के नीचे एक विशाल नाल वाला कमल बनाया और ऊपर सात फणों वाला सर्पछत्र बनाकर उपसर्ग शान्त किया। भगवान समताभाव में लीन थे। न तो उनका कमठ के प्रति रोष था और न धरणेन्द्र-पद्‌मावती पर तोष। अन्त में कमठासुर पराजित होकर वहां से चला गया।

भगवान ने अपने साधनाकाल में तयासी रातें अभिग्रह और ध्यान में बिताईं। चौरासीवें दिन आश्रमपद उद्यान में धातकी वृक्ष के नीचे ध्यान करते-करते शुभ अध्यवसाय और शुभ लेश्या में वे क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हुए। उनके चार घनघाती कर्म क्षीण हुए और वे केवली बन गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही उन्होंने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना की, चतुर्याम धर्म का प्रवर्तन किया। केवली अवस्था में वे सत्तर वर्ष तक धर्मदेशना देते रहे।

उन्होंने मुख्यतया बिहार, कुरु, कौशल, काशी, अवन्ती, विदर्भ, दशार्ण, कर्नाटक, काश्मीर आदि जनपद देशों में विहार किया। ईरान, साइबेरिया, मिश्र, अफगानिस्तान आदि सुदूर देशों में भी उनके धर्म की गहरी प्रभावना रही। उनके शासनकाल में आर्यदत्त प्रमुख आदि दस गणधर तथा अनेक प्रतिभाशाली और प्रभावक आचार्य हुए। उन्होंने जिनशासन की बहुत सेवा की। उनके प्रसिद्ध नाम हैं—शुभदत्त, आर्य हरिदत्त, आर्य समुद्रसूरि तथा आर्य केशीश्रमण आदि।

अन्त में भगवान ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए सम्मेदशिखर पर चले गए। वहां उन्होंने अनशनपूर्वक शरीर का परित्याग किया। श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन वे सब कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। भगवान का संपूर्ण आयुष्य सौ वर्षों का था। इस अवसर्पिणी काल में वे जैन परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर हुए।

२. धर्म से बड़ा न कोई.....

प्रभात की शुभ वेला। गगन में उदित होता हुआ दिनमणि अपनी रक्तिमा से मानो दशों दिशाओं में सिन्दूर भर रहा था। मांगलिक समय, मंगलमय यात्रा की तैयारियां। श्रेष्ठिपुत्र अर्हन्नक ने अपने पिताश्री के कमरे में प्रवेश किया, चरणों में प्रणत होता हुआ बोला—पिताश्री ! सामुद्रिक-यात्रा का मुहूर्त्त निकट है। आप मुझे आशीर्वाद दें और मुझे अपने कर्तव्यबोध तथा शुभाशंसा से अनुगृहीत करें, जिससे मेरी यात्रा प्रशस्त और मंगलमय बन सके। पिता ने अपनी वत्सलता उंडेलते हुए कहा—वत्स! तू स्वयं ही प्रबुद्ध और साहसी है। तेरे लिए मात्र संकेत ही काफी है। फिर भी यात्रा लम्बी और जोखिमभरी है। विशेषतः उसमें सावधानी की आवश्यकता है। कोई विघ्न अथवा उपसर्ग आने पर अपने मनोबल को दृढ़ रखना, अपने धैर्य को बनाए रखना तथा देव, गुरु और धर्म की शरण को कभी मत भूलना। अन्त में पिताश्री ने हंसते हुए कहा—और कोई काम न हो तो अपने वयोवृद्ध मां-बाप को ही याद कर लेना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्र ने पिता की सीख लेकर धीमे से कहा—पिताश्री! पुत्र के हृदय से माता-पिता कब विस्मृत हो सकते हैं। आपका मंगल आशीर्वाद ही मेरे लिए सब कुछ है। इसी अन्तराल में मां, भाई-बहिन आदि परिवार के अन्य सदस्य भी वहां आ गए। जहाज में माल का लदान हो चुका था। अर्हन्नक के साथ जाने वाले यात्री भी अपनी तैयारी के साथ वहां पहुंच चुके थे। अब प्रस्थान में आधा घंटा ही शेष बचा था।

चम्पापुर समुद्रतट पर बसा हुआ था। अंग जनपद के अधिपति महाराज चन्द्रछाया इस नगर के अनुशास्ता थे। समुद्रतट पर स्थित होने के कारण वह नगर एक प्रसिद्ध बन्दरगाह भी था। उसके पड़ोसी देशों के साथ अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे। प्रतिदिन अनेक जलपोत दूसरे देशों से माल लेकर वहां आते थे और पुनः यहां से माल भरकर सुदूर देशों के लिए रवाना हो जाते थे। इस प्रकार वह नगर माल के आयात-निर्यात का संगमस्थल बना हुआ था। प्रस्थान से पूर्व कुमार अर्हन्नक ने परिवार के सभी सदस्यों के चरण छुए और पुनः माता-पिता के चरणों में झुक गया। माता-पिता ने उसे अपनी छाती से लगा लिया। सभी ने गद्‌गद होते हुए अर्हन्नक को विदा किया। देखते-देखते अर्हन्नक का जहाज अपने गन्तव्य की ओर रवाना हुआ। वह समुद्री जहाज विशाल जलराशि को चीरता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था। ऊपर आकाश तो नीचे जल। न कहीं कोई भूमि का छोर था और न कहीं कोई आकाश में उड़ने वाले पक्षी ही दिखाई दे रहे थे। सर्वत्र आकाश की नीलिमा और जल की ऊर्मियां ही आंखों को प्रीणित कर रही थीं। कहीं-कहीं जलचर पक्षी और मत्स्य-कच्छप जीव अवश्य दृष्टिगत हो रहे थे। जलपोत में बैठे यात्री अपनी-अपनी धुन में मस्त होकर प्रकृति का आनन्द लूट रहे थे।

सूर्यदेवता अपनी माया को समेटकर विश्रामभूमि जाने को उद्यत था। वह इस बहाने दुनिया को बता रहा था कि किसी का अस्तित्व एक समान नहीं होता। किन्तु जो दोनों स्थितियों में एकरूप होता है वही महान् होता है। सूर्य छिपा ही था कि प्रकृति में अचानक विकृति का सा आभास होने लगा। पूरा अन्धकार न होने पर भी दुर्दिन से दिन का प्रकाश लुप्त हो गया। सारा आकाश बादलों से भर गया। चारों ओर काली कजरारी घटाएं, बिजली की कौंध, भयंकर गर्जारव के साथ वर्षा ने भयंकर ताण्डव प्रारम्भ कर दिया। समुद्र में अचानक एक भयंकर तूफान उठा और जलपोत उसके थपेड़ों से डगमगाने लगा। उसकी चपेट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बचने के लिए समुद्र के बीच ऐसा कोई टापू भी नहीं था, जहां लंगर डाला जा सके। एक ओर जलपोत तूफान के थपेड़ों से डोल रहा था तो दूसरी ओर जलपोत में सवार यात्रियों का अन्तःकरण भय से डोल रहा था। इसी बीच यात्री कुछ चिन्तन करें उससे पूर्व ही एक विकराल दैत्य, जिसके बड़े-बड़े दान्त, काली श्यामल-मुखाकृति, छाज जैसे कान, गले में लटकते हुए बड़े-बड़े विषधर और कन्धों पर चढे हुए सियार आदि थे, आ खड़ा हुआ। ऐसा रौद्र रूप सबका दिल दहलाने वाला था। अब सबको सामने मौत दिखाई दे रही थी। कुमार अर्हन्नक इस अकल्पित और अप्रत्याशित दृश्य को देखकर तत्काल सारी स्थिति को भांप गया। वह उसे देवजन्य उपसर्ग मानकर जहाज के एक कोने में निष्प्रकम्प और अविचलभाव से कायोत्सर्गमुद्रा में स्थित हो गया। अब उसके सामने अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म की शरण के सिवाय कोई रक्षक नहीं था। अन्य पोतयात्री भी अपनी जीवन-रक्षा के लिए विविध उपायों को काम में ले रहे थे। कोई अपने इष्टदेव के स्मरण में तल्लीन था तो कोई तीर्थाटन, दान-दक्षिणा का संकल्प कर उस उपसर्ग को टालना चाहता था।

उस दैत्य ने भयंकर अट्टहास करते हुए पोतवणिकों से कहा—क्या तुम्हें जीना इष्ट है? यदि है तो तुम सभी अपना-अपना धर्म छोड़ दो, अन्यथा मृत्युवरण के लिए तैयार हो जाओ। मैं अभी जहाज को समुद्र में डुबोता हूं। मौत का नाम सुनते ही चारों ओर हाहाकार मच गया। जानबूझकर मौत के मुंह में जाना किसे इष्ट हो सकता था? सभी एकस्वर में बोल उठे—हे देवानुप्रिय! आप ऐसा न करें। हम सब आपकी साक्षी से अपने धर्म-कर्म को तिलांजलि देते हैं और प्रण करते हैं कि भविष्य में हमारा धर्म से कोई वास्ता नहीं रहेगा।

नहीं, नहीं, तुम सभी सहमत कहां हो, अर्हन्नक क्या कहता है? देव ने प्रतिप्रश्न करते हुए कहा। साथियों ने कुमार अर्हन्नक की ओर देखा। वह तो अभी भी शान्तमुद्रा में कायोत्सर्ग में प्रतिष्ठित था। कुमार का अन्तर्मानस बोल रहा था कि धर्म कोई वस्त्र नहीं है, जब चाहा पहन लिया, जब चाहा उतार दिया। वह तो हमेशा जीवन के साथ रहने वाला है। मौत तो अवश्यम्भावी है। वह आज नहीं तो कल आएगी। क्या मौत के भय से धर्म को छोड़ा जा सकता है? यदि जीवन में धर्म का अंकुश है तो धन का अर्जन भी सम्यक् होगा, कामनाएं भी नहीं सताएगी। मैं धर्म को छोड़कर उस लोहार की धौंकनी के समान नहीं बनना चाहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो श्वास लेती हुई भी निष्प्राण है। अतः धर्म मेरा प्राणतत्व है, अस्तित्व है, उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ?

कुमार अर्हन्नक मौन थे, फिर भी उसकी मौनभंगिमा में सत्य बोल रहा था। कुमार के साथी मुखर थे, फिर भी उनकी वाणी में असत्य का दिग्दर्शन हो रहा था। कुमार के मित्र अर्हन्नक के वाणीसंयम पर झुंझला रहे थे। कोई उसे दुराग्रही तो कोई उसे हठधर्मी बताकर उसे विचलित करने का प्रयत्न कर रहा था। दैत्य भी बार-बार उसे धर्म छोड़ने की बात कहता हुआ मौत की चेतावनी दे रहा था। कुमार अर्हन्नक शान्तमुद्रा में सभी चेष्टाओं और प्रभावों से मुक्त था। उस पर चिकने घड़े की भांति किसी के कहने का कोई असर नहीं था। उस स्थिति में दैत्य भी क्रोध से तमतमा उठा। उसने अर्हन्नक को ललकारते हुए कहा—अरे दुष्ट। नराधम! लगता है तुझे जीवन प्रिय नहीं है। देखता हूं तू धर्म को कैसे नहीं छोड़ता? यह सुनते ही सारे पोतवणिक् जीवन की भीख मांगते हुए दीनस्वरों में बोल उठे—देवानुप्रिय! हम अर्हन्नक के पीछे क्यों मरें? वह यदि मरना चाहता है तो उसे मरने दें। आप हमें क्यों मारते हैं? दैत्य ने फुफकारते हुए कहा—तुम सब उसी के ही भाई हो। तुमको कैसे छोड़ सकता हूं? इतना कहते ही दैत्य ने उस विशाल जहाज को आकाश के अधर में उठाया और उसे कुम्हार के चाक की भांति घुमाने लगा। उसमें सवार अनेक यात्री भय के कारण मूर्च्छित हो गए तो कुछेक करुण विलाप से फूट-फूट कर रोने लगे। पर कुमार अर्हन्नक दैत्य के भय से अतीत हो चुका था। उसमें न तो जीने की इच्छा थी और न मौत से भय था। वह दोनों स्थितियों में समभावपूर्वक रहकर यथार्थता का अनुभव कर रहा था। अन्त में दैत्य उसकी दृढधर्मिता, धैर्य, निर्भीकता से पराजित हुआ। जहाज को पुनः समुद्र में स्थापित कर तथा अपने मूल रूप को प्रकट कर वह बोला—अर्हन्नक ! इन्द्र ने देवों की सभा में तुम्हारे लिए जो कुछ कहा था तुम उस कसौटी में खरे उतरे हो। यह सारा प्रपंच मैंने तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही रचा था। धन्य है तुम्हारी दृढ़धर्मिता, धन्य है तुम्हारा त्याग। तुम मेरी ओर से दो दिव्य कुण्डलयुगल को स्वीकार करो। अब मैं अपने स्थान पर जा रहा हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. दुर्लभ मानवजीवन

आचार्य धर्मसभा में प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन का विषय था—मनुष्यजीवन की दुर्लभता। उन्होंने विषय का प्रतिपादन करते हुए उसे एक आगमिक गाथा के आधार पर प्रस्तुत किया। वह गाथा है—

'चुल्लग पासग धन्ने जूए रयणे अ सुमिण चक्के य।
चम्म जुगे परमाणू दस दिट्ठंता मणु अलंभे।।'

मनुष्य का जन्म मिलना दुर्लभ है। उसकी दुर्लभता को गाथा में उल्लिखित दस दृष्टान्तों के द्वारा समझा जा सकता है। वे दृष्टान्त क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. चोल्लक—बारी बारी से भोजन

कांपिल्य नामक नगर में ब्रह्मदत्त राजा राज्य करता था। एक कार्पटिक सेवक उसकी हमेशा सहायता किया करता था। उसने राजा बनने से पूर्व भी ब्रह्मदत्त की अनेक बार रक्षा की थी, उसे कई बार विपत्तियों से बचाया था। इसलिए वह सदा उसका अभिन्न सहायक बना रहा। कुछ समय के बाद ब्रह्मदत्त राजा बन गया। सेवक सेवक के रूप में ही रहा। वह अत्यन्त गरीब था। गरीबी के कारण उसको किसी ने कहीं भी आश्रय नहीं दिया। अब उसका राजा से मिलना भी दुष्कर हो गया। वह बारह वर्षों तक अत्यन्त गरीबी का जीवन जीता रहा। एक दिन उसे ज्ञात हुआ कि राजा ब्रह्मदत्त अपने राज्याभिषेक का बारहवां वार्षिकोत्सव मना रहे हैं। वह येन केन प्रकारेण राजा से मिलने को उत्सुक हुआ। उपाय सोचकर वह ध्वजवाहकों के साथ मिल गया। वे ध्वजवाहक राजा के पास जा रहे थे। राजा ने कार्पटिक को देखते ही पहचान लिया और उसे अपना परम रक्षक मानकर कुछ मांगने के लिए कहा। कार्पटिक कुछ सोचकर बोला—राजन्! मैं प्रथम दिन राजमहल में भोजन ग्रहण करूं, फिर बारी-बारी से समस्त राज्य के एक-एक कुल में भोजन कर पुनः आपके राजमहल में भोजन को प्राप्त करूं, यही मेरी मांग है। आप मुझे वरदान देकर कृतार्थ करें। राजा को उसकी इस तुच्छ अभ्यर्थना और तुच्छ बुद्धि पर तरस आया। उसने कार्पटिक को पुनः सोचने के लिए कहा—कार्पटिक ! अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। तुम बहुत कुछ मांग सकते हो। तुम चाहो तो मैं तुम्हें गांव दे सकता हूं, नगर दे सकता हूं, धन-मकान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दे सकता हूं। मैं तुम्हें ऐसा बना सकता हूं कि तुम जीवनभर हाथी के हौदे पर घूमते रहो, जिन्दगीभर ऐश्वर्य और विलासिता को भोगते रहो।

कार्पटिक अपनी एक ही मांग पर अडिग रहा। वह और अधिक कुछ नहीं मांगना चाहता था। राजा ने उसके कथनानुसार 'तथास्तु' कहकर वही वरदान दे दिया। कार्पटिक सेवक ने प्रथम दिन का भोजन राजमहल में ग्रहण किया। वह भोजन अत्यन्त स्वादिष्ट, सरस, तृप्तिदायक और मनोज्ञ था। भोजन कर वह पूर्णतः सन्तुष्ट और तृप्त हो गया। उसके बाद वह बारी-बारी से नगर के दूसरे घरों में भोजन करने लगा। दूसरे घरों का भोजन उसे उतना रुचिकर, स्वादिष्ट और मनोज्ञ नहीं लगा जितना कि राजमहल का। प्रथम दिन के भोजन की तुलना में वे सभी भोजन फीके-फीके और स्वादहीन थे। अब वह उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा कि कब वह राजा के यहां पुनः भोजन करे और कब उसे वैसा स्वादिष्ट, सुरुचिपूर्ण भोजन मिले। अवसर हाथ से निकल चुका था, फिर राज्य में अनेक कुलकोटियों का अन्त आना भी संभव नहीं था।

जिस प्रकार सारा जीवन बीत जाने पर भी पुनः राजप्रासाद का भोजन मिलना दुष्कर है वैसे ही मनुष्यजीवन को खोने पर उसका पुनः मिलना दुष्कर है।

२. पाशक

पाटलिपुत्र नाम का नगर था। वहां नन्दराजा राज्य करता था। उसी नगर में एक ब्राह्मण भी रहता था। उसके घर एक बालक ने जन्म लिया। वह 'चाणक्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह बड़ा हुआ।

एक बार मार्ग में जाते समय वह किसी वृद्धा के घर ठहरा हुआ था। वृद्धा ने उसका आतिथ्य-सत्कार करते हुए उसे गर्मागर्म खिचड़ी परोसी। चाणक्य ने जल्दबाजी में उसे खाने के लिए बीच में हाथ डाल दिया। हाथ जल गया। वृद्धा को उसकी मूर्खता पर हंसी आ गई। उस युवक को टोकते हुए वह वृद्धा बोली—युवक! लगता है कि तू भी चाणक्य जैसा मूर्ख है। अपना नाम सुनकर चाणक्य कुछ चौंका। फिर संभलते हुए बोला—मां! वह कैसे? वृद्धा ने कहा—जैसे चाणक्य छोटे-छोटे गांवों को बिना जीते सीधा राजधानी पाटलिपुत्र पर आक्रमण करता है वैसे ही तू भी आस-पास की खिचड़ी को ठंडा किये बिना सीधा ही बीच में हाथ डालता है। हाथ नहीं जलेगा तो क्या होगा? चाणक्य को इस घटना से एक बोधपाठ मिल गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालान्तर में उसने छोटे-छोटे गांवों को जीतकर पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया और नन्दवंश को उखाड़कर चन्द्रगुप्त को उसका राज्य सौंप दिया। वह स्वयं उसका मंत्री बन गया।

एक बार राजकोष में धन की कमी हो गई। चाणक्य ने युक्ति के द्वारा स्वर्ण अर्जित करना चाहा। उसने जुए का एक प्रकार निकाला और यंत्रमय पाशकों का निर्माण किया। उसने एक शिक्षित और दक्ष पुरुष को स्वर्णदीनारों से भरा थाल सौंपकर कहा—तुम सारे नगर में यह घोषणा करा दो कि जो मुझे इस जुए में जीतेगा उसे मैं स्वर्णदीनारों से भरा यह थाल दे दूंगा। यदि वह मुझे नहीं जीत सका तो उसे एक दीनार देनी होगी। अनेक लोगों ने अपने भाग्य को अजमाया, पर यंत्रमय पाशक होने के कारण कोई उसे जीत नहीं सका। क्योंकि उसकी इच्छा के अनुसार ही पाशे पड़ते थे। इस प्रकार उसने अनेक स्वर्णदीनारों को अर्जित कर लिया।

जिस प्रकार हारी हुई स्वर्णदीनारों को प्राप्त करना दुष्कर है वैसे ही मनुष्यजन्म को खोकर पुनः उसे प्राप्त करना दुर्लभ है।

३. धान्य

किसी व्यक्ति ने विविध प्रकार के धान्यों का मिश्रण कर ढेर लगा दिया। फिर उसमें एक प्रस्थ सरसों के दाने मिला दिए। वे दाने इस प्रकार मिलाए गए कि कोई एक दाना भी न देख सके। एक वृद्धा उस ढेर में से उन सरसों के दानों को बीनने बैठी। पर वह उन दानों को उससे अलग नहीं कर सकी।

जिस प्रकार धान्य के ढेर में से सरसों के दानों को अलग करना दुष्कर है वैसे ही मनुष्यजन्म को पुनः प्राप्त करना दुष्कर है।

४. द्यूत

एक राजा था। उसकी राजसभा का मंडप एक सौ आठ स्तम्भों पर आधारित था। एक-एक स्तम्भ में एक सौ आठ कोने थे। राजकुमार का मन राज्यलिप्सा में आसक्त हो गया। उसने सोचा—राजा वृद्ध हैं, अतः राजा को मारकर मुझे राज्य पर अधिकार कर लेना चाहिए। अमात्य को इस रहस्य का पता लग गया। उसने राजा को सारी घटना से अवगत करा दिया। राजा ने पुत्र को बुलाकर कहा—वत्स! अपने वंश की परम्परा है कि जो राज्यप्राप्ति के अनुक्रम को सहन नहीं करता अर्थात् राज्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले प्राप्त करना चाहता है तो उसे जुआ खेलना होता है। जो जुए में जीत जाता है उसे राज्य मिल जाता है। राजकुमार ने पूछा—जुआ किस प्रकार जीता जा सकता है? तब राजा ने कहा—एक दांव तुम्हारा होगा शेष दांव हमारे होंगे। यदि तुम एक दांव से एक सौ आठ स्तम्भों के एक-एक कोने को एक सौ आठ बार जीत लोगे तो तुम्हें यह राज्य सौंप दिया जाएगा।

जैसे उस राज्य को प्राप्त करना दुर्लभ है वैसे ही मनुष्यजन्म को पाना भी दुर्लभ है।

५. रत्न

एक नगर में एक वृद्ध वणिक् रहता था। उसके पास अनेक रत्न थे। उसी नगर में अन्य वणिक् भी रहते थे। वे कोटिपति थे। वे उत्सव के समय अपने-अपने घर पर ध्वजा फहराते थे। किन्तु उस वृद्ध वणिक् ने कोटिपति होते हुए भी अपने घर पर ध्वजा नहीं फहराई।

एक बार वृद्ध किसी कार्यवश परदेश चला गया। पीछे से पुत्रों ने सारे रत्न व्यापारियों को बेच दिए। उन व्यापारियों ने सोचा—हम भी दूसरे-दूसरे वणिकों की तरह अपने-अपने घर पर ध्वजा फहरायेंगे। वृद्ध पिता परदेश से लौटा। उसने रत्नों को बेचने की बात सुनी। उसने पुत्रों को उलाहना दिया और बेचे हुए रत्नों को वापिस लाने को कहा। पुत्र इधर-उधर गए। रत्नों को लाने का प्रयास भी किया, पर वे अपने कार्य में सफल नहीं हो सके। क्योंकि व्यापारी उन रत्नों को खरीदकर सुदूर देशों में प्रस्थान कर चुके थे। वहां तक पुत्रों का पहुंचना और वहां से पुनः रत्नों का इकट्ठा करना संभव नहीं था।

जिस प्रकार रत्नों का पुनः मिलना दुर्लभ है वैसे ही मनुष्यजन्म का का पुनः प्राप्त होना भी दुर्लभ है।

६. स्वप्न

एक कार्पटिक ने रात्रि में स्वप्न देखा कि उसने पूर्ण चन्द्रमा को निगल लिया है। उसने अपने स्वप्न की बात अन्य कार्पटिकों से कही। प्रत्युत्तर में उनके साथियों ने कहा—इस स्वप्न के आधार पर लगता है कि तुम्हें सम्पूर्ण चन्द्रमंडल के समान रोटी मिलेगी। वह उसे मिल गई। दूसरे कार्पटिक ने भी वैसा ही स्वप्न देखा। वह उसका फल जानने के लिए स्नानादि से निवृत्त होकर तथा हाथ में पुष्प-फलादि लेकर स्वप्न-पाठक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पास पहुंचा और अपने स्वप्न की बात कही। स्वप्नपाठक ने कहा—तुम राजा बनोगे।

उधर सातवें दिन नगर का राजा मर गया। उसके कोई पुत्र नहीं था। मंत्री ने राजा का चुनाव करने के लिए एक अश्व को सज्जित कर, उसकी पूजा कर नगर में छोड़ दिया। वह शोकाकुल कार्पटिक बगीचे में एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। अचानक घोड़ा उसी के पास आकर रुका। वह हिनहिनाया और उसकी प्रदक्षिणा की। पीछे आने वाले राजपुरुषों ने यह देखा। लोगों ने उसकी जय-जयकार की और कहा—आज से आप हमारे स्वामी हैं। वे उसे घोड़े पर बिठाकर राजसभा में ले गए। उसे राजपद से अलंकृत कर दिया गया।

राजा बनने की बात रोटी पाने वाले कार्पटिक ने भी सुनी। उसने सोचा—मैंने भी तो ऐसा ही स्वप्न देखा था। स्वप्नपाठक के कथनानुसार वह राजा बन गया और मुझे रोटी ही नसीब हुई। अब मैं वहां जाऊं जहां गोरस मिलता हो। यदि मैं गोरस का पान कर शयन करूंगा तो संभवतः मुझे भी वैसा ही स्वप्न आ जाएगा। यह सोचकर वह दूध पीकर सो गया। सारी रात व्यतीत हो गई, किन्तु वह वैसा स्वप्न नहीं देख सका।

जैसे पुनः उस स्वप्न को देखना दुर्लभ है वैसे ही एक बार मनुष्यजन्म खोकर पुनः उसे पाना दुर्लभ है।

७. चक्र

एक नगर था। उसका नाम था इन्द्रपुर। वहां का राजा इन्द्रदत्त था। उसके बाईस पुत्र थे। वे सभी राजा को प्राणों से प्यारे थे। मंत्री की एक पुत्री भी राजा की रानी थी। राजा ने विवाह के समय ही उसे देखा था। एक दिन वह राजा के पास ही खड़ी थी। राजा ने अपने सेवकों से पूछा—यह कौन है? सेवकों ने कहा—राजन् । यह आपकी पत्नी है। उस समय वह ऋतुस्नाता थी। राजा ने एक रात उसके साथ बिताई। वह गर्भवती हुई। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा गया। राजा के बाईस पुत्र और सुरेन्द्रदत्त कलाचार्य के पास विद्याध्ययन करने लगे। सुरेन्द्रदत्त विनय, गुरु को बहुमान देने वाला तथा एकाग्रचित्त आदि गुणों से संपन्न था। उन गुणों के कारण उसने गुरु से लेखादिक गणित-प्रधान विद्याओं का अर्जन कर लिया। अन्य बाईस पुत्र अपनी उद्दण्डता और अविनय के कारण उन विद्याओं को नहीं ले सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस समय जितशत्रु राजा मथुरा नगरी का अधिपति था। उसकी एक पुत्री थी। उसका नाम था निर्वृत्ति। जब वह विवाह के योग्य हुई तब राजा ने कन्या से पूछा—तुम्हें कैसा पति पसंद है? कन्या ने कहा—जो पुरुष शूरवीर और पराक्रमी होगा वही मेरा पति होगा। राजा ने कहा अच्छा है, मैं तुम्हारे होने वाले पति को राज्य भी दूंगा।

निर्वृत्ति ने सुन रखा था कि इन्द्रदत्त राजा के बाईस पुत्र हैं। उसने मन ही मन सोचा—मेरी शर्त के अनुसार उनमें से जो भी युवक मुझे पसन्द आएगा उससे मैं विवाह कर लूंगी। इसलिए वह कन्या सैन्यबल और वाहनबल के साथ इन्द्रपुर नगर में चली गई। इन्द्रदत्त राजा ने भी सोचा—मैं निश्चय ही अन्य राजाओं से भाग्यशाली हूं। यह कन्या स्वयं यहां चल कर आई है। यह सोचकर उसने सारे नगर को ऊंची पताकाओं से सजाया। वहां एक रंगमंडप तैयार किया गया। उसमें आठ आरे वाले आठ चक्र थे। उन पर एक-एक पुतली का निर्माण कराया गया। सारे शहर में घोषणा करा दी गई कि जो भी राजकुमार तैलपात्र में पड़ने वाले पुतली की आंख के प्रतिबिम्ब को देखकर उसकी आंख को बींधेगा वही राजकुमारी निर्वृत्ति से पाणिग्रहण कर सकेगा।

राजा इन्द्रदत्त अपने पुत्रों के साथ सन्नद्ध होकर रंगमंडप पहुंचकर निर्धारित स्थान पर बैठ चुके थे। मंत्री के दौहित्र सुरेन्द्रदत्त ने भी रंगमंडप में आकर अपने स्थान को ग्रहण कर लिया। राजकुमारी निर्वृत्ति भी वस्त्र-अलंकारों से अलंकृत होकर राजा के पार्श्व में बैठी हुई थी। अमात्य, सभासद्, नगर के गणमान्य हजारों दर्शक, कन्या के पिता राजा जितशत्रु तथा उसके मंत्री तथा अन्य पार्षद भी उस रंगमंडप को सुशोभित कर रहे थे। सबके मन में एक ही जिज्ञासा और उत्सुकता थी कि कौन भाग्यशाली इस प्रतियोगिता में विजित होकर इस कन्या का वरण करेगा? जब सभा पूर्णतः भर गई तब राजा इन्द्रदत्त ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीमाली से कहा—पुत्र! तुम्हें इस कन्या का वरण और राज्य का ग्रहण करना है, इसलिए तुम इस पुतली का वेधन करो। पुत्र को धनुर्विद्या का अभ्यास नहीं था। वह धनुष्य को ग्रहण करने में भी असमर्थ था। फिर भी उसने जैसे-तैसे धनुष्य को हाथ में लिया। बाण कहीं भी जाए, ऐसा सोचकर उसने धनुष्य से बाण को छोड़ा। वह बाण चक्र में आकर टूट गया। जब दूसरे पुत्र की बारी आई तो उसने भी बाण छोड़ा। उस बाण से केवल एक ही चक्र का भेदन हुआ। इस प्रकार क्रमशः अन्य सभी पुत्रों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने भी अपने-अपने भाग्य को अजमाया। उनमें से किसी-किसी पुत्र के बाणों ने दो चक्रों का भेदन किया। अन्यान्य पुत्रों के बाण तो चक्र से बाहर ही निकल गए। इस प्रकार बाईस ही पुत्र पुतली की आंख को बींधने में असफल रहे। यह देखकर राजा ने दुःख और लज्जा का अनुभव किया, पर क्या किया जा सकता था? अन्त में अमात्य ने सुरेन्द्रदत्त की ओर संकेत करते हुए राजा से कहा—महाराजन्! आप यह न समझें कि यह पृथ्वी शूरवीरों से विहीन हो गई है। आप इस राजकुमार को भी आज्ञा दें। यह निश्चित ही आठ चक्रों का भेदन कर पुतली की आंख को भी बींध सकेगा। राजा की आज्ञा पाकर राजकुमार सुरेन्द्रदत्त यथास्थान स्थित हो गया। उसने धनुष्य को ग्रहण किया। उसके दोनों ओर दो व्यक्ति नंगी तलवार लेकर खड़े थे और वे बार-बार सूचना दे रहे थे कि लक्ष्य चूक जाने पर उसका सिर काट दिया जाएगा। पास में ही कलाचार्य भी खड़े थे। वे भी बार-बार अपने शिष्य को लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होने की चेतावनी दे रहे थे। वे बाईस राजकुमार भी लक्ष्य में विघ्न डालने का प्रयत्न कर रहे थे। पर राजकुमार बड़ा ही सजग था। उसने सब बाधाओं को पार कर दत्तचित्त होकर पुतली की बाईं आंख को बाण से बींध डाला। लोगों ने जय-जयकार कर हर्षनाद किया। उसका निर्वृत्ति के साथ पाणिग्रहण हो गया और साथ-साथ राजा के द्वारा दिया गया उपहारस्वरूप राज्य भी उसे मिल गया। शेष राजकुमार पराजित होकर अपने-अपने देश चले गए।

जिस प्रकार चक्र को भेदकर पुतली की आंख को बींधना दुर्लभ है वैसे ही चौरासी लाख जीवयोनियों को भेदकर मनुष्यजन्म पाना भी दुर्लभ है।

८. चर्म

एक तालाब था। वह अतिविशाल और पानी से सदा लबालब भरा रहता था। पूरे तालाब पर शैवाल छाई हुई थी। एक कछुआ उसमें रहता था। एक बार उसने पानी में तैरते-तैरते एक स्थान पर शैवाल में छिद्र देखा। उसने छिद्र में से अपनी ग्रीवा निकालकर ऊपर की ओर देखा। निरभ्र आकाश में चांद चमक रहा था। दीप्तिमान् तारे आकाश में टिमटिमा रहे थे। चांदनी की ज्योत्स्ना पृथ्वी पर फैली हुई थी। उसके प्रकाश में पेड़-पौधे दिखाई दे रहे थे। उसने ऐसा मनभावन दृश्य उससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्व कभी नहीं देखा था। वह कुछ क्षणों तक अपलक नेत्रों से उस मनोहारी दृश्य को देखता रहा। फिर उसने सोचा–काश ! कितना अच्छा होता कि मेरा सारा परिवार भी इस सुन्दर दृश्य को देख पाता। यह सोचकर वह अपने स्वजनों को बुलाने के लिए पानी में चला गया। इतने में ही वायु का एक झोंका आया। पुनः छिद्र पर शैवाल का आवरण आ गया। जब वह परिवारसहित वहां आया तो उसे वह छिद्र नहीं मिला। वह छिद्र शैवाल से आच्छन्न हो चुका था। सभी सदस्य उस मनोहारी दृश्य को देखने से वंचित रह गए।

जिस प्रकार छिद्र का पुनः मिलना दुर्लभ है वैसे ही खोए हुए मनुष्य-जन्म का भी पुनः मिलना दुर्लभ है।

९. युग (जुआ)

एक अथाह समुद्र है। उसके पूर्वभाग में युग–जुआ है और पश्चिम-भाग में समिला–उसकी कील है। युग के छिद्र में कील का प्रविष्ट होना जैसे दुर्लभ है वैसे ही मनुष्यजन्म का मिलना भी दुर्लभ है। यदि कदाचित् कील प्रचण्डवायु की लहरों से प्रेरित होकर सागर में बहते-बहते जुए के छिद्र में प्रविष्ट हो भी जाए तो भी मनुष्यजन्म खोने के पश्चात् पुनः उसका मिलना अतिदुर्लभ है।

१०. परमाणु

एक विशाल स्तम्भ है। एक देव ने उस स्तम्भ को चूर-चूर कर उसका अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण बना दिया। फिर वह उसे एक नलिका में डालकर उसे मंदराचल पर्वत पर ले गया। वहां उसने पर्वत-शिखर से नलिका में फूंक मारकर सारे चूर्ण को नीचे गिरा दिया। क्या कोई व्यक्ति उन बिखरे हुए परमाणुओं को एकत्रित कर पुनः स्तंभ का निर्माण कर सकता है?

जैसे उस स्तंभ का निर्माण करना अत्यन्त दुष्कर है वैसे ही मनुष्यजन्म का पुनः मिलना भी अतिदुष्कर है।

४. मनुष्यजन्म : चिन्तामणि रत्न

प्रातःकाल का सुहावना मौसम। गर्मी का दिन। ठंडा-ठंडा बहता पवन। एक दरिद्र व्यक्ति नदी के किनारे घूम रहा था। वह नदी न तो पूर्णतः पानी से पूरित थी और न पूर्णतः सूखी। उसकी चर में कहीं पानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था तो कहीं वह सूखी थी। दरिद्र व्यक्ति घूमते-घूमते थक गया। वह नदी में एक स्थान पर विश्राम लेने के लिए बैठ गया। उसका मस्तिष्क किसी कल्पना की उधेड़बुन में लगा हुआ था, हाथ की अंगुलियां नदी की मिट्टी को कुरेद रही थी। अचानक कुरेदते-कुरेदते उसके हाथ में एक चमकीला पत्थर आ गया। उसने उसे अपनी अंटी में रख लिया और सोचा कि यह मेरे बच्चों के देखने और खेलने के काम आ जाएगा।

समय काफी हो चुका था। चारों ओर की हरीतिमा और ठंडी ठंडी हवा उसे सोने के लिए बाध्य कर रही थी। अत्यधिक भूख के कारण भी वह आकुल-व्याकुल बना हुआ था। मन ही मन उसने सोचा—क्या ही अच्छा हो कि मुझे खीर-पूरी का भोजन मिल जाए? केवल सोचने भर की देर थी कि अगले ही क्षण उसके सामने खीर से भरा कटोरा और पूरियों से भरा थाल सामने आ गया। वह आश्चर्य में डूब गया कि यह कोई सपना है अथवा यथार्थ है। वास्तविकता को नकारा भी कैसे जा सकता था? उसने जी भरकर उस मनोनुकूल भोजन को खाया और खाकर तृप्त हो गया। उसके बाद आलस्य ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ किया। सोने की इच्छा होने लगी। मन में चिन्तन किया कि यदि सोने के लिए बिस्तर लगा हुआ पलंग मिल जाए तो वह एक दो घंटा नींद ले ले। चिन्तन के साथ ही पलंग भी तैयार मिल गया। कुछ ही देर में सूर्य की तीक्ष्ण किरणें उसको सताने लगीं। उसे छाया की जरूरत हुई। उसने मन में संकल्प किया कि यदि किसी मकान का आश्रय मिल जाए तो सोने में सुहागा हो जाए। संकल्पित होते ही उसे वैसा मकान भी उपलब्ध हो गया।

उस दरिद्र ने जो-जो चाहा वे सभी इच्छाएं पूर्ण होती गईं। उसने इसे भगवान की कृपा का ही प्रसाद माना। वह मन ही मन प्रसन्न बना हुआ अपने सौभाग्य की सराहना कर रहा था। अब वह निश्चिन्तमना होकर सोने की तैयारी करने लगा। आंखों में नींद थी तो पलकों में ऊंघ। शनैः शनैः निद्रादेवी उसे अपने अधीन कर रही थी। सुख की नींद वही होती है जिसमें कोई व्यवधान न हो, जिसमें कोई भार या तनाव न हो।

दरिद्र की आंखें मुंदी ही थी कि एक कौवा मकान के छज्जे पर बैठ गया और कांव-कांव करने लगा। उसने कौवे को उड़ाने का बार-बार प्रयास किया, पर वह उड़ता ही नहीं था। दरिद्र ने सोचा—मेरी नींद को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हराम करने वाला यह हरामी कौवा कहां से आ धमका? यह उड़ाने पर भी नहीं उड़ता। इसे अब मैं मजा चखाता हूं। इस सोच के साथ ही उसने अंटी से उस पत्थर को निकाला और जोर से कौवे पर प्रहार करने के लिए उसे फेंक दिया। कौवा तो उड़ा ही उसके साथ उसका समूचा ऐश्वर्य भी लुप्त हो गया। इन्द्रजाल अथवा स्वप्नमाया की तरह वह मूल स्थिति में आ गया। अब उसके पास न तो मकान था और न सोने के लिए पलंग। वह नदी की चर में बैठा-बैठा अपने आपको ठगा-ठगा-सा अनुभव कर रहा था। यह सारा प्रभाव उस चिन्तामणि रत्न का था। उसे केवल पत्थर मानने पर और उसका मूल्य न जानने के कारण उसने प्रमाद के वशीभूत होकर उसको फेंक दिया।

मनुष्यजन्म चिन्तामणि रत्न के समान है। जो उसे व्यर्थ गंवाता है, उसे सार्थक नहीं करता वह प्रमादी व्यक्ति भी उसी की तुलना में आता है।

५. गुरु का महत्त्व

राजसभा की कार्यवाही चल रही थी। महाराज श्रेणिक उच्च सिंहासन पर विराजित थे। अनेक सामन्त, दण्डनायक, सभासद् तथा नगर के गणमान्य व्यक्ति अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर आसीन थे। राजा श्रेणिक के परिपार्श्व में अमात्य अभयकुमार तथा कुछ अन्य सलाहकार भी बैठे हुए थे।

वनपालक ने मुख्यद्वार से प्रविष्ट होते हुए सभा में प्रवेश किया। वह महाराज श्रेणिक के चरणों को छूता हुआ उपस्थित सभी सभासीन सदस्यों को प्रणाम कर एक ओर खड़ा हो गया। वह कुछ कहना चाहता था, किन्तु कार्यवाही चलने के कारण वह कुछ कह नहीं सका। कुछ क्षणों तक वह मौन होकर उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहा था, जब वह कुछ कह सके। अन्त में सभा की कार्यवाही संपन्न हुई। महाराज श्रेणिक ने वनपालक की ओर देखते हुए पूछा—वनपालक! कहो, असमय में कैसे आना हुआ?

महाराज! निवेदन करने के लिए भी कोई असमय होता है। जब कोई आवश्यक निवेदन करना होता है तब उसके लिए समय की कोई पाबन्दी नहीं होती। वह असमय भी समय ही होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो?

राजन् ! आप जानते ही हैं कि नगर के बाहर सम्राट का एक विशाल उद्यान है। महाराजश्री ! आप स्वयं कई बार वहां घूमने के लिए आते हैं। वह उद्यान अत्यन्त रमणीय और मन को अत्यधिक आकृष्ट करने वाला है। उसमें विविध फल देने वाले नाना प्रकार के वृक्ष हैं। वहां कुछ वृक्ष आम के भी हैं। वे बारह महीने ही फल देते हैं। इन दिनों वे दुर्लभ आम उद्यान से चुराए जा रहे हैं। कौन व्यक्ति वहां आता है, कहां से आता है, वह आमों को कैसे चुराता है, कुछ ज्ञात नहीं है। क्योंकि उद्यान के चारों ओर सुरक्षा का घेरा है, चौबीस घंटे का कड़ा पहरा है। किसी के भीतर आने का भी कोई प्रश्न नहीं उठता, फिर भी आमों का चुराया जाना एक रहस्यमय पहेली बना हुआ है। यदि समय से पहले इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो संभवतः सारा बाग उजड़ जायेगा।

तत्काल राजा ने अमात्य अभयकुमार की ओर अभिमुख होकर निर्देश देते हुए कहा—कुमार! अब इस समस्या को सुलझाना तुम्हारा दायित्व है। तुम शीघ्रातिशीघ्र सारी स्थिति का आकलन करो, जांच-पड़ताल करो कि उद्यान से आम गायब क्यों हो रहे हैं?

अभयकुमार बहुत बुद्धिमान् था। उसने दूसरे ही दिन अपनी बुद्धिमत्ता का जाल चारों ओर फैला दिया। वह बड़ी सजगता से सारी स्थिति का निरीक्षण करने लगा, बाग में होने वाली प्रत्येक हलचल को निरन्तर पढ़ने लगा। अन्ततः उसे आम तोड़ने वाले व्यक्ति का पता लग गया। वह आरक्षी पुरुषों के द्वारा पकड़ा गया। वह चोरी करने वाला व्यक्ति था—हरिकेश चांडाल।

चांडाल को राजा के सामने प्रस्तुत किया गया। राजा ने भृकुटी तानते हुए पूछा—क्या तुमने आम चुराए हैं?

नहीं, महाराज! मैंने नहीं चुराए?

एक ओर चोरी का अपराध और फिर झूठ, राजा ने उसे दुत्कारते हुए कहा। तो फिर तुमने क्या किया? राजन् ! मैंने तो आम तोड़े थे, चुराए नहीं।

क्या भीतर जाकर?

नहीं, मैं तो भीतर गया ही नहीं।

तो फिर कहां से तोड़े?

मैंने बाहर खड़े-खड़े ही आम तोड़े थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या तुम्हें आम खाने का इतना अधिक शौक है?

नहीं, महाराज! मुझे आम खाने का शौक नहीं है। अपनी घरेलू समस्या के निवारण के लिए मुझे परवशतावश आम तोड़ने पड़े।

तुम्हारी क्या परवशता और समस्या है, राजा ने पूछा।

महाराज! मेरी पत्नी के गर्भकाल चल रहा है। उसे आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ है। उस दोहद के पूरा न होने कारण वह कृशकाय होती चली गई। एक दिन उसने अपने दोहद की बात मेरे सामने रखी, आम खाने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्पष्ट कह दिया कि एक तो आजकल आम का मौसम नहीं है, फिर हम चांडाल हैं, हमारी आर्थिक स्थिति भी उतनी मजबूत नहीं है कि मैं कहीं से आम मंगाकर तुम्हें खिला सकूं। इस स्थिति में मेरे सामने एक दुविधा थी कि मैं आम लाऊं तो कहां से लाऊं? दूसरी ओर दोहद की पूर्ति करना भी अत्यन्त अनिवार्य था। आखिर खोज और चिन्तन करते-करते मुझे ज्ञात हुआ कि नगर के बाहर आपश्री का सुन्दर बगीचा है। वहां अन्यान्य वृक्षों के अतिरिक्त आम के भी काफी पेड़ हैं। वे बारह महीने फल देते हैं। पर आमों को लेने के लिए भीतर जाना खतरे से खाली नहीं था। इतने प्रहरी और इतना कड़ा पहरा देखकर मेरे पैर वहीं ठिठुर गये, मन में भय व्याप्त हो गया। मैंने युक्तिपूर्ण उपाय काम में लिया। मेरे पास दो विद्याएं हैं—उन्नामिनी और अवनामिनी। मैंने अवनामिनी विद्या के द्वारा बाहर खड़े-खड़े ही डालियों को अपनी ओर झुका लिया। उनसे आमों को तोड़कर पुनः उन्नामिनी विद्या के द्वारा नीचे आई हुई उन शाखाओं को ऊपर कर दिया।

आमों को पाकर मेरी पत्नी अत्यन्त प्रसन्न और तृप्त हो गई। उसका दोहद सरलता से पूरा हो गया। उसको आम खाने का चस्का लग गया। उसके आग्रह को मानकर मैं दूसरे, तीसरे और चौथे दिन भी उसी युक्ति से आमों को तोड़कर घर लाया और पत्नी को दिए।

अरे! फिर तो तुम चोर नहीं, विस्मयकारी चोर हो। जिसके पास ऐसी विद्याएं हो, उसे विस्मयकारी चोर कहना ही सार्थक होगा।

तुम्हें पता है कि चोरी के अपराध का क्या दंड होता है?

नहीं, महाराज मैं नहीं जानता।

उसका दंड फांसी की सजा है।

क्या उससे बचने का कोई उपाय है?

यदि तुम दोनों विद्याओं को मुझे सीखा दो तो मैं तुम्हें सजा से मुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सकता हूं। हरिकेश चांडाल ने राजा को विद्या सीखाने का प्रण स्वीकार कर लिया। शुभ समय और शुभ दिन में मंत्र-विद्या का प्रारंभ हुआ। राजा उच्च आसन पर आसीन था, विद्या सीखाने वाला चाण्डाल नीचे बैठा था। हरिकेश ने राजा को विद्याएं सीखानी शुरू की।

मंत्र-विद्या को सीखने के लिए राजा ने एक बार नहीं, दो बार नहीं, चार बार नहीं, अनेक बार विद्या का अभ्यास किया। फिर भी वह विद्याओं को पकड़ नहीं सका। इस प्रकार विद्या-अभ्यास करते-करते कुछ दिन बीत गए। राजा का मन व्यथित हो उठा। उसने सोचा—क्या मैं विद्याओं से सर्वथा वंचित रहूंगा अथवा मेरे में अज्ञान का पर्दा इतना अधिक सघन है, जिसके कारण ज्ञान का प्रकाश भीतर तक नहीं पहुंच रहा है। राजा ने अपनी समस्या को अभयकुमार के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा–कुमार ! एक चांडाल इस प्रकार की विद्या को ग्रहण कर सकता है और मुझे यह विद्या नहीं आ रही है, इसका क्या कारण है? अभयकुमार ने राजा को समाधान देते हुए कहा—महाराजन् ! विद्याप्रदाता का स्थान हमेशा ऊंचा होता है। वह एक प्रकार से विद्या गुरु होता है। आप हरिकेश को चांडाल मानकर उसे तुच्छ मान रहे हैं और उसी तुच्छता के कारण आप उसे नीचे बिठा रहे हैं। नीतिकार कहते हैं– **'एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नैव मन्यते'**। जो व्यक्ति अक्षरमात्र ज्ञान देने वाला होता है उसे भी गुरुरूप में मानना चाहिए। वही व्यक्ति उसको गुरु मान सकता है जो अपने अहं का विसर्जन करता है, जीवन में विनय को स्थान देता है।

राजा को अपनी भूल का अहसास और विद्या के ग्रहण न होने का रहस्य ज्ञात हुआ। वह तुरन्त सिंहासन से नीचे उतरा और नीचे बैठ गया। उसने चांडाल को अपना विद्या गुरु मानकर उसे ऊंचे आसन पर बिठाया और विनयपूर्वक पुनः विद्या का अभ्यास करने लगा। कुछ ही दिनों में राजा ने उन दोनों विद्याओं को सिद्ध कर लिया।

६. गुरु लोभी चेलो लालची

नगर का बाह्य भूभाग। प्राकृतिक सुषमा को बिखेरता हुआ वहां का मनोहारी दृश्य। उस मनोरम वनसंपदा से सुरम्य बना हुआ वहां स्थित आश्रम। उस आश्रम में एक संन्यासी बाबा रहते थे। नगर के लोग उन्हें गुरुजी के नाम से पुकारते थे। एकाकी रहते हुए भी वे सदा भीड़ से घिरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते थे। प्रतिदिन उनके पास अनेक लोग सत्संग करने के लिए आते थे। बाबाजी को रामायण-महाभारत आदि के अनेक घटना-प्रसंग, कहानियां, दोहे, चौपाइयां तथा भजन आदि कंठस्थ थे। वे कथावाचन में उनका प्रयोग कर लोगों को खुश कर देते थे और दान-दक्षिणा में रुपयों-पैसों की भी भेंट ले लेते थे। प्रायः लोग अपने घर से प्रतिदिन दोनों समय का भोजन भी भेज देते थे। इसलिए न उन्हें रसोई बनाने का श्रम था और न आश्रम की साफ-सफाई करने का। भक्तलोग ही भक्तिभावना से प्रेरित होकर सब काम संपादित करते थे। एक तरह से बाबाजी का जीवन निश्चिन्त और सुखी जीवन था।

घर-परिवार छोड़ने पर भी बाबाजी के मन में लोभ की पराकाष्ठा थी। लोभ के वशीभूत होकर वे हमेशा अधिक से अधिक धन का संग्रह करना चाहते थे। साधना तो केवल दिखावा मात्र थी। वे सदा ऐसे धनी व्यक्तियों की ताक में रहते थे जो दिल खोलकर दान-दक्षिणा के रूप में उनकी झोली भर सकें। बाहर से भी अनेक यात्री गुरुदर्शनों के लिए आते थे। वे भी जाते समय अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कुछ न कुछ भेंट अवश्य करते थे। इस प्रकार कुछ ही दिनों में बाबाजी के पास काफी धन संचित हो गया। वे प्रतिदिन रुपयों की गिनती कर मिलान करते रहते कि मुझे आज कितनी आय हुई है?

भगवान महावीर कहते हैं कि जब-जब मनुष्य को लाभ होता है तो मन में लोभ का ज्वार भी उछाले मारता है। उसकी तृष्णा आकाश के समान विशाल हो जाती है। बाबाजी भी लोभ से आक्रान्त बने हुए थे। वे अहर्निश यही सोचते रहते थे कि मेरा धन और ज्यादा कैसे बढे? कब मैं धनपतियों की तुलना में आऊं? वे इसके लिए प्रयास भी काफी करते थे। बहुत कुछ पा लेने पर भी बाबाजी की तृष्णा का अन्त नहीं हो पाया। उन्होंने संचित रुपयों से गिन्नियां खरीद ली। वे उनको एक नौली में डालकर अपनी कमर में बान्धे रखते थे। धन से भय भी उत्पन्न होता है और अविश्वास भी। इसलिए बाबाजी को भय बना रहता था कि कोई मेरी गिन्नियों को चुरा न ले और न उन्हें किसी व्यक्ति पर विश्वास भी था कि जिसको वे गिन्नियां दे सकें। यद्यपि सन्तोष सन्तपुरुषों का परम धन है। साधु के पास धन होना उसके विनाश का हेतु होता है। पर बाबाजी रात-दिन धन पाने के ही स्वप्न संजोते रहते थे। अवस्था ढलने पर वे अपने आप में कुछ वृद्धत्व का भी अनुभव करने लगे। उन्होंने मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही मन सोचा–अच्छा हो यदि मेरे पीछे कोई योग्य शिष्य तैयार हो जाए। वह वृद्धावस्था में मेरी सेवा भी कर सके और पीछे से आश्रम को भी संभाल ले, पर योग्य युवक का मिलना मुश्किल था। बहुत प्रयास करने पर बाबा को एक नवयुवक मिल ही गया। उसकी उम्र लगभग पचीस वर्ष की थी। बाबा ने एक वर्ष तक उसे सम्यक् प्रकार से शिक्षण-प्रशिक्षण देकर तैयार कर लिया और एक दिन शुभ मुहूर्त में उसे शिष्यरूप में मूंड भी लिया।

समय बीतने लगा। शिष्य भी कुछ ही दिनों में आश्रम की गतिविधियों से भलीभांति परिचित हो गया। गुरु तो लोभी थे ही, पर चेला लोभ के मामले में गुरु से भी दो कदम आगे था। चेला कमरे में बैठा रहता, फिर भी वह गुरु की निगरानी करता रहता कि गुरुजी प्रतिदिन क्या-क्या करते हैं? एक दिन शिष्य की दृष्टि गिन्नियां गिनते हुए गुरु पर चली गई। उसने सोचा–अच्छा, गुरु के पास गिन्नियां भी हैं, इसलिए गुरुजी मेरी नजरों को बचाकर हिसाब-किताब करते रहते हैं। यदि गुरुजी भी रुपया-पैसा रखते हैं तो मैं क्यों नहीं रखूं? यह सोचकर शिष्य भी धन की लालसा में फंस गया। लोभ की तरंगों ने उसे धनसंचय करने के लिए बाध्य किया। रुपए ऐंठने की दृष्टि से गुरु किसी धनी-मानी व्यक्ति को पकड़ते थे तो शिष्य रुपया लेने के लिए छोटी-मोटी आसामी को पकड़ता था। इस प्रकार दोनों ओर से रुपया इकट्ठा करने का धन्धा चलने लगा। बहुत परिश्रम करने पर भी शिष्य छोटी रकम को ही अर्जित कर सका। वह गुरु की तुलना कैसे करता? आखिर था तो गुरु से छोटा ही।

जब जीवन में लोभ की चेतना होती है तो उसकी तृष्णा छोटी-मोटी वस्तु को पाकर कभी शान्त नहीं होती, वह और अधिक बढ़ जाती है। शिष्य की लोभ-चेतना में एकाएक एक तूफान आया और वह जैसे-तैसे गुरु की संपत्ति को ही हड़पने के लिए तैयार हो गया। एक दिन उसने एक उपाय खोज निकाला। सारी योजना बनाई और उस योजना की क्रियान्विति के लिए वह गुरुजी के पास पहुंचा। शिष्य के मन में कालिमा थी तो वाणी में मिठास। उसने गुरु को निवेदन करते हुए कहा–गुरुजी! बहुत दिनों से मेरे मन में रह-रहकर आ रहा है कि मैंने अभी तक कोई तीर्थयात्रा नहीं की। संभवतः आपने की होगी। यदि मैं आपके साथ तीर्थयात्रा कर लूं तो मैं अपने साधु जीवन को सफल मानूंगा।

गुरुजी शिष्य की बात को सुनकर कुछ समय के लिए अनमने-से हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गए। क्योंकि उनके मन में लोभ समाया हुआ था। तीर्थयात्रा बिना व्यय के हो नहीं सकती थी। शिष्य भी तत्काल गुरुजी की भावना को भांप गया। गुरुजी कुछ बोलें उससे पूर्व ही शिष्य ने उनको समाहित करते हुए कहा—गुरुजी! आप तीर्थयात्रा के लिए व्यय की चिन्ता न करें। आपके एक भक्त ने उस व्यय की सारी जिम्मेदारी ले ली है। यह सुनते ही गुरुजी भी तत्काल बोल उठे—यदि कोई उसका व्यय उठाता है तो फिर तीर्थयात्रा करने में क्या कठिनाई है? गुरुजी तीर्थयात्रा के लिए राजी हो गए और शिष्य अपनी योजना की क्रियान्विति के लिए।

कुछ दिनों के पश्चात् अच्छा दिन देखकर गुरु और शिष्य दोनों ही तीर्थयात्रा के लिए निकल गए। मार्गगत जितनी व्यवस्थाओं की अपेक्षा थी वे सब यात्रा से पूर्व ही जुटा ली गई। शिष्य के मन में पाप पल रहा था। वह तो इसी ताक में था कि गुरुजी को किसी बहाने धोखा देकर मैं उन्हें किसी भयानक जंगल में छोड़ दूं और स्वयं गुरुजी की गिन्नियों से भरी नौली को लेकर चम्पत हो जाऊं।

बहुत दूर जाने पर एक बीहड़ और डरावना जंगल सामने आ गया। शिष्य ने अपनी योजना साकार करने का वह उपयुक्त स्थान समझा। उसने कुटिलता से बात करते हुए कहा—गुरुजी! यह स्थान चोरों और लुटेरों का है। आपके पास में कोई जोखिम तो नहीं है? गुरुजी कहें तो क्या कहें? उनके पास में गिन्नियों की नौली थी। गुरुजी जरा सहमते हुए बोले—शिष्य! पास में नौली तो है। शिष्य ने कहा—गुरुजी! यदि सामने से कोई लुटेरा आ गया तो वह पहले आपकी ही तलाशी लेगा और आपको ही मारेगा। इसलिए अच्छा है कि आप कुछ समय के लिए यह नौली मुझे दे दें। जंगल पार होने पर यह नौली मैं आपको पुनः लौटा दूंगा। गुरुजी को नौली निकाल कर देना मानो कलेजा निकालने के समान था। पर परिस्थिति व्यक्ति से क्या कुछ नहीं करा देती? गुरुजी ने नहीं चाहते हुए भी परिस्थितिवश कांपते हाथों से वह नौली शिष्य को सौंप दी। शिष्य नौली को पाकर मानो निहाल हो गया। उसकी सारी योजना सफल हो गई। अब उसने गुरुजी को ठिकाने लगाने की बात सोची। चलते-चलते रास्ते में एक बड़ा-सा गड्ढा देखकर शिष्य ने गुरुजी को उसमें धक्का देकर उनका प्राणान्त कर दिया। अब शिष्य सारी पूंजी लेकर मन ही मन प्रसन्न होता हुआ अपने गांव लौट रहा था। रास्ते में उसे भी चोर मिल गए। दस चोरों के सामने उसका वश क्या चल सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था? उन्होंने उसे लूटकर सारी पूंजी अपने अधिकार में कर ली। उधर गुरुजी का प्राणान्त हुआ तो इधर शिष्य सारी पूंजी को हाथ से गंवा बैठा।

यदि गुरु को ऐसा शिष्य मिल जाए और शिष्य को ऐसा गुरु मिल जाए तो दुर्गति के सिवाय क्या हाथ लग सकता है? इसलिए लोभी गुरु और लोभी शिष्य किसी का उद्धार नहीं कर सकते। वे दोनों स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डूबोते हैं। कहा भी है—

'गुरु लोभी चेला लालची, दोनूं खेले दांव।
दोनूं डूबे बापरा, बैठ पत्थर की नांव।'

७. संघशक्ति का निदर्शन

जैन परम्परा में आचार्य भद्रबाहु एक तेजस्वी, यशस्वी और संघ-उन्नायक आचार्य थे। वे श्रुतपरम्परा में पांचवें श्रुतधर और अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुतधर थे। उन्होंने महाप्राण-ध्यान की विशिष्ट साधना की थी।

आचार्य भद्रबाहु को प्राचीन गोत्री कहकर वन्दन किया गया है। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि वह गोत्र ब्राह्मण समाज में प्रचलित था। संभवतः उनका जन्म भी ब्राह्मण परिवार में हुआ। वे श्रुतधर आचार्य यशोभद्र के पास वीर निर्वाण १३९ (वि. पू. ३३१) में दीक्षित हुए। सतरह वर्ष पर्यन्त गुरु-उपासना में रहकर उन्होंने आगमों का गहन अध्ययन किया और अपने आचार्य से पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर एक कीर्तिमान स्थापित किया। आचार्य यशोभद्र के पश्चात् धर्मसंघ का दायित्व सम्भूतविजय ने संभाला। उसके बाद आचार्यपद का दायित्व मुनि भद्रबाहु के कन्धों पर आ गया। सारा धर्मसंघ आचार्य भद्रबाहु जैसे सामर्थ्यवान्, श्रुतसंपन्न, अनुभवसंपन्न व्यक्तित्व को पाकर कृतार्थ और धन्य हो गया।

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी के मध्यकाल में जैनशासन को भयंकर दुष्काल सहना पड़ा। उचित भिक्षा के अभाव में अनेक श्रुतधर मुनि काल-कवलित हो गए। उस समय भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी मुनि चौदह पूर्वों का ज्ञाता नहीं था। तब वे नेपाल की गिरि-कन्दराओं में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ को चिन्ता थी कि आगमनिधि की सुरक्षा रहे। वह ज्ञान गुरु-परम्परा से आगे से आगे बढ़ता रहे। इस चिन्ता से श्रमण संघाटक नेपाल पहुंचा। श्रमणसंघ ने आचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भद्रबाहु को विनतीपूर्वक निवेदन करते हुए कहा—प्रभो! अब आप ही एकमात्र दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं। सकल संघ चाहता है कि आप वहां पाटलिपुत्र पधार कर मुनिजनों को अपनी अमूल्य ज्ञानराशि से लाभान्वित करें। यह सुनकर आचार्य भद्रबाहु चिन्तन में पड़ गए। वे नहीं चाहते थे कि महाप्राण की साधना अधूरी छोड़कर अन्यत्र कहीं जाया जाए। उन्होंने इसे अपनी साधना में बाधा समझते हुए संघ की विनती को अस्वीकार कर दिया और कहा—मेरा आयुष्य कम है। इतने कम समय में मैं दृष्टिवाद की वाचना कैसे दे पाऊंगा? फिर मैंने अपने आपको आत्महितार्थ कार्य में भी नियुक्त कर रखा है, इसलिए मैं वाचना देने में असमर्थ हूं।

वह विशाल संघ भद्रबाहु के मुख से ऐसा उत्तर सुनकर निरुत्साहित हो गया। सबके मन में निराशा छा गई। सारा संघ अन्यमनस्क होकर वापिस लौट आया और उसने शेष संघ को सारा संवाद कह सुनाया। जब संघ के अन्य सदस्यों ने यह समाचार सुना तो उनका मन भी अत्यन्त क्षुब्ध हो गया, क्योंकि संघ में आचार्य भद्रबाहु के सिवाय दृष्टिवाद की वाचना देने वाला कोई नहीं था। पुनः संघ के सदस्यों ने मिलकर चिन्तन किया कि हमें अपनी ओर से सतत प्रयास करते रहना चाहिए। हो सकता है कि आचार्य भद्रबाहु ने एक बार की प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया, किन्तु दूसरी, तीसरी बार प्रार्थना करने पर संभवतः उनका मानस बदल जाए और वे वाचना देने के लिए तैयार हो जाएं।

काफी दिन बीतने पर सारे संघ ने पुनः प्रार्थना हेतु एक संघ भेजने का निर्णय लिया। संघ वहां से रवाना होकर नेपाल की भूमि पर पहुंचा। संघ के सदस्यों ने पुनः अपनी विनती दोहराते हुए आचार्य भद्रबाहु से निवेदन किया—भगवन्! हम संघ के सारे सदस्य मिलजुल कर पुनः अपनी प्रार्थना को लेकर यहां उपस्थित हुए हैं। अब हमारा आपसे एक ही प्रश्न है कि जो संघ की आज्ञा को अस्वीकार करता है उसके लिए किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है।

श्रुतसंपन्न आचार्य भद्रबाहु प्रस्तुत प्रश्न पर शास्त्रीय विमर्श करते हुए कुछ गम्भीर हो गए। संघ जानता था कि श्रुतकेवली कभी मिथ्याभाषण नहीं करते। उनका कथन सर्वदा यथार्थ होता है। वे जो कुछ भी कहेंगे न्याय की तुला पर तोलकर ही कहेंगे। उसमें कभी पक्षपात नहीं होगा। आचार्य भद्रबाहु ने भी चिन्तनपूर्वक स्पष्ट और यथार्थ तथ्य का निरूपण करते हुए कहा—श्रावको ! जो आगम-वाचना प्रदान करने के लिए अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकृति नहीं देता, जो संघशासन की अवमानना करता है, वह व्यक्ति संघ से बहिष्कृत करने योग्य होता है।

आचार्य भद्रबाहु का यह उत्तर सुनकर श्रमणसंघ प्रसन्नता से झूम उठा। अब आचार्य भद्रबाहु स्वयं ही अपने कथन से अपनी पकड़ में आ गए। तत्काल श्रमणसंघ एकस्वर से बोल उठा—भन्ते! तब तो आपने भी संघ की भावना को अस्वीकार कर संघ की अवमानना की है, इसलिए आप भी उस प्रायश्चित्त के भागी हैं।

आचार्य बोलें तो क्या बोलें? बात यथार्थ और युक्तिपूर्ण थी। अन्ततः आचार्य उस अकीर्तिकर प्रवृत्ति से संभल गए। उन्होंने सबको आश्वस्त और सन्तोष देते हुए कहा—मैं संघ की आज्ञा को सर्वोपरी मानता हूं, उसे सम्मान देता हूं। मैं वर्तमान में महाप्राण-ध्यान की विशिष्ट साधना में संलग्न हूं। इस ध्यान-साधना से चौदह पूर्वों की विशाल ज्ञानराशि को अन्तर्मुहूर्त्त में परावर्तन करने की क्षमता आ जाती है। अभी इस साधना की संपन्नता अवशिष्ट है, इसलिए मैं साधना के क्रम को छोड़कर पाटलिपुत्र नहीं जा सकता, फिर भी जो मेधावी श्रमण दृष्टिवाद की वाचना लेना चाहते हैं, वे यहां आ जाएं। मैं उनको वाचना देने का प्रयत्न करूंगा।

श्रमणसंघ ने आचार्य भद्रबाहु के निर्देश को स्वीकार किया। संघ वहां से प्रस्थित हो गया। शेष संघ ने इस सुखद संवाद को जाना। सभी ने प्रसन्नता का अनुभव कर उस ज्ञान-महायज्ञ में सम्मिलित होने का प्रयत्न किया। संघ की आज्ञा प्राप्त कर स्थूलभद्र आदि पांच सौ श्रमण आचार्य भद्रबाहु के पास वाचना ग्रहण करने के लिए नेपाल पहुंच गए। आचार्य प्रतिदिन उन्हें सात वाचनाएं देते थे। दृष्टिवाद का स्वीकरण बहुत कठिन था और वाचना का क्रम भी मन्दगति से था। पांच सौ शिष्यों में केवल स्थूलभद्र मुनि ही अर्थ सहित दस पूर्वों का ज्ञान कर पाए और चमत्कार दिखाने के कारण शेष चार पूर्वों के ज्ञान को वे अर्थ सहित नहीं ले सके। अत्यधिक अनुनय-विनय करने के पश्चात् भी आचार्य भद्रबाहु ने उनको शेष चार पूर्वों का ज्ञान देना स्वीकार नहीं किया। आर्य स्थूलभद्र ने पुनः अपनी भूल को स्वीकार करते हुए विनम्र निवेदन किया—प्रभो! पूर्वों के ज्ञान का विच्छेद होने वाला है। मैं उसमें निमित्त न बनूं, इसलिए प्रणति-पूर्वक आपको वाचना के लिए बार-बार निवेदन कर रहा हूं। फिर भी आचार्य भद्रबाहु ने उनको वाचना देने से इनकार कर दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः सकल संघ ने एकत्रित होकर मुनि स्थूलभद्र को वाचना देने के लिए आचार्य भद्रबाहु से विनती की। सबकी भावना को सुनकर आचार्य ने उनको वाचना देना स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप उन्होंने चार पूर्वों का ज्ञान तो दिया, किन्तु शाब्दिकज्ञान दिया, अर्थज्ञान नहीं दिया।

आचार्य संघशक्ति के उपासक होते हैं। वे संघ को प्राण और त्राण मानते हैं। उनका अस्तित्व संघ से भिन्न नहीं होता और संघ का अस्तित्व उनसे भिन्न नहीं होता। दोनों एकमेक होते हैं। वे संघ में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की त्रिवेणी प्रवाहित करते हैं, संघ की सारणा-वारणा करते हैं और संघ के उन्नयन में अपनी शक्ति का नियोजन करते हैं। इसलिए आचार्य भद्रबाहु ने संघ को प्रमुख स्थान दिया, स्वयं की साधना को गौण किया। तीर्थंकर भी सर्वप्रथम संघ को प्रणाम करते हैं। धन्य है ऐसे संघ को, उसकी शक्ति को। इसलिए कहा गया—**'संघे शक्तिः कलौ युगे।'**

८. हार गई हिंसा

राजगृह नगर। वहां का प्रसिद्ध कालसौकरिक कसाई। वह मांस का बहुत बड़ा व्यापारी था। वह प्रतिदिन पांच सौ भैंसों को मारता था। आज उसके घर में विशेष चहल-पहल थी। अनेक सगे-संबन्धी विशेष प्रयोजन से वहां एकत्रित हुए थे। प्रीतिभोज के साथ-साथ आज शुभ मुहूर्त्त में कालसौकरिक के पुत्र 'सुलस' को प्रमुखपद के दायित्व का तिलक किया जाना था। घर की नारियां मंगलगीत गाकर सुलस की वर्धापना कर रही थीं। घर को साफ-सुथरा करके उसे दीपपंक्ति से सजाया गया था। पारिवारिकजन उस विशेष समारोह को कई वर्षों के बाद देख रहे थे।

परिवार वालों ने सुलस को स्नानादि कराकर उसे वस्त्रालंकारों से सुसज्जित किया। फिर वे उसे पूजा-गृह में ले गए। वृद्धा माता ने अपने पुत्र को एक मखमली चादर बिछी चौकी पर बिठाया। उसके हाथ में नारियल, अक्षत आदि देते हुए माता ने कहा—वत्स। यह अपने कुलदेवी का छोटा-सा मन्दिर है। कोई भी शुभ कार्य करने से पहले माता की पूजा-अर्चना करनी होती है। उसे भोग चढ़ाना होता है। तुम धूप-दीप, नैवेद्य आदि से कुलदेवी की मंत्रों से स्तुति करो। जब वह पूरी हो जाए तब तुम पवित्र जल को छिटक कर माता को भोग लगा देना। पुत्र ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माता के कथनानुसार विधि को संपन्न किया और देवी माता को भोग लगाकर शेष भोगसामग्री प्रसाद के रूप में घर के सदस्यों में बांट दी।

अब प्रमुखपद की शपथ का समय भी नजदीक था। परिवार के छोटे-मोटे सभी सदस्य जिज्ञासा और उत्सुकता लिए घर के विशाल प्रांगण में खड़े थे। सुलस भी पूजाविधि संपन्न कर वहां पहुंच गया। घर के बुजुर्ग व्यक्ति ने एक थाली में अक्षत-कुंकुम-रोली आदि सजाकर उसकी आरती उतारी। उसे एक ऊंचे स्थान पर खड़ा कर दिया गया। बुजुर्ग ने सुलस के हाथ में तलवार देते हुए कहा—वत्स! यह तलवार शौर्य की प्रतीक है। अब तुम प्रमुखपद के दायित्व का तिलक निकलवाने से पूर्व इस तलवार को भैंसे पर चलाकर अपनी परम्परा का निर्वहन करो। यह हमारी कुल-परम्परा है।

यह सुनते ही सुलस पर मानो तुषारापात हो गया। उसकी करुणा ऐसा क्रूर कार्य करने की अनुमति नहीं दे रही थी। उसकी अहिंसक-चेतना किसी भी परिस्थिति में किसी निरीह और मूक प्राणी की बलि नहीं देना चाहती थी। उसने मन ही मन सोचा--क्या मेरी आत्मा जैसी आत्मा इसमें नहीं है? जो दुःख और पीड़ा मुझे होती है वह दुःख और पीड़ा इसको क्यों नहीं होगी? क्या इस पशु का वध करना मेरा अपना वध नहीं है? प्राण किसे प्रिय नहीं है? क्या कोई मरना चाहता है? ऐसा सोचकर सुलस ने उस बुजुर्ग व्यक्ति से कहा—तातश्री! क्या इस विधि को दूसरे प्रकार से संपन्न नहीं किया जा सकता? क्या मुझे तलवार चलाना अनिवार्य ही है?

बेटा! तुम अभी समझे नहीं। यह अपना पुश्तैनी धन्धा है। जो कोई इस पद पर आता है उसे इस रस्म को निभाना ही पड़ता है। इस रस्म को निभाकर ही वह घर के प्रमुखपद का आसन ग्रहण करता है। तुम्हारे पिता, दादा, परदादा आदि ने आज तक इस परम्परा को निभाया है और भविष्य में भी यही परम्परा चलेगी।

सुलस बोला--आप सत्य कह रहे हैं। मेरे पिताश्री कालसौकरिक ने भी मरते समय यही कहा था कि तुम्हें इस कार्य को संभाल कर रखना है, कहीं उसमें कोई न्यूनता न आ जाए? पर आज मेरा मानस इस क्रूर कृत्य को करने के लिए सर्वथा इनकार कर रहा है। मेरे हाथ इस पशुप्राणी पर चलते हुए कम्पित हो रहे हैं। मैं चाहता हूं कि पहले मैं अपने पैर पर तलवार चलाकर उस पीड़ा का अनुभव कर लूं, जिससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे पराई पीड़ा का भी अनुभव हो सके। ऐसा कहते हुए उसने तलवार को ऊपर उठाया और अपने पैर पर चलाने लगा।

यह क्या कर रहे हो, ऐसा कहते हुए बुजुर्ग व्यक्ति ने बीच में ही लपककर उसके हाथ को पकड़ लिया। सुलस के इस कार्य से सभी परिवार वाले स्तब्ध रह गए। वे सभी मौन होकर खड़े थे। उनमें से किसी में ऐसी हिम्मत नहीं थी कि कोई पुनः उसे समझा-बुझाकर भैंसे पर तलवार चलवा सके। घर के सभी सदस्य उसकी अहिंसक-चेतना, करुणा की चेतना के सामने नत थे। अन्त समय तक सुलस अपने दृढ़निश्चय पर अडिग रहा। उसने अहिंसा के द्वारा हिंसा को पराजित कर लिया।

अन्त में परिवार वालों ने उसके स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए कहा–वत्स ! तुम्हें जैसा इष्ट हो हम वैसा ही कार्य करेंगे। तुम्हारी मर्जी के बगैर जबरदस्ती तुमसे कोई कार्य नहीं कराएंगे। अब तुम जैसा कहो हम वैसा करें।

सुलस ने सबके सामने अपनी भावना को प्रकट करते हुए कहा–यदि यह विधि अहिंसात्मक तरीके से संपन्न होती है तो मुझे प्रमुखपद का दायित्व मान्य है, अन्यथा इसे मैं स्वीकार नहीं करूंगा। परिवार वालों ने उसकी बात मानकर बिना किसी शर्त, बिना किसी परम्परा तथा बिना किसी हिंसा के सुलस के भाल पर प्रमुखपद के दायित्व का तिलक लगाकर उसे प्रमुखपद पर मनोनीत कर दिया।

९. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि : मानसिक हिंसा का परिणाम

राजगृह नगर की पुण्यस्थली। भगवान महावीर का समवसरण। प्रभु-दर्शन की उत्कंठा। महाराज श्रेणिक की जय हो, राजगृह के सम्राट् की जय हो–लोगों के जयनाद से निनदित होते हुए महाराज श्रेणिक अपने राजपरिवार के साथ भगवान के दर्शनों के लिए जा रहे थे। उनके मानस में प्रभुभक्ति का अतिरेक, नयनों में दर्शन की ललक और भावों में पवित्रता झलक रही थी। राजपथ के दोनों ओर खड़े दर्शक उनकी वर्धापना कर रहे थे। राजा श्रेणिक सबकी वर्धापना को स्वीकार करते हुए अपने कारवें के साथ आगे बढ़ रहे थे। राजगृह का उद्यान जनाकीर्ण होता हुआ एक आकर्षण का बिन्दु बना हुआ था। भगवान महावीर के पादन्यास से उसकी सुषमा और अधिक बढ़ गई थी।

राजपथ के एक छोर पर खड़े एक महामुनि ध्यान में तल्लीन बने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए थे। वे दोनों हाथों को ऊंचा किए सूर्य के आतप में आतापना ले रहे थे। उनका देदीप्यमान आभामंडल, क्षात्रतेज तथा ध्यान की गहराइयों में निमज्जन करने वाली मुखाकृति सहज ही वहां से गुजरने वाले हर पथिक को क्षणभर के लिए रोक लेती थी। जो भी पथिक वहां से गुजरता वह उस प्रतिमासदृश आकृति को देखकर भावविह्वल हो जाता, उसकी आंखें नम जाती, मन ही मन वह उस त्यागीपुरुष को भाववन्दना करता हुआ समवसरण की ओर बढ़ जाता था। वे महामुनि थे–राजर्षि प्रसन्नचन्द्र। वे पोतनपुर के अनुशास्ता थे। भगवान महावीर की वाणी सुनकर उनका मन संसार से विरक्त हुआ और वे अपने छोटे पुत्र को राज्य का भार सौंपकर दीक्षित हो गए। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए वे भगवान के साथ ही राजगृह नगरी में आए और भगवान की अनुज्ञा प्राप्त कर समवसरण के समीप ही तपोध्यान की साधना में अवस्थित हो गए थे। सैंकड़ों लोग उनके आस-पास से आ जा रहे थे, फिर भी वे ध्यान-साधना में एकाग्र बने हुए बाह्य-जगत् से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

जय-जयकारों के नाद से महाराज श्रेणिक भी वहां से गुजरे, पर उन शब्दों का उन पर कब असर होने वाला था? वे शब्दों से शब्दातीत, काल से कालातीत और व्यग्रता से व्यग्रातीत हो चुके थे। ध्यान के संसार का स्वरूप ही कुछ ऐसा होता है जहां आत्मदर्शन के सिवाय कुछ नहीं मिलता।

महाराज श्रेणिक भी उस सौम्यमुद्रा को देखकर कुछ क्षण के लिए वहां रुके। उन्होंने अपने सैनिकों से पूछा—ये महामुनि कौन है? यहां कैसे खड़े हैं?

राजन्! ये महामुनि भगवान महावीर के शिष्य हैं। अपनी उत्कट साधना के लिए यहां खड़े हैं। इन्होंने भगवान महावीर की आज्ञा लेकर कठोर साधना करने का संकल्प ग्रहण किया है।

ओह! ऐसे महामुनि को धन्य है, जो जीवन को सार्थक बनाने और भवसागर से पार उतरने का मार्ग खोजते हैं।

राजा श्रेणिक का अन्तःकरण सहज ही उस साधना से अभिभूत था। वे मन ही मन श्रद्धा से नमन करते हुए अन्तर्जिज्ञासाओं के साथ वहां से प्रस्थित हो गए।

साधना का मार्ग भावनात्मक परिणामों से जुड़ा हुआ है। कभी जीवन में अच्छे भाव आते हैं तो कभी बुरे। कभी सकारात्मक भाव आते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं तो कभी नकारात्मक। कभी ऐसे शुभ अध्यवसाय आते हैं जो जीवन को एक ही छलांग में शिखर तक पहुंचा देते हैं तो कभी ऐसे अशुभ अध्यवसाय भी जागते हैं जो समूचे जीवन का पतन कर देते हैं।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र अभी तक अपनी निर्मल ध्यानधारा में प्रवाहित हो रहे थे, पर एक निमित्त ने उनकी भावधारा को विपरीत दिशा में मोड़ दिया।

महाराज श्रेणिक की सवारी के पीछे-पीछे सुमुख और दुर्मुख दूत भी चल रहे थे। उन्होंने ध्यानस्थ मुनि को देखा। दुर्मुख ने ईर्ष्यावश व्यंग्य कसते हुए अपने साथी दूत से कहा—अरे सुमुख! देखो, इस ढोंगी साधु को, यह साधना का प्रदर्शन कर रहा है। इसे तनिक भी लज्जा/शर्म नहीं आई कि यह एक नाबालिग पुत्र को राज्य का भार सौंपकर स्वयं आंख मूंदकर यहां खड़ा हो गया। उस बालक को शत्रुसेना ने घेर लिया है। वह उस विशाल सेना से लोहा कैसे ले सकेगा? न तो उसकी भुजाओं में बल है और न ही उसे युद्ध करने का अभ्यास है। जिसके दाढी-मूंछ के बाल भी पूरे न उगे हों, उसे राज्यसत्ता देना मात्र अपनी कायरता को छिपाना है। यह पलायनवृत्ति नहीं तो और क्या है? मुझे तो तरस आ रहा है उस बालक पर। वह एकाकी बालक निर्दयतापूर्वक शत्रु के हाथ मारा जाएगा और राज्य भी दूसरों के हाथ चला जायेगा। खैर ! यह अभी भी संभल जाए तो अच्छा है।

अचानक दूत के वे शब्द राजर्षि के कानों से टकराए। वे शब्दबाण अन्तःस्तल को बींध गए। जो महाश्रमण कुछ क्षण पूर्व तक अन्तर्यात्रा में यात्रायित थे अब वे बहिर्यात्री बन गए। अब उन्हें मात्र पुत्र और राज्यशासन सामने दिखने लगा। उन्हें लगा कि जिस व्यक्ति ने जो कहा है वह सचोट ही कहा है। बात बिल्कुल सत्य है। वह बेचारा पुत्र कब, कैसे लड़ेगा? विशाल सेना के सामने वह कब तक ठहर सकेगा? अवश्य ही उसे सहयोग की अपेक्षा है। पिता होने के नाते मैं उसका सहयोगी हो सकता हूं। यह सोचते ही राजर्षि मन की पांखों से पोतनपुर पहुंच गए, तलवार लेकर उतर पड़े रणभूमि में। मन ही मन उन्होंने कितने शत्रुसुभटों को धराशायी बना डाला। कहां तो वे कर रहे थे आत्मा से युद्ध और अब करने लगे शत्रु से युद्ध। दोनों ओर से वार-प्रतिवार हो रहा था। इधर राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का मानसिक युद्ध चल रहा था उधर महाराज श्रेणिक अपनी अन्तर्जिज्ञासाओं का समाधान भगवान से करना चाहते थे। बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही बात में उन्होंने पूछ लिया—भगवन् ! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र की साधना को देखकर लगता है कि उन्होंने काफी ऊंचाई को प्राप्त कर लिया है। काश! वे इस समय आयुष्य को पूरा कर जाएं तो कहां उत्पन्न होंगे?

प्रथम नरक में, भगवान ने कहा।

राजा श्रेणिक विस्मय में डूब गए। सोचा, भगवान पर अविश्वास भी नहीं किया जा सकता। फिर यह विपर्यास क्यों? कुछ क्षण बाद राजा श्रेणिक ने पुनः उसी प्रश्न को दोहराया—भंते! अगर अभी वे जीवनमुक्त हो जाएं तो उनकी क्या गति होगी?

भगवान—दूसरी नरक।

उत्तर सुनते ही राजा असमंजस में पड़ गए। सोचने लगे कि मैं जिनको उत्कृष्ट समझ रहा हूं, उनकी यह गति। पुनः राजा की जिज्ञासा मुखर हुई। फिर वही प्रश्न।

भगवान ने कहा—तीसरी नरक।

यह क्या? राजा ने सोचा। मेरे प्रत्येक प्रश्न के साथ नरक की वृद्धि का कारण क्या है? वे पूछते गए और नरक की वृद्धि होती गई। भगवन्! अब वे मृत्यु को प्राप्त हो तो.....?

भगवान बोले—सातवीं नरक।

इधर प्रश्नों का उत्तर पाकर राजा श्रेणिक कुछ अन्यमनस्क-से हो गए। उधर राजर्षि अभी भी शत्रुओं से युद्ध कर रहे थे। अचानक उनका हाथ शत्रुओं को मौत के घाट उतारते-उतारते मुकुट से प्रहार करने के लिए अपने मस्तक की ओर लपका। पर वहां मुकुट कहां था? जिस दिन उन्होंने श्रामण्य को स्वीकार किया था उसी दिन से राजसी ठाठ-बाट और राजसी वेशभूषा छूट गयी थी। वे संभले। उन्हें अपने साधुत्व का भान हुआ। वे अपने आपको धिक्कारते हुए सोचने लगे—अरे! कौन किसका पुत्र और किसका कौनसा साम्राज्य? क्या मैं पुनः ममत्व की परिक्रमा में निकल पड़ा, चला तो था निर्ममत्व साधना में। साधनापथ को भूलकर मैं साधनाच्युत हो गया। मैं किससे लड़ रहा हूं? लड़ना तो था मुझे अपने कर्मों से। मैंने सारे संसार के प्राणीमात्र को अपना मित्र बना लिया तब मेरा शत्रु है ही कौन? मैं श्रमण हूं, संयत हूं, विरत हूं। इस प्रकार आत्मालोचन करते हुए वे पुनः आत्मोन्मुखी बन गए, आर्त्त-रौद्र ध्यान से हटकर धर्मध्यान की श्रेणी में अवस्थित हो गए।

महाराज श्रेणिक की जिज्ञासा अभी भी अन्तर्मन में कल्लोल कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रही थी। वे समाधान की भाषा में उसे समाहित देखना चाहते थे। उन्होंने पुनः उसी प्रश्न को प्रस्तुत करते हुए पूछा—भगवन् ! क्या वे नरकगामी ही रहेंगे अथवा उनकी गति सुधरेगी भी। अब वे आयुष्य को पूरा करें तो कहां जाएंगे?

भगवान ने कहा—प्रथम स्वर्ग में।

राजा का मन कुछ आश्वस्त हुआ, पर पूरा आश्वस्त नहीं हुआ। वे राजर्षि को और अधिक ऊंचाइयों पर आरोहण करते हुए देखना चाहते थे। राजा पुनः पुनः भगवान से पूछते जा रहे थे और भगवान क्रमशः दो, तीन, चार आदि स्वर्गारोहण की श्रेणियों का प्रतिपादन कर रहे थे। कुछ ही क्षणों बाद महामुनि प्रसन्नचन्द्र विशुद्धतमभावों की श्रेणी में आरूढ हुए। तभी भगवान महावीर ने उद्‌घोषणा करते हुए कहा—राजन्! अब राजर्षि को केवलज्ञान हो गया है। उन्होंने चार घनघाती कर्मों का क्षय कर दिया है। आकाश में देवदुन्दुभियां बजने लगी। देवता स्वर्ग से उतरकर भूमि पर आने लगे। चारों ओर महोत्सव की आभा बिखरने लगी। राजा श्रेणिक अब भी हर्ष और विस्मय के झूले में झूल रहे थे। वे उतार-चढ़ाव के रहस्य को जानना चाहते थे। वे समझ नहीं सके कि जो मुनि सप्तम नरक तक पहुंच जाए वे पुनः केवलज्ञान की भूमिका पर कैसे आ सकते हैं?

भगवान ने उनकी इस गुत्थी को सुलझाते हुए कहा—श्रेणिक! हिंसा केवल शरीर से होती है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, वह मन से वचन से और भाव से भी हो सकती है। राजर्षि दीक्षा लेते ही सब प्रकार की हिंसा से उपरत हुए। वे जब तक अहिंसक-चेतना में रहे तब तक वे पापकर्मों के बन्धन से सर्वथा मुक्त थे, किन्तु किसी के कुछ कहने पर वे विचलित हो गए, पुत्र का ममत्व और राज्यसत्ता की लोलुपता का भाव उनमें उत्पन्न हो गया। उन्हीं के कारण वे अहिंसा की भूमिका से हिंसा की भूमिका पर उतर आए, आत्मा से पापात्मा बन गए। उनकी विचारधारा मलिन और कलुषित हो गई। बिना किसी शस्त्र का ग्रहण किए ही वे मानसिक और भावात्मक हिंसा में प्रवृत्त हुए। इसलिए उन्होंने अपने अशुभ अध्यवसाय और अशुभ परिणामधारा से सप्तम नरक तक के कर्मों का बन्धन कर लिया। जब उन्हें अपनी संयमपर्याय का बोध हुआ तो पुनः वे आत्मा की ओर मुड़े, अहिंसा की चेतना की ओर लौटे और अपने अध्यवसायों को शुक्लध्यान की धारा से क्रमशः विशुद्ध, विशुद्धतर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और विशुद्धतम बनाते हुए केवलज्ञानी हो गए।

इसलिए कहा है--सर्व प्रकार की हिंसा से उपरत होना ही उत्कृष्ट अहिंसा है।

१०. सत्य की विजय

विजयपुर नगर अपनी विशालता और धनाढ्यता के कारण लोगों के दिलों में बसा हुआ था। वहां के सप्तभौम अथवा पंचभौम हर्म्य बड़े ही लुभावने लग रहे थे। सुन्दर और स्वच्छ राजपथ। लम्बे-चौड़े बाजार और उनमें पंक्तिबद्ध दुकानें पथिकों का ध्यान आकृष्ट कर रही थीं। उन दुकानों पर ग्राहकों की अच्छी-खासी भीड़ लगी रहती थी। जीवन में काम आने वाली प्रत्येक वस्तु वहां आसानी से मिल जाती थी।

राजा यशोजलधि विजयपुर नगर के अधिशास्ता थे। वे एक न्यायप्रिय, प्रजावत्सल और प्रतापी राजा थे। उनका यश चारों ओर फैला हुआ था। उसी नगर में अनेक लब्धप्रतिष्ठ और धनिक श्रेष्ठी भी निवास करते थे। उनमें कमल नाम का एक नगरसेठ भी था। वह नगरसेठ के पद से सम्मानित था। वह अच्छा व्यापारी और दानी था। वह सत्यवादी था। लोगों के मन पर उसकी सत्यवादिता और परोपकारिता की छाप थी। श्रेष्ठी कमल की भार्या का नाम कमलश्री था। वह भी पति के गुणों का अनुसरण करने वाली थी। उनके एक पुत्र था। उसका नाम था विमल। नाम अपने आप में सुन्दर और सार्थक था, किन्तु पुत्र का आचरण नाम के अनुरूप नहीं था। जैसे दीपक काजल को उगलता है वैसे ही श्रेष्ठिपुत्र अपनी अप्रामाणिकता, असत्यवादिता आदि दुराचरणों के कारण कुलगौरव पर काजल पोत रहा था। पिता ने उसे बार-बार समझाने का प्रयत्न किया, पर उसका वह प्रयत्न 'प्रवाहे मूत्रितं' की भांति निरर्थक हो गया।

एक बार पुत्र विमल ने व्यापार के मिष से परदेश-गमन करना चाहा। पिता नहीं चाहता था कि उसका पुत्र परदेश जाए। क्योंकि देश में काफी अच्छा कारोबार था। प्राप्त कारोबार को छोड़कर अन्य कारोबार में हाथ डालना और फिर उसे संभालना सहज-सरल कार्य नहीं था। पिताश्री कमल ने उसे येन केन प्रकरेण रोकना चाहा, पर पुत्र के अत्यधिक आग्रह के सामने पिताश्री को भी झुकना पड़ा। अन्त में नगरसेठ ने विवश होकर उसे समुद्रमार्ग से जाने की अनुमति न देकर स्थलमार्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से प्रस्थान करने की अनुमति दे दी।

पुत्र पिता की आज्ञा से अनेक गाड़ियों में माल भरकर सोपारक देश की सीमा में स्थित मलयपुर की ओर रवाना हुआ। मध्यमार्ग में स्थान-स्थान पर डेरा डालता हुआ वह कुछ दिनों के बाद गन्तव्यस्थल पर पहुंच गया। मलयपुर में उसने अपना माल बेचा और वहां से माल खरीदकर उसे गाड़ियों में भरकर कुछ दिनों के अन्तराल से पुनः वह अपने देश के लिए रवाना हुआ। कुछ दूर चलने पर रास्ते में वर्षा होने के कारण मार्ग अवरुद्ध हो गया था, इसलिए उसे वन में ही प्रवास करना पड़ा।

विजयपुर में सागरदत्त नाम का भी एक युवा श्रेष्ठी रहता था। वह भी व्यापार हेतु समुद्र के पार गया हुआ था। जब वह अपने जहाजों में माल भरकर लौट रहा था तो उसने अपने नौकरों को आदेश दिया कि तुम गाड़ियों में माल भरकर स्थलमार्ग से आ जाना। मैं आगे पड़ाव डालकर तुम सब लोगों की प्रतीक्षा करूंगा। सागरदत्त रथ में बैठकर विजयपुर की ओर प्रस्थित हो गया। अचानक मार्ग में उसका विमल श्रेष्ठी से मिलन हो गया। विमल ने सागरदत्त से कहा—अच्छा संयोग मिला कि तुम यहां आ गए। अब हम दोनों साथ-साथ ही विजयपुर चलेंगे। सागरदत्त ने भी अपने भाग्य की सराहना करते हुए कहा—अच्छा हुआ कि हम एक से दो हो गए, किन्तु मुझे तब तक यहीं ठहरना होगा जब तक मेरे कर्मचारी सागरतट से माल लेकर यहां नहीं पहुंच जाते। हम कुछ दिन यहां ठहर जाते हैं, फिर दोनों साथ-साथ अपने नगर चलेंगे। यह कहकर सागरदत्त ने भी उसी वन में अपना पड़ाव डाल दिया।

कुछ दिनों के बाद माल के लदान के साथ गाड़ियां वहां पहुंच गईं। अगले दिन विमल श्रेष्ठी और सागरदत्त ने सार्थ के साथ वहां से प्रस्थान कर दिया। कुछ दूर जाने पर विमल के मन में पाप उभरा। उसने सोचा कि हम दोनों साथ-साथ जा रहे हैं। लोग पूछेंगे कि कौन ज्यादा कमाकर लाया है? मेरे पास इसका क्या उत्तर होगा? सागरदत्त के सामने मेरी कमाई तो बहुत नगण्य है। इसलिए मैं किसी न किसी उपाय से इसके धन को हड़पने का प्रयत्न करूं। जिससे मुझे भी उत्तर देने में कोई कठिनाई न हो। उसने धन लेने के लिए अनेक चालें चली, पर वह अपने उपायों में सफल नहीं हो सका। बहुत उपाय करने पर भी वह केवल सागरदत्त की सहस्र मुद्राएं ही चुरा सका।

उधर विजयनगर में कमल श्रेष्ठी को पथिकों द्वारा सूचना मिली कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका पुत्र विमल और सागरदत्त दोनों साथ-साथ आ रहे हैं। पिता कमल उनकी अगवानी करने के लिए वहां से रवाना हुआ और विजयपुर से दस कोस की दूरी पर तीनों का मिलना हो गया। पुत्र पिता के गले मिला। पिता ने पुत्र को अपनी छाती से लगा दिया। सागरदत्त ने भी कमल श्रेष्ठी के चरणकमलों को छुआ। उसने उसे भी पुत्र की भांति अपनी बाहों में भर लिया। तीनों एक दिन मार्ग में रुके। दूसरे दिन तीनों ने आगे के लिए प्रस्थान कर दिया।

तीनों आपस में बातें करते हुए रास्ता तय कर रहे थे। बात ही बात में सागरदत्त ने विमल श्रेष्ठी से कहा—मित्र! सभी लोग देखी हुई बातें तो बताते हैं। तुम चाहो तो मैं अनदेखी बात भी बता सकता हूं। विमल ने कहा—वह कैसे? तुम कोई प्रत्यक्षद्रष्टा थोड़े ही हो। सागरदत्त ने कहा—यदि तुम्हें विश्वास न हो तो इसका प्रयोग करके देख लो। विमल ने तत्काल कह दिया—बोलो, तुम क्या बताते हो? सागरदत्त ने कहा—देखो, हमारे से आगे कुछ ही दूरी पर आम से भरी हुई एक गाड़ी जा रही है। गाड़ी न तो मुझे दीख रही है और न तुम्हें दीख रही है। फिर भी मैं कहता हूं कि गाड़ी आगे जा रही है और उसमें आम भरे हुए हैं। उस गाड़ी को हांकने वाला एक ब्राह्मण है। वह कोढ के रोग से ग्रस्त है। उस गाड़ी में दांई ओर दुष्ट बैल जुता हुआ है और बांई ओर लंगड़ा बैल है। गाड़ी के पीछे-पीछे कुछ दूरी पर एक चाण्डाल चल रहा है। उसके साथ एक स्त्री भी है। वह गर्भवती है। उसके गर्भ में लड़का है। उस स्त्री के शरीर में कुंकुम लगा हुआ है। उसके गले में बकुल के पुष्पों की माला है। उसकी साड़ी लाल है और वह गाड़ी पर सवार है।

विमल श्रेष्ठी ने सागरदत्त पर व्यंग्य कसते हुए कहा—गप्पे हांकने में क्या लगता है? हर कोई ऐसा कर सकता है। मुझे तो लगता है कि तुम भी व्यर्थ की गप्पें हांक रहे हो।

यदि तुम्हें विश्वास न हो तो तुम अपना घोड़ा दौड़ाओ, देखने पर पता लग जायेगा कि मैंने सत्य कहा है या असत्य, सागरदत्त ने अपनी बात को पुष्ट करते हुए कहा।

पुनः विमल ने कहा—मैं तुम्हारी बातों में आने वाला नहीं हूं। तुम ही जाकर देख लो कि तुम्हारे कथन में कितनी सचाई है?

हां, मैं तब जाकर देख सकता हूं यदि तुम मेरे से कोई शर्त लगाओ, सागर ने कहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शर्त क्या होगी? विमल ने कहा।

सागरदत्त ने कहा—यदि मेरे कथन में सचाई हो तो तेरा धन मैं ले लूंगा, अन्यथा तुम मेरे धन को ले लेना। दोनों प्रस्तावित शर्त पर सहमत हो गए और साक्षीरूप में नगरसेठ कमल श्रेष्ठी को स्थापित कर दिया। सचाई को परखने के लिए तीनों रथ से नीचे उतरे और घोड़ों पर बैठकर द्रुतगति से वहां से चले और उस स्थान पर आ पहुंचे जहां गाड़ीवान् अपनी गाड़ी के साथ जा रहा था। गाड़ीवान् को देखने और पूछने पर प्रायः सभी बातें सत्य निकली, जो सागरदत्त ने अपने मुंह से कही थी, पर उसके द्वारा बताई हुई दो बातें असत्य लग रही थी। उसके साथ न तो कोई स्त्री थी और न कोई चाण्डाल ही था। इससे विमल श्रेष्ठी का मन ही मन प्रसन्न होना स्वाभाविक था। उसने सोचा—अब तो सागरदत्त का धन मेरा हो जायेगा। सागरदत्त ने गाड़ीवान् से पूछा—तुम्हारे साथ गाड़ी में जो स्त्री बैठी थी वह कहां है और चाण्डाल कहां गया? गाड़ीवान् ने कहा—स्त्री गर्भवती थी, इसलिए वह निकट वन में प्रसव करने गई है। इसी नगर में उसका पीहर है, इसलिए वह चाण्डाल उसकी मां को लेने गया है। अभी सागरदत्त गाड़ीवान् से बात कर ही रहा था कि चाण्डाल उस स्त्री की मां को लेकर आ गया। उसकी मां वन में गई, किन्तु उसके जाने से पहले ही उसके पुत्र हो गया।

अब सब बातें सत्य जानकर विमल श्रेष्ठी का दिल धड़कने लगा। वह अपनी शर्त में हार चुका था। उसने सोचा-मेरे पिताश्री इन सारी घटनाओं में साक्ष्यरूप में मध्यस्थ हैं। वे झूठ तो नहीं बोलेंगे। यदि वे इस शर्त को हंसी-मजाक मानकर अपना निर्णय दे दें तो मैं बच सकता हूं, अन्यथा मेरा धन-माल सागरदत्त के हाथ में चला जाएगा। मैं लुट जाऊंगा। विमल श्रेष्ठी ने अपने पिताश्री से कहा—अब मुझे बचाना आपके हाथ में है। आप सागरदत्त से इतना ही कह दें कि यह तो सब हंसी-मजाक की शर्त थी, यथार्थ में कुछ नहीं था।

यह सत्य है कि विश्वास भी सत्य के आधार पर चलता है, इसलिए मध्यस्थ का कार्य पक्षपातरहित होकर न्याय देने का होता है। एक ओर कमल श्रेष्ठी के सामने अपने पुत्र के घर को बर्बादी से बचाने का प्रश्न था तो दूसरी ओर सत्य पर अडिग रहने का। अन्ततः कमल श्रेष्ठी ने सत्य का पक्ष लेते हुए कहा—वत्स! तू शर्त में हार गया है। अपनी हार को स्वीकार करना ही महानता है। इसलिए अच्छा है कि तू अपना सारा धन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागरदत्त को सौंप दे। विमल के न चाहने पर भी सागरदत्त ने उसका सारा धन अपने अधिकार में ले लिया और वह विजयपुर की ओर प्रस्थित हो गया।

इधर विमल श्रेष्ठी उदास हो गया। वह न्याय की इच्छा से विजयपुर के महाराज यशोजलधि के पास पहुंचा। उसने सारी घटना से राजा को अवगत कराया और न्याय की मांग की। राजा ने नगरसेठ कमल और सागरदत्त को भी राजसभा में बुलवा लिया। राजा ने जानकारी लेते हुए सागरदत्त से पूछा—तुमने विमल श्रेष्ठी का धन क्यों लिया? सागरदत्त ने भी प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का सारा वृत्तान्त राजा को सुना दिया और मध्यस्थ एवं साक्षीरूप में कमलसेठ को यह कहकर आगे कर दिया कि महाराज! आप इनसे भी पूछकर पुष्टि कर लीजिए। राजा के पूछने पर नगरसेठ ने कहा—राजन्! सागरदत्त ने जो कुछ कहा है वह सत्य है। सागरदत्त ने विमल का जो धन लिया है वह न्याय के अनुसार लिया है। उसने कोई अनुचित कार्य नहीं किया। राजा ने नगरसेठ को धन्यवाद देते हुए कहा—श्रेष्ठिवर! तुमने अपने पुत्र को भी गौणकर सत्य का पक्ष लिया है यह मेरे लिए हर्षातिरेक का विषय है। तुम्हारे सत्यव्रत की जितनी प्रशंसा की जाए वह उतनी ही थोड़ी है। मैं अपने आपको गौरवशाली मानता हूं कि मेरे नगर में तुम जैसे सत्यवादी भी हो।

राजा ने रुष्ट होकर विमल से कहा—तू असत्यभाषी है। तुझे पता है कि घटना को असत्यरूप में प्रस्तुत करने का दण्ड क्या होता है? उसका दंड है जीभ काटना। तू नगरसेठ का पुत्र है, इसलिए मैं तुझे इस दण्ड से मुक्त करता हूँ। किन्तु तुझे सागरदत्त से क्षमा मांगनी होगी।

राजा के कहने पर विमल सागरदत्त के पैरों में लुठ गया और अपने कृत अपराध की क्षमा मांगने लगा। सागरदत्त ने भी अपनी करुणा बहाते हुए घोषणा की कि मैं कुछ धन और बढ़ाकर इसका समस्त धन वापिस करता हूं। इस घोषणा से चारों ओर सागरदत्त की प्रशंसा होने लगी। वातावरण बड़ा ही हर्षमय और प्रमोदमय बन गया।

राजा ने सागरदत्त से अगला प्रश्न करते हुए पूछा कि तुमने बिना देखे, बिना सुने यह सब कैसे जाना? कैसे बताया? सागरदत्त बोला—राजन्! यह सब मैंने लक्षणों के आधार पर जाना और स्वयं के बुद्धिबल से बताया। गाड़ी के जाने के मार्ग में स्थान-स्थान पर आम की डाल के टुकड़े गिरे हुए थे। उनको देखकर मैंने जान लिया कि आमों से भरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाड़ी इस मार्ग से गई है। गाड़ी के दाईं ओर मार्ग की धूल में जगह-जगह पर बैल के बैठने के निशान बने हुए थे। उनसे मैंने समझ लिया कि गाड़ी में दाईं ओर गलियारा बैल जुता हुआ है। मार्ग में बाईं ओर बैल के टेढ़े-तिरछे पदचिह्नों को देखकर मैंने अनुमान लगाया कि गाड़ी में बाईं ओर लंगड़ा बैल है। गाड़ी के रास्ते में घड़े से गिरते हुए पानी और पानी के साथ बैल की पूंछ के बाल देखकर मैंने सोचा कि गाड़ी हांकने वाला अवश्य ही कोई ब्राह्मण है। गाड़ी के पीछे-पीछे झाड़ू का निशान बनता देखकर मैंने अनुमान लगाया कि गाड़ी के पीछे कोई झाड़ूधारी चाण्डाल होना चाहिए। जहां जहां गाड़ी रुकी होगी वहां अवश्य ही गाड़ीवान् ब्राह्मण भी नीचे उतरा होगा। उसके शरीर से झरती हुई कोढ के पीव की बूंदें रास्ते पर पड़ी हुई थीं, उन पर मक्खियां भिनभिना रही थीं, मैंने पीव को देखकर सोचा कि गाड़ी हांकने वाला ब्राह्मण कोढी है। राजन्! मार्ग में कोई स्त्री बैठकर दांए हाथ का सहारा लेकर उठी थी। उसके दाएं हाथ के चिह्न के आधार पर मैंने जाना कि वह स्त्री गर्भवती है और उसके गर्भ में पुत्र है। क्योंकि कन्या को जन्म देने वाली स्त्री बाएं हाथ का सहारा लेकर उठती है। जहां वह स्त्री विश्राम के लिए बैठी थी वहां बकुल के फूल और कुंकुम के कण बिखरे हुए थे। मैंने अनुमान लगाया कि उसके गले में बकुल के फूलों की माला और मांग में कुंकुम है। वहां पड़ा हुआ लाल वस्त्र का टुकड़ा उसके लाल साड़ी के परिधान को बता रहा था। इन सब लक्षणों को देखकर तथा बुद्धिबल से अनुमान लगाकर मैंने यह सब कुछ निर्णय किया।

राजा ने उसकी दूरदर्शिता को जानकर और बुद्धिमानी से प्रभावित होकर उसे मंत्रीपद पर नियुक्त कर दिया।

११. असत्य का परिणाम

नगर के बाह्यभाग में छोटा-सा गुरुकुल। वह वनराजि से आच्छादित, सुरम्य और एकान्त स्थान में स्थित तथा विद्यार्जन का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। उसके संचालक थे उपाध्याय क्षीरकदम्बक। उसके पास तीन छात्र विद्याभ्यास कर रहे थे। एक था राजा का पुत्र वसु, दूसरा स्वयं उपाध्याय क्षीरकदम्बक का पुत्र पर्वतक तथा तीसरे छात्र का नाम था नारद। तीनों का अध्ययनकाल समाप्त हो गया। तीनों अपने-अपने स्थान पर चले गए। क्षीरकदम्बक का पुत्र पर्वतक राजपुरोहित के पद पर आसीन हो गया। राजा का पुत्र वसु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने पिता के दिवंगत होने के पश्चात् राजा बन गया और नारद देशाटन के लिए निकल गया।

एक दिन राजा वसु शिकार खेलने के लिए जंगल में गए हुए थे। दूर से उन्होंने अपने लक्ष्य पर बाण छोड़ा। किन्तु वे यह देखकर विस्मय से भर गए कि बाण वध्य पर न लगकर कहीं आकाश में ही ठहर गया है। राजा वसु ने जब कारण की खोज की तो उन्हें ज्ञात हुआ कि मध्य में एक स्फटिक की शिला है। वही बाण को रोक रही है। शिला पारदर्शी थी। उसकी पारदर्शिता के कारण शिकार तो दिखाई दे रहा था, पर बाण बीच में ही रुका हुआ था। वे उसे चमत्कारी शिला मानकर अपने महल में ले आए। उन्होंने अपने चतुर कारीगरों से उस स्फटिक शिला का राजसिंहासन बनवा लिया। अब राजा प्रतिदिन राजसभा में उस सिंहासन पर बैठने लगे। उस समय लोगों को ऐसा प्रतीत होता था कि सिंहासन अधर में लटका हुआ है। नगर की सारी जनता इस दृश्य से विस्मयमुग्ध थी। कुछ लोग इसे चमत्कारी घटना मान रहे थे तो कुछ राजा का प्रभाव। आस-पास और सुदूर देशों में यह बात प्रचारित हो गई कि राजा वसु बड़े ही न्यायनिष्ठ, सत्यवादी और प्रजा के हित-चिन्तक हैं। वे सदैव प्रजा का कल्याण करते हैं और सदा सत्य ही बोलते हैं। उन्हीं के प्रभाव से उनका राजसिंहासन भी पृथ्वी से ऊपर उठा रहता है। लोगों के मानस में उनकी सत्यनिष्ठा की एक गहरी छाप जम गई।

एक बार उपाध्याय क्षीरकदम्बक के पुत्र पर्वतक अपने विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे। अचानक नारद ऋषि घूमते-घूमते वहां आ पहुंचे। वे अपने सहपाठी पर्वतक से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। राजपुरोहित पर्वतक ने भी अपने मित्र सहपाठी को आसन आदि देकर उनका उचित सम्मान किया। उस समय पर्वतक अपने छात्रों को किसी वाक्यांश का अर्थबोध करा रहे थे। वह वाक्यांश था—'**अजैर्यष्टव्यम्।**' पर्वतक उसका अर्थ बता रहे थे कि बकरों की बलि से होम करना चाहिए। ऐसा अर्थ सुनकर नारदजी अचानक चौंके और कहने लगे—मित्र पर्वतक! तुम जो यह अर्थ कर रहे हो वह मेरी समझ में सही नहीं है। मेरी बुद्धि के अनुसार इसका अर्थ होना चाहिए—'**न जायते इति अजः—व्रीह्यः।**' अर्थात् पुराने धान का यज्ञ में हवन करना चाहिए। यही अर्थ तुम्हारे पिताश्री उपाध्याय क्षीरकदम्बक भी किया करते थे।

पर्वतक यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि उनके पिताजी ऐसा अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया करते थे। उन्होंने प्रत्युत्तर में कहा—नारदजी! तुम्हारी बात में सत्यता नहीं है। नारद ने कहा—नहीं, मैं सत्य बोल रहा हूं। तुम व्यर्थ ही मिथ्या आग्रह कर रहे हो। इस प्रकार दोनों का वाद-विवाद चलते-चलते अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। नारदजी ने अपनी बात को सिद्ध करने के लिए कह दिया—यदि मेरा अर्थ मिथ्या हो जाए तो मैं अपनी गर्दन भी देने को तैयार हूँ। उसी स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए पर्वतक ने कहा—मैंने जो अर्थ किया है, यदि वह मिथ्या प्रमाणित हो जाए तो मैं अपनी जीभ निकलवा सकता हूँ।

अन्त में दोनों ने अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए राजा वसु के पास जाना उचित समझा। उन्होंने सोचा–वसु राजा सत्यवादी हैं। वे भी उपाध्याय क्षीरकदम्बक के पास पढे हैं। उन्होंने भी गुरुमुख से इस वाक्यांश का अर्थ सुना है। वर्तमान में उनकी क्या धारणा है? वे जो भी निर्णय देंगे, वही सबको मान्य और स्वीकृत होगा तथा उनके अनुसार जिसका कथन मिथ्या साबित होगा वह स्वीकृत दण्ड का अधिकारी होगा।

सारे नगर में दोनों के विवाद और कृत-प्रतिज्ञा की चर्चा बिजली की तरह फैल गई। राजपुरोहित शाम को विद्याध्ययन संपन्न करा कर घर पहुंचे। घर में वृद्धा माता थी। पुत्र ने माता के सामने नारदजी के साथ हुए विवाद और अपनी कृत-प्रतिज्ञा की चर्चा की। मां ने पुत्र को उलाहना देते हुए कहा—पुत्र ! तुमने अच्छा नहीं किया। तुमने अपने मिथ्या आग्रह के कारण अर्थ का अनर्थ कर दिया। तुम्हारे पिताजी बहुत बार **'अजैर्यष्टव्यम्'** का वही अर्थ किया करते थे, जो नारदजी कह रहे हैं। मैंने भी तुम्हारे पिताश्री के मुख से उसी अर्थ को सुना है। लगता है, इसमें तो तुम्हारी ही हार है।

पर्वतक माता की बात सुनकर चिन्तित हो गया। वह मन ही मन उपाय सोचने लगा। उसने कहा—मां! मुझे ऐसा कोई मार्ग सुझाओ जिससे मैं अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थ को सत्यापित कर सकूं और अपनी कृत प्रतिज्ञा से बरी हो जाऊं। मां ने कहा—राजा वसु सत्यवादी हैं। उनकी सत्यता की महिमा जगत् प्रसिद्ध है। वे कभी झूठ बोलेंगे नहीं। इसलिए तेरी पराजय सामने दिखाई दे रही है। फिर भी मैं राजा वसु के पास जाती हूं, शायद कोई उपाय हाथ लग जाए।

पर्वतक की माता राजा वसु के पास पहुंची। गुरु-पत्नी को महल में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखकर राजा वसु ने बड़े ही आदर-सम्मान के साथ उनके चरणों में प्रणाम किया, विनय और श्रद्धाभक्ति से उनको उच्च आसन पर बिठाया और आने का कारण पूछा।

माता ने रुंआसे स्वर में कहा–राजन्! मैं आपके द्वार पर पुत्र की भिक्षा मांगने आई हूं। मेरा पुत्र पर्वतक नारदजी के साथ विवाद में उलझ गया है। उसने जो पक्ष रखा है उससे लगता है कि वह मिथ्या है। फिर उसने अपनी बात को सिद्ध करने के लिए जीभ निकलवाने की भी बात कह दी। एक ओर स्वयं की प्रतिष्ठा का प्रश्न है तो दूसरी ओर दण्ड का विधान। इससे मेरा घर बर्बाद हो जाएगा। मैं कहां और कैसे रहूंगी? यह विवाद कल आपके सामने आने वाला है। उसका समाधान अब आपके ही हाथ है। राजा वसु उपाध्याय की पत्नी की बात सुनकर दुविधा में पड़ गये। उन्होंने कहा—माताजी! नारदजी जो अर्थ कर रहे हैं अर्थ तो वही सही है। फिर मैं गलत अर्थ को सही कैसे ठहराऊं? गलत फैसला देना मेरी सत्य-परायणता का हनन है। यह काम मेरे से कैसे होगा? माता ने झोली पसारते हुए कहा—चाहे कुछ भी हो, यह अनुकम्पा तो आपको करनी ही होगी। अत्यधिक आग्रह और करुणा के सामने राजा वसु का दिल पसीज गया। उन्होंने वृद्धा को आश्वस्त करते हुए घर भेज दिया।

दूसरे दिन बाजार के चौराहों और तिराहों पर एक ही चर्चा थी कि महाराज वसु आज एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर अपना फैसला देंगे। हजारों लोग उस फैसले को सुनने के लिए राजसभा में उपस्थित हुए। सभी के चेहरों पर एक ही जिज्ञासा, उत्सुकता और कुतूहल था कि देखें, न्याय किसके पक्ष में होता है।

राजा वसु राजसभा में अपने अधर सिंहासन पर विराजमान थे। दोनों पक्ष अपनी-अपनी दलीलों को प्रस्तुत कर अपने-अपने अर्थों को स्पष्ट कर रहे थे। सारी जनता चित्रलिखित बनी हुई ध्यानपूर्वक उन अर्थों का श्रवण कर रही थी। राजा वसु भी कहीं कहीं अपनी टिप्पणी से उस सभा का मनोरंजन कर रहे थे।

अन्त में जब पर्वतक और नारद की सारी चर्चा समाप्त हो गई तब दोनों ने कहा—महाराजन्! अब न्याय की तराजू आपके हाथ में है। उस पर तोल कर आप किसको उत्तीर्ण करते हैं, यह निर्णय करना अब आपका काम है।

राजा वसु सत्य के आसन पर विराजित थे, फिर भी उनका मानस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असत्य से आच्छन्न था। राजा ने सत्य को तिरोहित करते हुए जब अपना निर्णय देना चाहा तब सभा में एक गहरी खामोशी छा गई। जनता उत्कर्ण होकर राजा को सुनने में तल्लीन हो गई। राजा ने कुछ गम्भीर होते हुए कहा—महानुभावो। मैं न्याय के सिंहासन पर बैठा हूं। न्याय करना मेरा काम है। वह निर्णय किसी के पक्ष में जा सकता है अथवा किसी के विपक्ष में। पर न्याय न्याय ही होता है। अभी मैंने अजशब्द को लेकर दोनों पक्षों को सुना। उसका एक अर्थ है—बकरा तो दूसरा अर्थ है-पुराना धान्य। मेरे मतानुसार अज का अर्थ बकरा ही है, क्योंकि मैंने अपने गुरु उपाध्यायजी के मुंह से भी ऐसा सुना था।

इतना सुनते ही सारी सभा स्तब्ध-सी रह गई। पर्वतक के समर्थक अपने पक्ष में निर्णय सुनकर हर्ष से बांसों उच्छलने लगे। नारद के समर्थकों में मायूसी छा गई। अब स्वकृत प्रतिज्ञा के अनुसार नारदजी के लिए अपनी गर्दन उतरवाने का अवसर था। फिर भी सत्यप्रिय नारद ने गरजते हुए कहा—अरे! है कोई सत्यसहायक देव! न्याय के सिंहासन पर बैठकर राजा भी इस प्रकार का पक्षपातपूर्ण फैसला देते हैं तो इस पृथ्वी पर धर्म का रक्षक कौन होगा? यदि मेरा पक्ष सत्य से परिपूर्ण है तो ऐसे पक्षपाती राजा को हाथों-हाथ फल मिलना चाहिए। इतना कहते ही राजा वसु धड़ाम से सिंहासन सहित नीचे भूमि पर आ गिरे। उनको ऐसी मर्मस्पर्शी चोट लगी कि वहीं उनका प्राणान्त हो गया। इस घटना से लोगों को एक बोधपाठ सीखने को मिला कि असत्य बोलने का कितना घातक परिणाम होता है?

१२. चिलातपुत्र

मगध जनपद का रमणीय और आकर्षक नगर राजगृह। वह सुदूर देशों में भी प्रसिद्धि प्राप्त था। उसका ऐश्वर्य और वैभव किसी से छिपा नहीं था। जन-जन के मुख पर उसकी संपन्नता की चर्चा सुनी जा सकती थी। अनेक लोग उसकी ऋद्धि-सिद्धि और समृद्धि को देखने के लिए वहां आते थे। उसी नगर में एक सार्थवाह भी रहता था। उसका नाम था धन। उसके भद्रा नाम की पत्नी थी। उसका भरा-पूरा परिवार सभी प्रकार से सुखी था। उसके छह सन्तानें थीं। उनमें पांच पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्रों के नाम थे-धन, धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। पुत्री का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम था सुंसमा। पुत्री देखने में सुन्दर और फूल की तरह सुकोमल थी। वह भाइयों की छोटी लाडली बहिन और माता-पिता की इकलौती पुत्री थी, इसलिए परिवार के सभी सदस्यों का उस पर अत्यधिक आकर्षण और स्नेह बना हुआ था।

धन सार्थवाह के पास एक दासपुत्र भी रहता था। उसका नाम था चिलात। वह शरीर में मांसल और हृष्ट-पुष्ट था। उसकी सभी इन्द्रियां स्वस्थ थीं। वह बच्चों को क्रीड़ा कराने में कुशल था। धन सेठ ने अपनी पुत्री सुंसमा को क्रीडा कराने तथा उसे यत्र-तत्र घुमाने का दायित्व उस दासपुत्र को सौंप रखा था। वह अन्य शिशुओं के साथ भी खेला करता था। वह सुंसमा को गोद में लेकर उसे अनेक क्रियाकलापों से खुश रखने का प्रयत्न करता था। कभी वह उसे रमाता तो कभी लडाता। कभी रोती हुई को हंसाता तो कभी हाथ में खिलौना देकर उसका मनोरंजन करता था। कभी वह बच्चे के साथ बच्चा बन जाता तो कभी उसी के साथ खेलने भी लग जाता। इस प्रकार उसके पास मनोरंजन के विविध उपाय थे।

जहां चिलात बच्चों के मन को बहलाने की कला में निष्णात था वहीं वह चोरी करने और बच्चों को डराने-धमकाने में भी कम नहीं था। वह अवसर देखकर किसी के अलंकार, किसी की कर्पदिकाएं, किसी के खिलौने तथा किसी के वस्त्र आदि भी चुरा लेता था। कभी वह किसी को डराता-धमकाता तो कभी वह किसी को पीट भी देता था। उसके इस दुर्व्यवहार से सभी बच्चे तंग आ चुके थे। वे आंखों में आंसू भरते हुए कभी रोते तो कभी चिल्लाते थे।

कुछ दिन बीत जाने पर बच्चों ने अपने-अपने मां-बाप से चिलातपुत्र की शिकायत कर दी। एक दिन उन बच्चों के माता-पिता एकत्रित होकर सेठ धन के पास आए। वे क्रोध से तमतमाते हुए उपालम्भ के स्वर में बोले—श्रेष्ठिवर! आपका दासपुत्र हमारे बच्चों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता। आप उसे समझाएं। हमारे बच्चे कब तक उसके दुर्व्यवहार को सहते रहेंगे?

धन सार्थवाह ने भी उनकी बात पर ध्यान देकर चिलात को ऐसा करने से रोका, उसे कड़ी डांट-फटकार लगाई। कुछ दिन तो चिलात शान्त रहा, उसके बाद फिर वही घोड़ा और वही मैदान। वह अपनी हरकतों से बाज नहीं आया, पुनः पुनः वही गलतियां करने लगा। अन्ततः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेठ ने अवज्ञापूर्वक उसको अपने घर से बाहर निकाल दिया।

सेठ के घर से निकलने पर चिलातपुत्र और अधिक स्वेच्छाचारी हो गया। वह सब जगह बेरोक-टोक घूमने लगा। उसमें मद्य, मांस, द्यूत, परस्त्रीगमन और चौर्यकर्म आदि अनेक दुर्व्यसन घर कर गए।

उस राजगृह नगर के आस-पास आग्नेय कोन में सिंहगुफा नाम की एक चोरपल्ली थी। उसमें विजय नाम का चोर सेनापति रहता था। वह बड़ा ही अधार्मिक, क्रूर, साहसिक और महाक्रोधी था। वह अपने तस्कर अनुयायियों को सदा 'मारो-छेदो और काटो' आदि की प्रेरणा से प्रेरित करता रहता था। उसका प्रतिदिन का कार्य था–नगरघात करना, गायों को चुराना, मनुष्यों को लूटकर बन्दी बनाना, पथिकों को मारना, सेंध लगाकर चोरी करना, घरवासियों को बेघर करना और सामान्य जनता को उत्पीड़ित करना। इस प्रकार वह चोर अपने कारनामों से नगर-नगर और गांव-गांव में प्रसिद्ध हो गया था। लोग उसके नाम से भयभीत और आतंकित थे।

एक दिन वह चिलात भी घूमता-फिरता हुआ उस चोरपल्ली में जा पहुंचा। चोर सेनापति से उसका परिचय हुआ। उसने 'विजय' तस्कर की अधीनता स्वीकार करली। धीरे-धीरे वह चिलात भी वहां रहकर चौर्यकर्म में कुशल हो गया। सेनापति विजय तस्कर ने उसे सब प्रकार से योग्य जानकर उसे अनेक प्रकार की चोरविद्याएं, चोरमंत्र तथा चोरी के रहस्य सिखा दिए।

कुछ समय के पश्चात् चोर सेनापति विजय का देहावसान हो गया। उसके अधीन रहने वाले पांच सौ चोरों ने मिलकर चिलात तस्कर को चौर्यकर्म में अग्रगण्य जानकर उसका चोरसेनापति के रूप में अभिषेक कर दिया। अब वह चोरों का सेनापति बन गया। वह भी अपने स्वामी की भांति अधर्म का अनुगामी और महाक्रूरकर्मा था। वह अपने अधीन रहने वाले पांच सौ चोरों का अधिपतित्व करता हुआ उनकी सुरक्षा का दायित्व निभा रहा था।

एक दिन अचानक चिलात को बचपन की स्मृतियां ताजी हो आईं। उसका सुंसमा के प्रति रहा हुआ अनुराग जाग्रत हो गया। रह-रह कर उसके मन में सुंसमा को क्रीडा कराने, खिलाने तथा उसका मनोरंजन कराने की बातें याद आने लगीं। अब भी उसके प्रति उसका मोह और आसक्ति का बन्धन दूर नहीं हुआ था। अवसर देखकर एक दिन उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने तस्कर साथियों को निर्देश देते हुए कहा–बंधुओ! आज हमें राजगृह नगर जाना है। वहां के धनाढ्य सेठ धन के यहां चोरी करनी है। उसके सुंसमा नाम की एक पुत्री है। वह दिव्यरूपा और शरीर में सुकोमल है। उसके प्रति मेरा अनुराग है। इसलिए सेठजी के यहां अपहृत किया हुआ कनक, रत्न, मणि और मौक्तिक आदि विपुल धन तुम्हारा होगा और उनकी पुत्री सुंसमा मेरी होगी।

चोरों ने उसकी शर्त को स्वीकार कर लिया। उसके निर्देशानुसार सभी चोर अपने-अपने शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और कवचित हो गए। वे अपने स्वामी का अनुगमन करते हुए राजगृह के पास वाले जंगल में पहुंच गए। वहां उन्होंने दिन का विश्राम किया। अर्धरात्रि बीत जाने पर चोरों ने चोरी के लिए वहां से प्रस्थान किया। सारा नगर निद्रादेवी की गोद में सो रहा था। तस्कर चिलात अपने पांच सौ तस्कर अनुयायियों के साथ राजगृह नगर के पूर्ववर्ती द्वार पर आया। उसके पास तालोद्घाटिनी विद्या थी। उसने विद्या का स्मरण कर कपाटों पर मंत्रित जल छिड़का। विद्या के प्रभाव से द्वार के कपाट ऐसे खुल गए कि मानो किसी ने उनको बन्द ही नहीं किया। वह राजगृह नगर में प्रविष्ट हुआ और चलते-चलते धन सार्थवाह के घर के समीप पहुंच गया। उसने वहां अपने मंत्र देवता का आह्वान करते हुए कहा—हे देव! मैं धन सार्थवाह के यहां चोरी करने की इच्छा से अपने साथी चोरों के साथ सिंहगुफा से आया हूं। मुझे अपने इस कार्य में सफलता मिले, यह कहकर उसने धन सार्थवाह के घर का द्वार खोला।

धन सार्थवाह सोया हुआ था। एकाएक उसकी नींद खुली। उसने पांच सौ चोरों के साथ सेनापति चिलात को देखा। बहुसंख्यक चोरों के सामने धन और उसके पुत्रों का क्या जोर चल सकता था। वे सब निःसहाय थे। चोरों को देखकर वे सभी भयाक्रान्त, त्रसित, उद्विग्न होकर एकान्त में चले गए। चोरों ने सेठजी के घर विपुल धन-माल बटोरा, उसकी गठरियां बांधी और सुंसमा पुत्री का अपहरण कर वे सभी पल्ली की ओर प्रस्थान कर गए।

चोरों के प्रस्थान करने के बाद धन सार्थवाह ने अपने घर को सम्भाला। धन की हानि के साथ-साथ सुंसमा को अपहृत हुआ जानकर सेठ के मन पर वज्राघात-सा हो गया। उसे धन चुराए जाने की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी कि सुंसमा के अपहरण की। उसकी आंखों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आंसू थे और चेहरे पर उदासी। वह तत्काल नगररक्षकों के पास पहुंचा और उन्हें चोरी की घटना और सुंसमा को ले जाने की बात कही। सेठ ने प्रार्थना के स्वरों में कहा—देवानुप्रियो! मैं सुंसमा को चोरों से मुक्त कराना चाहता हूं। तुम लोग मेरा सहयोग करो। चोरों से जितना धन हाथ लगेगा वह सब तुम्हारा होगा और सुंसमा को मैं रख लूंगा।

धन के लोभ में आकर उन नगर-आरक्षकों ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। वे सेठ की पुत्री को अपहर्ताओं से मुक्त कराने के उद्देश्य से तथा धन पाने की लालसा में वहां से रवाना हुए। वे शस्त्रास्त्रों से सज्जित थे। वे सिंहनाद करते हुए तथा क्षुब्ध महासागर की भांति धरती को शब्दायमान करते हुए आगे बढ़ रहे थे। आगे-आगे पांच सौ चोर भाग रहे थे और उनका पीछा करते हुए आरक्षक दौड़ रहे थे। अन्त में वे उस स्थान पर पहुंच गए जहां चोर सेनापति चिलात था। वे चिलात से युद्ध करने लगे। आरक्षकों ने सेनापति चिलात को क्षत-विक्षत कर उसे भगा दिया। उसके पांच सौ चोरों में से कुछ आरक्षकों के हाथ मारे गए, कुछेक क्षत-विक्षत होकर भाग गए और कुछ चोरों ने मरने की आशंका से भागते हुए विपुल धन-सुवर्ण को इधर-उधर फेंक दिया। नगर-आरक्षकों ने उस विपुल धन-सुवर्ण को बटोरा। वे उसे बटोर कर पुनः राजगृह नगर जाने को तैयार हो गए। उनको सेठजी का धन मिल चुका था, इसलिए चिलात तस्कर को पकड़ने और सुंसमा को उसके चंगुल से मुक्त कराने का उनका उत्साह भी ठंडा पड़ गया। सेठ धन ने उनको बहुत प्रेरित किया, कर्तव्य का बोध भी कराया, पर वे आगे बढ़ने के लिए तैयार ही नहीं हुए। आरक्षकों को अपने स्वार्थ की पूर्ति से मतलब था। वह पूरा होने पर वे धन लेकर राजगृह लौट गए।

उधर चिलात अपनी चोर सेना को क्षत-विक्षत होते देखकर और पलायन करते जानकर भयभीत हो गया। वह एकाकी ही सुंसमा को कंधे पर उठाकर प्रलम्ब मार्ग वाली अटवी में जा घुसा। अकेला धन सार्थवाह और उसके पांच पुत्र तब भी तस्कर सेनापति का पीछा कर रहे थे। वे अटवी में चिलात के पदचिह्नों का अनुगमन करते हुए और उसे दुष्ट-दुष्ट पुकारते हुए आगे बढ़ रहे थे।

चिलात ने दौड़ने में कोई कमी नहीं रखी। उसने जान लिया कि धन सार्थवाह और उसके पुत्र अब भी मेरा पीछा कर रहे हैं। अन्त में वह दौड़ते-दौड़ते बहुत थक गया। वह अपने आपको शक्तिहीन, वीर्यहीन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बलहीन और पराक्रमहीन-सा अनुभव करने लगा। अब वह आगे सुंसमा का निर्वहन करने में असमर्थ था, इसलिए उसने श्रान्त, क्लान्त और परिक्लान्त होकर तीक्ष्णधार वाली तलवार से उसका सिर काट दिया। एकाएक खून की धारा बह चली। धड़ को उसने वहीं छोड़ दिया, केवल कटे हुए मस्तक को बालों से पकड़कर वह पुनः उसी अटवी में जा घुसा।

सेठ और उसके पुत्रों ने सुंसमा का कटा हुआ धड़ देखा। उन्हें घोर दुःख हुआ। वे अरण्य में रुदन करने लगे, पर उनके रुदन को कौन सुनने वाला था? मृतशरीर उनके रुदन को अनुरागात्मक बंधन की कहानी मानकर मौन था। चारों ओर बिखरी हुई नीरवता अवश्य ही अपनी प्रतिध्वनि के मिष से उस रुदन को सुन रही थी। वे जिस उद्देश्य से चिलात का पीछा कर रहे थे अब उनका वह उद्देश्य भग्न हो चुका था। अब उसका पीछा करने का कोई सार नहीं था। पैर भी आगे बढ़ने से जवाब दे रहे थे। पुत्री का वहीं दाह-संस्कार कर वे पुनः राजगृह नगर लौट आए।

चिलात भागता हुआ अत्यन्त श्रान्त-क्लान्त हो गया था। उसके शरीर के रोम-रोम से स्वेद बह रहा था। उसके मन में विचारों की विविध कल्लोलें तरंगित हो रही थीं। वह सोच रहा था—यह क्या जीवन है? न सुख से खाना है और न सुख से सोना है। मन में हरदम अशान्ति बनी रहती है, चिन्ता और तनाव घुण की तरह खाए जा रहे हैं। मेरा यह चौर्यकर्म कितना निन्दनीय है, फिर भी मैं उसे छोड़ नहीं पा रहा हूं। मैं उसे छोडू या न छोडू, किन्तु चौर्यकर्म तो अवश्य ही मुझे एक दिन छोड़ देगा। मैं बेमौत किसी न किसी के हाथों मारा जाऊंगा। उस समय मेरी क्या दशा होगी, परलोक में मुझे कौनसा सुख मिलेगा? इन विचारों के साथ वह अपने गन्तव्यपथ की ओर बढ़ रहा था।

अचानक उसने एक को मुनि देखा। वे उस भयानक जंगल में एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे। उनके मुखमंडल पर अपूर्व शान्ति और दिव्यता झलक रही थी। सहसा चिलात के मुंह से निकल पड़ा—कहां तो ये उपशमधारी मुनि और कहां मैं? वास्तविक जीवन तो इनका है। मुझे भी इनसे शान्ति का पाठ पढना चाहिए, ऐसा सोचकर चिलात के पैर वहीं ठिठक गए। वह कुछ क्षणों तक अपलकदृष्टि से मुनि को देखता रहा। मुनि ने ध्यान संपन्न किया। वह मुनि के कुछ नजदीक आया। उसके एक हाथ में सुंसमा का मुंड था तो दूसरे हाथ में थी नंगी तलवार। उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनिवर को संबोधित करते हुए कहा—ओ मुने! तू मुझे भी शान्ति का मार्ग बता, अन्यथा यह नंगी तलवार तेरा अभिनन्दन करने में कभी नहीं हिचकिचाएगी। मुनि जंघाचारणलब्धिसंपन्न थे। वे संक्षेप में 'उपशम, विवेक और संवर'—इन तीन शब्दों का उच्चारण कर आकाश में उड़ गए।

चिलात इस दृश्य को देखते ही रह गया। वह वहां खड़ा-खड़ा शब्दों के अर्थ की मीमांसा कर रहा था। बार-बार अर्थ की अनुप्रेक्षा करते हुए उसने समझ लिया कि मुनिवर के उपशमशब्द का अभिप्रायः है—क्रोध को शान्त करना। विवेक का तात्पर्य है—शरीर और आत्मा की भिन्नता का बोध करना और संवर का आशय है—मन और इन्द्रियों का निग्रह करना।

जब तक मैं इन तत्त्वों से अपने आपको भावित नहीं करूंगा तब तक मैं शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा चिन्तन कर वह वहीं ध्यान में लीन हो गया। उसके पास रक्त से रंजित तलवार और सुंसमा का कटा हुआ सिर पड़ा था। रक्त के कारण अनेक वज्रमुखी चींटियां उसके इर्द-गिर्द आने लगीं, उसके शरीर को नोंचने लगीं। चिलात ने उपशम के सूत्र को पकड़कर उन पर क्रोध नही किया। विवेक का आलम्बन लेकर वह आत्मा से भिन्न शरीर का बोध कर रहा था और संवर के द्वारा कष्टों में भी इन्द्रिय और मन का निग्रह कर समत्व की साधना में लीन था। चींटियों ने उसके शरीर को नोंच-नोंचकर चलनी कर दिया, फिर भी उसकी समता अखंडित रही। अन्त में वह समभावपूर्वक कष्टों को सहकर शरीर का उत्सर्ग कर देवलोक में उत्पन्न हुआ।

१३. शील का चमत्कार

उज्जयिनी नाम की नगरी। वहां के प्रचण्ड शासक महाराज चंडप्रद्योत कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन कर रहे थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। जैसा उसका नाम था वैसा ही उसका गुण था। वह सबका कल्याण करने वाली थी। उसका जीवन बड़ा ही धार्मिक और पवित्र था। भगवान महावीर उसके आराध्यदेव थे। उसके नस-नस में भगवान के प्रति अगाध श्रद्धा रमी हुई थी। वह अपने धर्म एवं शील में पूर्णतया जागरूक और दृढ़ थी। सम्यक्‌दर्शन उसके जीवन का आधारस्तम्भ था। वह वैशाली के गणाध्यक्ष महाराज चेटक की चौथी पुत्री थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चंडप्रद्योत के मन्त्री का नाम था—भूदेव। वह राजा का प्रीतिपात्र और चतुर मंत्री था। वह विद्वान् और राजनीतिज्ञ था तो चरित्र की दृष्टि से सर्वथा शून्य था। चंडप्रद्योत उसे अपना मंत्री ही नहीं मानता था, मित्र के रूप में भी देखता था। यही कारण था कि उसने राजा के विश्वास को जीत लिया। इस विश्वास के कारण वह बिना किसी रोक-टोक के अन्तःपुर में भी आ-जा सकता था।

किसी के विश्वास को पाना एक बात है, किन्तु चरित्रनिष्ठ होना दूसरी बात है। वह हमेशा रानी शिवा को अपनी ललचाई आंखों से देखता था, रूपमाधुरी पाने को उत्सुक बना रहता था। वह रात-दिन यही सोचता रहता था कि वह दिन धन्य होगा जिस दिन मैं शिवा रानी को अपनी कामना की पूर्ति करते देखूंगा। रानी शिवा भी मन्त्री के अनुरूप उसका आदर-सत्कार करती थी, वह महाराज के मित्र होने के नाते उसका यथोचित व्यवहार भी निभाती थी, पर महारानी को पता नहीं था कि उसके भीतर वासना का ज्वालामुखी सुलग रहा है। व्यक्ति के लिए अग्नि उतनी खतरनाक नहीं होती, खतरनाक होती है राख से ढंकी हुई अग्नि। आदमी उसी से धोखा खाता है, छला जाता है।

एक दिन अवसर देखकर मंत्री भूदेव ने अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए महारानी की प्रियदासी को अपने आश्वासन में लिया। उसे प्रचुर धन दिया और उसके द्वारा अपना सन्देश भिजवाया—यह दासमंत्री महारानी के चरणों में न्यौछावर है। उसे आप अवश्य ही एक अवसर जरूर दें।

दासी अन्तःपुर में रानी के पास पहुंची और मंत्री द्वारा भिजवाया हुआ सन्देश कहा। दासी के मुख से ऐसी ऊलजलूल बातें सुनकर महारानी शिवा ने उसे फटकार लगाते हुए कहा—दूति! तू यहां पंचायती करने आई है अथवा दूतिकार्य करने! खबरदार, जो तूने कभी ऐसी बात कही। भविष्य में इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। दासी ने कांपते हुए रानी के पैर पकड़े, अपनी भूल के लिए क्षमा मांगी।

भूदेव की एक बार तो मनोगत आशा पर पानी फिर गया, पर विषयाकुल और कामी व्यक्ति को समझाना और उसे सन्मार्ग पर लाना दुष्कर कार्य होता है। वह अपनी लाचारी से कभी बाज नहीं आता। भूदेव तो पुनः ऐसे अवसर की ताक में था कि शिवा रानी उसके अधीनस्थ हो जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन राजा चंडप्रद्योत को किसी कार्यवश राजधानी से बाहर जाना था। राजा के साथ मंत्री का रहना अनिवार्य था, किन्तु मंत्री भूदेव रोग का बहाना बनाकर घर पर ही रहा। उसे उस दिन अच्छा अवसर मिल गया। उसने मौके का लाभ उठाया और वह सीधा राजमहल में चला गया। महारानी उसे देखते ही सावचेत हो गई। उसके हावभावों में मलिनता झलक रही थी, चेष्टाओं में दुश्चेष्टाओं की बू आ रही थी। रानी ने समझ लिया कि यह मेरा शील भंग करने की नीयत से यहां आया है, अन्यथा इसे तो अपने कर्तव्य के अनुसार राजा के साथ जाना चाहिए था।

भूदेव ने अपने मन के अन्तर्पट को खोलते हुए कहा—साम्राज्ञी! यह दास पुनः आपके चरणों में आया है। आज सुनहरा अवसर है। महाराज भी बाहर गए हुए हैं। इस मिलन के अवसर को आप न गवाएं। आप मुझे अपने सौन्दर्य-पान और सह-मिलन का अवसर दें। यह कहकर मंत्री ने कामांध होकर रानी का आलिंगन करना चाहा। ऐसी दुश्चेष्टा को देखकर रानी के आंखें अंगारों के समान जल उठीं। उसने सिंहनी के समान गर्जना करते हुए कहा—अरे दुष्ट! नराधम! मेरी आंखों से दूर हट जा। एक कदम भी आगे बढ़ाया तो समझ लेना कि तेरा सत्यानास अवश्यम्भावी है। तू प्रेम का ढोंग रचाकर, मित्रता का बहाना बनाकर यह पाप करना चाहता है। तुझे पता है कि राजा की पत्नी, मित्र की पत्नी मां के समान होती है। अपनी मां के साथ भी ऐसी दुश्चेष्टा! तुझे धिक्कार है।

महारानी की गर्जना सुनकर मंत्री घबराया और वह राजमहल के पिछवाड़े से खिसियाइ बिल्ली की भांति खिसक गया। अब उसे एक ही चिन्ता सता रही थी कि कहीं महाराज को इस गुप्त रहस्य का पता न लग जाए, अन्यथा मुझे भयंकर दंड से गुजरना होगा।

राजा चंडप्रद्योत बाहर से उज्जयिनी आया। मंत्री का पता किया तो ज्ञात हुआ कि वह बीमार है। राजा रानी के साथ उसके स्वास्थ्य की जानकारी के लिए उसके घर गया। रानी को देखकर मंत्री का दिल और अधिक धड़कने लगा। उसने सोचा—अब शायद मेरी पोल अवश्य खुलेगी और मुझे राजा के कोप का भाजन बनना होगा।

रानी ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया। वह तो केवल मंत्री को स्वकृत अपराध का बोध कराना चाहती थी। रानी मौन थी, किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंत्री रानी की ओर देख-देखकर रो रहा था। राजा ने समझा कि शायद यह पीड़ा से रो रहा है। पर रानी समझ गई कि यह पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता हुआ आंसू बहा रहा है।

मंत्री कुछ दिनों में स्वस्थ हुआ। एक दिन वह अन्तःपुर में जाकर महारानी के पैरों में पड़ गया। वह अपने कृत अपराध की क्षमा मांगने लगा और अपनी धृष्टता, दुष्टता और नीचता की भर्त्सना करने लगा। महारानी ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—भूल होना कोई बड़ी बात नहीं है, भूल का प्रायश्चित्त करना ही महानता है। वही व्यक्ति को सुधार सकता है। महारानी ने भी उसे गुप्त रहस्य प्रकट नहीं करने का वचन दे दिया। तब कहीं मंत्री आश्वस्त और विश्वस्त हुआ।

एक बार उज्जयिनी नगरी में भीषण अग्नि का प्रकोप हुआ। हवा के प्रबल वेग से उसकी प्रचंड ज्वाला सारे नगर में फैल गई। धूं-धूं कर अनेक मकान, दुकानें तथा अन्यान्य वस्तुएं जलने लगीं। अग्नि बुझाने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए, पर वे सब व्यर्थ थे। थोड़े ही समय में लाखों-लाखों का धन-माल जलकर स्वाहा हो गया। अग्नि बुझने का नाम ही नहीं ले रही थी। सारे नगर में कोलाहल और हाहाकार मचा हुआ था। लोग अपने-अपने घरों से भागकर सुरक्षित स्थानों में शरण ले रहे थे। राजा प्रजा की भलाई के लिए शोक-सागर में डूबा हुआ था। बुजुर्ग और अनुभवी लोगों की जबान पर एक ही स्वर था कि आज तक हमने ऐसी आग कभी नहीं देखी और न ही कभी सुनी। इससे लगता है यह कोई दैवी-प्रकोप है। यह आग तो कोई महासती ही बुझा सकती है।

अनुभवी लोगों के अनुभव के आधार पर सारे नगर में उद्घोषणा करा दी गई कि जो कोई नारी अपने आपको सती मानती है यदि वह यह कार्य करे, आग बुझाए तो जनता को इस दैवी-प्रकोप से मुक्ति मिल सकती है। अनेक कुलवधुओं ने इस परीक्षा की घड़ी में अपने सतीत्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया, पर वे अपनी कसौटी में खरी नहीं उतर सकी।

इधर महारानी शिवा ने भी अग्निकांड की उद्घोषणा सुनी। उसे अपने शीलधर्म पर पूरा विश्वास था। उसने अपने सतीत्व के परीक्षण के लिए उस समय को उपयुक्त समझा। वह राजमहल के ऊपर चढ़ी। उसने नमस्कार-महामंत्र का जाप किया और अपने अंजलिपुट में जल लेकर कहा—हे अग्निदेव! यदि मैं तन-मन से पवित्र हूं, मेरा शील अखण्ड है और यदि मैंने स्वप्न में भी अपने पति के अतिरिक्त परपुरुष की वांछा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न की तो यह अग्नि-ज्वाला जल के छींटे लगते ही शान्त हो जाए। यह कहकर रानी शिवादेवी ने अपनी अंजलि से जलकणों को चारों दिशाओं में फेंक दिया। देखते-देखते आग शान्त हो गई। सारे नगर में एक चमत्कार-सा घटित हो गया। जन-जन के मुख पर महासती शिवादेवी के सतीत्व की महिमा गूंजने लगी।

एक बार भगवान महावीर उज्जयिनी नगरी में समवसृत हुए। हजारों-हजारों लोग भगवान के दर्शनार्थ-धर्मश्रवणार्थ उद्यान में गए। महाराज चंडप्रद्योत और महारानी शिवा—दोनों राजपरिवार के साथ वहां उपस्थित हुए। उन्होंने भगवान की धर्मदेशना सुनी। महारानी शिवा के मन में वैराग्य का अंकुर अंकुरित हुआ। उसने भगवान से दीक्षाग्रहण करने की प्रार्थना की। राजा चंडप्रद्योत भी उसकी बलवती भावना देखकर उसमें बाधक नहीं बना। महारानी शिवा ने प्रभुचरणों में संयमजीवन ग्रहण कर महासती चन्दना के नेतृत्व में सुखपूर्वक संयम का पालन किया और अन्त में वह केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गई।

१४. शील का माहात्म्य

आज अंगदेश के प्रमुख नगर चम्पा में एक सन्नाटा छाया हुआ था। लोगों के चेहरे खिन्नता से गमगीन बने हुए थे। पूर्णिमा का दिन मानो अमावस्या की रात लेकर उगा था। शहर में सर्वत्र कुतूहल, जिज्ञासा और प्रश्नभरी निगाहें एक दूसरे को निहार रही थीं। एक ओर जनमानस में भय की रेखा व्याप्त थी तो दूसरी ओर लोगों में न्यायप्रियता और धर्मनिष्ठा के प्रति उंगली उठ रही थी। जहां देखो वहीं एक ही चर्चा सुनी जा रही थी कि आज सेठ सुदर्शन को शूली पर चढ़ाया जाएगा।

सेठ सुदर्शन ऋद्धि-सिद्धि संपन्न तथा रूप-लावण्य की सम्पदा से युक्त थे। उनके घर में अपार वैभव और सुख-सुविधाओं के साधन थे। उनका जीवन अनेक सद्‌गुणों की सुवास से सुवासित था। वे बारहव्रती श्रावक थे। उनके पिताश्री का नाम ऋषभदास तथा मातुश्री का नाम जिनमती था। दोनों धार्मिकवृत्ति के व्यक्ति थे। सेठ सुदर्शन के जीवन में भी माता-पिता के धार्मिक संस्कारों की प्रतिच्छाया थी, इसलिए उनकी धर्मप्रियता, सत्यवादिता और शीलनिष्ठा की खुशबू जन-जन में फैली हुई थी। वे महाराज द्वारा प्रदत्त नगरसेठ के सम्मान से भी सम्मानित थे।

सबको एक ही बात खटक रही थी कि सेठजी को शूली की सजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किस बात की? उन्होंने ऐसा कौन-सा बड़ा अपराध किया है जिससे उनको मृत्युदंड दिया जा रहा है। क्या कोई छोटी-मोटी सजा से उनका छुटकारा नहीं हो सकता था? कोई इस घटना को अंगदेश के अधिपति धात्रीवाहन की क्रूरता दर्शाकर राजा की न्यायप्रियता को कोस रहा था तो कोई इसे सेठजी के क्रूर कर्मों का विपाक बताकर कर्मवैचित्र्य पर अफसोस जता रहा था। कोई कह रहा था कि सेठजी क्या दूध से धुले व्यक्ति हैं, जिनसे कोई गलती ही न हो। ऐसे बड़े-बड़े व्यक्ति ही पर्दे के पीछे ऐसी भयंकर गलतियां करते हैं। वे पर्दाफाश होने पर ही पकड़े जाते हैं, अन्यथा कोई उनका बाल बांका भी नहीं कर सकता। धर्म की ओट में क्या कुछ नहीं चलता? कोई कह रहा था कि किसे कल्पना थी कि सेठजी भी ऐसा जघन्य अपराध कर देंगे? कामदेव के सामने बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी अपनी साधना से भ्रष्ट हो जाते हैं तो फिर सेठ सुदर्शन की बात ही क्या? उन्होंने राजा धात्रीवाहन की महारानी अभया से बलात्कार करने का प्रयत्न किया है। अपनी कामवासना को शान्त करने के लिए उन्होंने राजमहल में घुसकर रानी अभया के सतीत्व को भंग करने का प्रपंच रचा है। क्या यही है सेठजी की शीलधर्मिता ! क्या यही है सेठजी की शीलनिष्ठा!

यह शीलभंग नहीं तो और क्या है? ऐसे दुराचारी धर्मात्मा के लिए शूली के सिवाय और क्या दंड हो सकता था?

सारा बाजार विविध अफवाहों से गर्म था। जितनी सोच उतने ही कहने के प्रकार। जितने मस्तिष्क उतने ही सोचने के प्रकार। किसी को किसी के विचारों से बांधा नहीं जा सकता, किसी को किसी का मन्तव्य जताकर भी किसी की जबान को बन्द नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति कहने-सोचने में स्वतंत्र है। जब तक सचाई प्रकट नहीं होती तब तक जनता-जनार्दन की भावनाओं को मोड़ना भी कठिन होता है।

सूर्योदय की दो घटिका के पश्चात् चार वधिक सेठ सुदर्शन को पकड़कर श्मशान भूमि की ओर शूली पर चढाने के लिए ले जा रहे हैं। कोई व्यक्ति सेठजी को देखकर आंखों से आंसुओं की धार बहा रहा है तो कोई सेठजी के माथे पर कलंक का टीका मानकर उनकी दृढ़धर्मिता पर विश्वास कर रहा है। कहीं न्याय के प्रति हाहाकार है तो कहीं सेठजी के प्रति तिरस्कार है। सेठश्री सर्वथा भयमुक्त होकर वधिकों के साथ भीड़ भरे मार्ग से आगे बढ़ रहे हैं। उनके नेत्रयुगल जमीन में गढ़े हुए हैं। उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन में न तो रानी अभया के दोषारोपण से उद्वेलन है और न महाराज धात्रीवाहन द्वारा दिए गए मृत्युदंड का रोष है। जनता क्या कहेगी, इसकी भी उनको तनिक परवाह नहीं है। वे समताभाव में तल्लीन बने हुए आत्मस्थ हैं। उन्हें अटूट विश्वास है कि देव, गुरु और धर्म के प्रभाव से सब कुछ मंगल ही मंगल होगा। सचाई स्वयं प्रकट होकर सबके सामने प्रस्तुत होगी और उन पर लगी कालिमा की स्याही स्वतः धुलकर साफ हो जाएगी। वे मन ही मन अपने इष्ट—नवकार-महामंत्र को जपने में तल्लीन हैं। नगर की पूरी परिक्रमा कर वे वधिकों के साथ श्मशानभूमि में पहुंचते हैं।

वधिकों ने सेठ सुदर्शन से कहा—महानुभाव! अब हम आपको शूली पर चढ़ाने वाले हैं। अब उसका समय भी आ रहा है। यदि आपकी कोई अन्तिम इच्छा हो तो आप उसे कहें। हम उसे पूरी करने का प्रयत्न करेंगे। सेठ ने कुछ गम्भीर होते हुए कहा—अब अनिच्छा ही मेरी सबसे बड़ी इच्छा है। उसे आप लोग पूरी कर सकें तो मेरे जीवन की सबसे बड़ी मुराद सिद्ध होगी। उसके पूरी होने पर मैं भी अपने आपको धन्यात्मा, पुण्यात्मा समझूंगा। समाधान का समाधान क्या हो सकता था? जिसकी सब इच्छाएं निःशेष हो जाती हैं वही दुनिया का महान् व्यक्ति हो सकता है और वही दूसरों को कुछ दे सकता है। सेठ सुदर्शन ने भी अन्तिम समय में उसी उदाहरण को प्रस्तुत कर दिया। वधिकों के पास अब शूली के सिवाय देने को क्या बचा था? नगराध्यक्ष की अनुमति पाकर वधिकों ने रोते-बिलखते हजारों दर्शकों के सामने सेठजी को शूली पर चढ़ा दिया। सेठजी आंखों को बन्द कर नमस्कार-महामंत्र के जाप में ध्यानस्थ हो गए। उस समय उन्हें शूली की चुभन का किंचित् भी अनुभव नहीं हुआ। मात्र जो कुछ उन्हें अनुभव था वह थी वीतरागता और आत्मा की सन्निकटता।

हजारों आंखें इस क्रूर दृश्य को देखकर क्षणभर के लिए निमीलित हो गईं। अगले ही क्षण लोगों ने देखा कि सेठजी प्रसन्नमुद्रा में शूली की जगह सिंहासन पर विराजमान हैं। पास में वधिक मूर्च्छित होकर भूमि पर पड़े हुए हैं। सहसा जनता को अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ कि यह कोई सपना है अथवा कोई चमत्कार! शूली को सिंहासन बना देखकर सारी जनता विस्मितमना होकर विस्फारित नेत्रों से उसे देख रही थी। रह-रहकर सबके मन में सेठ सुदर्शन की प्रशान्तमुद्रा और नयनों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिबिम्बित शील का माहात्म्य उनको आह्लादित कर रहा था।

सारे शहर में बिजली की भांति वह आकस्मिक और विस्मयकारी घटना फैल गई। जिसने भी इस घटना को सुना वह उसे देखने और जानने का लोभ संवरण नहीं कर सका। हजारों-हजारों कदम उस दृश्य को देखने के लिए श्मशानभूमि की ओर बढ गए।

जब यह संवाद राजमहलों तक पहुंचा तो राजा धात्रीवाहन भी सब कार्यों को छोड़कर उत्सुकतावश शीघ्रातिशीघ्र वहां आ पहुंचा। वहां का दृश्य देखकर वह गद्‌गद और विस्मयातिरेक से भर गया। उसने सेठ सुदर्शन के चरणों में प्रणाम करते हुए कहा—महाभाग! आप धन्य हैं, पुण्यात्मा हैं, महान् हैं। मैंने आपकी महानता का अंकन नहीं किया, इसलिए मैंने आप जैसे निर्दोष व्यक्ति को दोषी मानकर मृत्युदंड से दंडित किया। अब आप ही मेरा कल्याण और उद्धार कर सकते हैं। काश! कितना अच्छा होता कि यह पृथ्वी फट जाती और मैं उसमें समा जाता। हे महात्मन्! आप मुझे आज्ञा दें जिससे मेरा मार्ग प्रशस्त हो सके।

सेठ सुदर्शन राजा के वचनों को सुनते हुए भी तटस्थ बने हुए थे। न तो उनके मन में राजा के प्रति किसी प्रकार का आक्रोश था और न अपनी प्रशंसा सुनकर गर्व। वे पहले भी समतासागर में निमज्जन कर परम आनन्द का अनुभव कर रहे थे और अब भी उनकी समरसता पूर्ववत् बनी हुई थी। सेठ ने राजा को शान्त करते हुए कहा—महाराजन्। इसमें आपका कोई दोष नहीं है, मेरे आत्मकृत कर्मों का दोष है। पूर्वभव में मैंने ऐसा कोई दोष सेवन किया था, जिसके परिणामस्वरूप मेरे पर यह मिथ्या-आरोप लगा और मुझे शूली की सजा मिली।

पुनः राजा ने अपनी जिज्ञासा रखते हुए कहा—नगरसेठ! मैं अभी भी यथार्थ स्थिति से परिचित नहीं हूं। मैं अज्ञात को ज्ञात करना चाहता हूं। मैंने जो कुछ किया वह दूसरों के कहने-सुनने के आधार पर किया। अब आप मुझे यथार्थ घटना से अवगत कराने का कष्ट करें।

सेठ सुदर्शन ने राजा को वचनबद्ध करते हुए कहा—यदि आप अपनी ओर से महारानी अभया को अभयदान दें तो मैं विस्तार से सारी बात बता सकता हूं, अन्यथा नहीं। राजा ने सेठजी की बात को स्वीकार करते हुए कहा—मैं वचनबद्ध हूं। अब आप उसे स्पष्ट करें। सेठ ने अथ से लेकर इति तक घटना का भेद खोलते हुए कहा—राजन्! इस चम्पा नगरी में मेरा एक मित्र कपिल है। उसकी पत्नी का नाम कपिला है। एक दिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यवश मैं उसके घर गया। उसकी पत्नी कपिला मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध हो गई। उसी दिन से वह मुझे अपने प्रेमजाल में फंसाने का प्रयत्न करने लगी। एक दिन कपिल भी किसी कार्यवश दूसरे गांव गया हुआ था। कपिला ने अवसर का लाभ उठाया। उसने अपनी दासी से मुझे कहलवाया कि आपके मित्र कपिल बहुत बीमार हैं। वे आपको बहुत याद कर रहे हैं। यदि आप अपने मित्र से मिल सकें तो उनके चित्त को अत्यधिक समाधि उत्पन्न होगी। मैं मित्रस्नेह के कारण कपिल के घर पहुंचा। देखा तो कपिल घर में नहीं था। मुझे लगा कि दाल में कुछ काला है। मुझे देखकर कपिला की खुशी मानो सात समन्दर पार कर गई। उसने मेरा आतिथ्यसत्कार किया। वह मुझे एक कमरे में ले गई, किवाड़ों को बन्द कर दिया और मुझ से कामवासना को शान्त करने की याचना करने लगी। मैं यह सब देखकर विस्मित हो गया। सोचा, आया तो था मित्र का कुशलक्षेम पूछने और कहां किसके फन्दे में फंस गया। अब यह पंछी इस पिंजरे से कैसे मुक्त हो सकता है, यह उपाय खोजने लगा। इसी बीच कपिला अपनी कामुकता के कारण इतनी अधिक काम से विह्वल हो गई कि वह मेरा आलिंगन करने पर उतारु हो गई। बार-बार मुझे उत्तेजित करने पर भी जब उसने मेरी निर्विकारता को देखा तब उसने पूछा—क्या आप पौरुषहीन हैं? उसका कहा हुआ वह वचन मेरे लिए अच्छा उपाय बन गया। मैंने साहस बटोरकर बुद्धिमत्ता से काम लिया। मैंने कुछ लज्जा को दर्शाते हुए और उदासीनभाव प्रकट करते हुए उससे कहा—हां, मैं तो पुरुषत्वहीम हूं, नपुंसक हूं। इस स्थिति में मैं आपकी इच्छा को कैसे पूरी कर पाऊंगा? इसलिए आप मुझे माफ करें और मुझे अपने घर जाने दें। कपिला ने मेरी बात को सत्य मानकर मुझे मुक्त कर दिया।

कुछ दिनों बाद नगर में वसन्त-महोत्सव का आयोजन था। उस दिन नगर के प्रायः सभी संभ्रान्त लोग अपने-अपने परिवार के साथ आमोद-प्रमोद मनाने के लिए उस महोत्सव में सम्मिलित हुए। स्वयं आप महाराजश्री भी महारानी अभया के साथ वहां आए। कपिला भी उस महोत्सव को देखने के लिए आई। मैं भी अपने चारों पुत्रों और पत्नी मनोरमा के साथ उस महोत्सव में गया। रानी अभया ने देवकुमार-तुल्य मेरे चारों पुत्रों को देखकर दासी से पूछा—ये पुत्र किसके हैं? ये पुत्र सेठ सुदर्शन के हैं—दासी ने कहा। कपिला पास में ही बैठी थी। उसने आपबीती सुनाते हुए रानी से कहा—'सुदर्शन तो नपुंसक हैं फिर ये पुत्र.....'। अभया ने कहा—तू तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठगी गई। सुदर्शन ने अपने आपको नपुंसक बताकर तेरे साथ विश्वासघात किया है। वह तो अत्यन्त सुन्दर चित्ताकर्षक पुरुष है। कपिला ने व्यंग्य कसते हुए अभया से कहा—खैर! मैं तो छली गई, किन्तु आप तो देव-अप्सरा हो। आप में यौवन की मादकता है। किसी को अपना बनाने की कला है। यदि आप सुदर्शन को अपना बना लें तब तो मैं मानूंगी कि आपने कुछ किया है, अन्यथा आपका अहंकार भी झूठा है। रानी अभया को कपिला के वचन का तीर लग गया। उसको अपने रूप-यौवन का अभिमान था। उस दिन से वह मन ही मन मुझे राजमहलों में बुलाने का उपाय खोजने लगी। इस कार्य के लिए उसने अपनी धायमाता पंडिता को नियुक्त किया। वह मेरे प्रत्येक क्रिया-कलापों पर ध्यान रखने लगी। उसे पता चला कि मैं चतुर्दशी का पौषध कर रात्रि के समय श्मशान में ध्यान करता हूं। पहरेदारों के होते हुए मुझे महलों में लाना भी सर्वथा असंभव और कठिन कार्य था, इसलिए उसने युक्तिपूर्वक सबसे पहले पहरेदारों पर अपना रौब जमाना अथवा उनको विश्वास में लेना चाहा। उसके लिए उसने एक षड्यन्त्र रचा। एक कुम्भकार को बुलाकर उसने मिट्टी की सात प्रतिमाएं बनवाईं। प्रतिदिन वह एक-एक प्रतिमा को कपड़े से ढंककर सिर पर उठाकर महलों में लाने लगी। प्रथम द्वार पर पहरा देने वाले प्रहरी ने उसे देखा और झल्लाते हुए पूछा कि कपड़ा लपेटा हुआ यह क्या है?

इससे तुझे क्या प्रयोजन? महारानी ने मुझे जो आदेश दिया है मैं उसी की अनुपालना कर रही हूं, पंडिता ने तमतमाते हुए कहा।

नहीं, मैं बिना दिखाए तुझे महलों में नहीं जाने दूंगा।

महारानी ने कहा है—इस पर किसी अन्य पुरुष की छाया नहीं पड़नी चाहिए। मैं मध्यरात्रि में इसकी पूजा करती हूं। इसलिए इसे किसी को दिखाना सर्वथा वर्जित है, धायमाता ने जोर देकर कहा।

चाहे कुछ भी हो बिना जांच-पड़ताल के तो तुम नहीं जा सकती, प्रहरी ने कहा।

धाय पंडिता उस वस्तु को दिखाना नहीं चाहती थी और प्रहरी बिना देखे उसे आगे जाने की अनुमति नहीं दे रहा था। इस रस्साकसी में धाय ने उस प्रतिमा को भूमि पर गिरा दिया। वह टूटकर चारों ओर बिखर गई। अब पहरेदार इस घटना से घबराया। उसने सोचा—महारानी को अवश्य ही इस बात का पता चलेगा। यह धाय भी महारानी से मेरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिकायत करेगी। पता नहीं, महारानी मुझे क्या दंड दे? अपने बचाव के लिए वह पंडिता से क्षमा मांगने लगा और भविष्य में ऐसा नहीं करने का वचन दिया।

इसी प्रकार धाय पंडिता ने अन्य छहों द्वारों पर भी ऐसा ही किया और वहां पर तैनात प्रहरियों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। अब उसका आने-जाने का मार्ग निरापद हो गया।

एक दिन मैं (सुदर्शन) चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान में पौषध कर रहा था। पंडिता वहां आई। वह बलिष्ठ थी। मैं निश्चल, मौन और ध्यानमुद्रा में स्थित था। उसने मुझे एक बड़े वस्त्र से ढांका, अपने सिर पर उठाया और बिना किसी रोक-टोक और बाधा के मुझे महलों में पहुंचा दिया। महारानी अभया की एक इच्छा पूर्ण हो गई। अब उसकी दूसरी इच्छा थी येन केन प्रकारेण मुझे वश में करना। उसने मुझे काम-सेवन के लिए बाध्य किया। उसने अनेक स्त्रीसुलभ चेष्टाओं हाव-भाव, कटाक्ष, हास्य-रुदन, क्रोध, राज्यलोभ आदि के द्वारा मुझे अपने प्रेमपाश में फंसाने का प्रयत्न किया, पर वह अपनी दुश्चेष्टाओं में सफल नहीं हो सकी। मैं भी आत्मचिन्तन की गहराइयों में डूबा हुआ मिट्टी के पुतले के समान बना हुआ था। जब अभया ने देखा कि उसके सब प्रयत्न असफल हो रहे हैं, उसकी कामना पूरी होने वाली नहीं है और रात्रि भी व्यतीत होने वाली है तब उसने मुझे फंसाने के लिए स्त्रीचरित्र का नाटक खेला। उसने अपने वस्त्र फाड़ डाले, अलंकारों को इधर-उधर फेंक दिया, नाखून से अपने शरीर को नोंच डाला, केशराशी को बिखेर दिया और जोरों से चिल्लाने लगी—बचाओ, बचाओ, यह दुष्ट पुरुष मेरा शील भंग कर रहा है। पता नहीं यह राजमहल में कैसे घुस आया? द्वारपाल रानी की आवाज सुनकर अन्तःपुर की ओर दौड़े और उन्होंने मुझे दबोच लिया। मुझे कैद कर उन प्रहरियों ने आपश्री के सामने प्रस्तुत किया। आपने मुझे शूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया। यह है मेरी घटित घटना की दास्तान।

राजा धात्रीवाहन अपने अकृत्य पर क्षुब्ध बना हुआ था और साथ में वचनबद्ध भी था। वह महारानी के लिए कुछ सोचता, उसके पूर्व ही रानी ने यह जानकर कि 'शूली सिंहासन बन गई है' लज्जा और भय के कारण महलों से कूदकर आत्महत्या कर ली। वह मरकर व्यन्तरी बनी। धाय पंडिता चम्पा नगर छोड़कर पाटलिपुत्र नगर में देवदत्ता वेश्या के यहां रहने लगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस घटना के घटित होने के पश्चात् सेठ सुदर्शन का सुयश दिग्दिगन्त में फैल गया। कालान्तर में चतुर्विध ज्ञान के धारक धर्मघोष स्थविर चम्पा नगरी में पधारे। उनसे प्रतिबुद्ध होकर सेठ सुदर्शन मुनि सुदर्शन बन गए। उन्होंने अनेक उपसर्गों को सहन किया। मुनिचर्या का सम्यक् प्रकार से निर्वहन करते हुए वे शुभध्यान एवं शुभ-अध्यवसायों से चार घनघाती कर्मों का क्षय कर केवलज्ञानी बन गए और अन्त में सब कर्मों का क्षयकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए।

१५. शील सुकर या दुष्कर?

काली-कजरारी रात। सर्दी का मौसम। ठंडक प्राणिमात्र को अपने-अपने घरों में रहने के लिए बाध्य कर रही थी। फिर भी श्रद्धालुजनों की भीड़ कथा-श्रवण के लिए नगर के बाहर जा रही थी। शहर के बाहर एक विशाल मठ था। वहां एक ब्रह्मचारी बाबा प्रतिदिन कथा किया करता था। उसकी वाणी में जादू भी था और मिठास भी। दोनों से आकृष्ट होकर जनता सर्दी-गर्मी की परवाह किए बिना उस वाणी का रसास्वादन किया करती थी।

एक दिन बाबाजी कथा का वाचन कर रहा था। प्रसंगवश उसमें एक जगह ब्रह्मचर्य का प्रकरण आ गया। उस सन्दर्भ में लिखा था—**'शीलं दुष्करम्'** अर्थात् शील का पालन करना अति कठिन है। बाबाजी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने अपने भक्तों से कहा—पता नहीं, शास्त्रों में क्या कुछ लिख दिया जाता है। ब्रह्मचर्य के पालन में कौनसी तपस्या करनी पड़ती है, कौनसा अनुष्ठान करना पड़ता है, कौनसा जप और ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है? मैं भी तो बालब्रह्मचारी हूं। मुझे तो इसमें कुछ भी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। अच्छा होता कि **'शीलं दुष्करम्'** के स्थान पर **'शीलं सुकरम्'**—शील का पालन करना सरल है, लिखा होता। तत्काल बाबा ने कलम मंगाई और उसने उस पंक्ति को काट दिया जहां **'शीलं दुष्करम्'** लिखा हुआ था। उसके स्थान पर उसने **'शीलं सुकरम्'** कर दिया।

भक्तों ने बाबा का यह कहकर प्रतिवाद भी किया कि बाबाजी! शास्त्रों की वाणी अनुभूत सत्य है। सत्यद्रष्टाओं ने उस सत्य का अनुभव करके ही लिखा है। वह शाश्वत सत्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता। आप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शायद ब्रह्मचर्य को जितना सहज-सरल आचरणीय मानते हैं वह प्रयोग-भूमि पर उतना सहज और साध्य नहीं है। उसे सिद्ध करने के लिए तपना-खपना पड़ता है। लगता है कि अभी तक आपने उसका अनुभव नहीं किया।

बाबा अपने मन्तव्य पर दृढ़ था और यह मानने को तैयार ही नहीं था कि ब्रह्मचर्य की साधना दुष्कर है। कथावाचन के पश्चात् सभा विसर्जित हुई। लोग अपने-अपने घर चले गए।

मठाधिपति बाबाजी भी अपनी समस्त दैनिक चर्याओं से निवृत्त होकर सोने की तैयारी कर रहा था। मुख्य द्वार को अर्गला लगाकर बन्द कर दिया गया। इतने में किसी आगन्तुक ने दरवाजे पर दस्तक दी। बाबा ने रोषारुण होते हुए मन ही मन सोचा—कम्बख्त! इस अन्धेरी रात में कौन आ धमका? उसने अपनी तेज आवाज में पूछा—कौन है? यहां क्यों आया है?

बाबा! मैं एक दुःखियारी अबला हूं। आपके आश्रम में रात्रिविश्राम चाहती हूं, इसलिए यहां आई हूं। जाना तो था मुझे कहीं और, किन्तु अन्धेरे में रास्ता भूल जाने के कारण नगर के बाहर की ओर चली आई। इधर प्रकाश की धुंधली-सी किरण दिखाई पड़ी। सोचा, यहां कोई मकान होना चाहिए। रात्रिविश्राम यहीं मिल जाएगा।

बहिन! यह तो साधु-संन्यासियों का स्थान है। यहां भला औरतों का क्या काम? यह तो साधु-सन्तों के ही रहने के काम आता है? रात्रि में यह स्थान औरतों के लिए सर्वथा वर्जनीय है।

बाबा ! कुछ भी हो। मैं अकेली स्त्री हूं, निःसहाय हूं। मुसीबत में फंस गई हूं। रात का समय है। अन्यत्र जाऊं तो कहां जाऊं? एक रात का काम है। आप अपनी ओर से मेरे ठहरने की कोई व्यवस्था कर दें ताकि रातभर मैं यहां रह सकूं और सुबह होने पर अपने घर चली जाऊं।

बाबा ने सोचा—अकेली बाई रात को कहां जाएगी? रात्रिविश्राम की ही तो बात है। दूसरे स्थान पर सो जाएगी।

बहिन के बहुत अधिक अनुनय-विनय करने पर बाबा का मन भी द्रवित हो गया। उसने मठ का मुख्य द्वार खोलते हुए बहिन से कहा—देखो, सामने मन्दिर है, वहां चली जाओ। द्वार बन्द कर सो जाना।

बाबा के कथनानुसार बहिन मन्दिर में चली गई। वह अपनी सास से लड़कर आई थी। आवेश में व्यक्ति कभी-कभी गलत निर्णय कर लेता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जब आवेश कम होता है तब उसे अपने किए हुए का पछतावा भी होता है और बुद्धि भी ठिकाने आती है। उस बहिन ने भी वैसा ही अनुभव किया। थकी मांदी बहिन को शीघ्र ही नींद ने आ घेरा।

इधर बाबा के मन में भी अचानक एक संकल्प उभरा। पवित्रता विकृति में बदल गई। उसने मन ही मन सोचा—आज मैंने एक अपूर्व अवसर अपने हाथों गंवा दिया। अकेली स्त्री, सुनसान रात्रि और सुनसान मेरा आश्रम। मुझे कौन रोकने वाला था कि मैं उसके साथ काम-सुख भोगता। संसार क्या है, सब लोग जानते हैं। किन्तु मैं तो अभी भी उससे अनभिज्ञ बना हुआ हूं। बन्दर अदरक के स्वाद को क्या जाने? उसके स्वाद को तो उपभोग करके ही जाना जा सकता है। मुझे भी उसका प्रयोग करके देखना चाहिए। खैर, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। बहिन मन्दिर में ही है। काम के संकल्प की प्रेरणा से बाबा मन्दिर में आया। उसने दरवाजा खटखटाया। बहिन की निद्रा टूट गई और साथ में वह सतर्क भी हो गई। उसने सोचा—हो न हो बाबा की नियति में बिगाड़ आया है। यदि मैंने कपाट खोल दिए तो यह अवश्य ही मेरे शील को भंग करेगा। उसने अर्गला लगाकर दरवाजों को और मजबूती से बन्द कर दिया। बाबा उसे बार-बार आवाज दे रहा है, पर वह बोलती नहीं है। बाबा ने उसे डराया, धमकाया और प्रलोभन भी दिया, किन्तु वह अपनी सुरक्षा का पूरा बन्दोबस्त कर निश्चिन्त थी।

जब बाबा ने देखा कि यह ऐसे वश में आने वाली नहीं है तो वह मन्दिर के ऊपर चढा और मन्दिर का गुम्बज तोड़ने लगा। यह देखकर बहिन और अधिक सतर्क हो गई। बाबा ने गुम्बज को तोड़कर छत में छेद कर लिया। अब उसने ऊपर से भीतर आने के लिए अपने पांव भीतर डाले। यह देखकर बहिन ने झटपट कपाटों को खोला और मठ के बाहर निकल गई। इधर बाबाजी अधर में ही लटकते रह गए। न घर के रहे और न घाट के। वापस ऊपर जाना हाथ की बात नहीं थी और नीचे कूदना भी उसके वश में नहीं था, क्योंकि गुम्बज का मुंह छोटा था। शरीर लहुलूहान हो गया। सारी रात उसने लटकते-लटकते बिताई।

प्रातःकाल भक्तलोग मन्दिर में आए। इधर-उधर बाबा को देखा, पर बाबाजी कहीं भी नजर नहीं आए। अचानक एक भक्त की दृष्टि मन्दिर के गुम्बज की ओर चली गई। उसने चिल्लाकर कहा—गजब हो गया। बाबा तो गुम्बज के मध्य लटके हुए हैं। भक्तलोग दौड़े। निसैनी लगाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाबा को वहां से निकाला। शरीर की मरहमपट्टी की। भक्तों ने बाबा से पूछा—आज रात को यह घटना कैसे घटित हुई? बाबा ने कहा—तुम लोग घटना की बात बाद में करना। पहले तुम उस पुस्तक और कलम को लाओ। मैंने अपने अनुभवहीन ज्ञान के कारण जो भूल की है, पहले मैं उसे सुधारूंगा। भक्तजन पुस्तक और कलम लेकर आए। बाबा ने जहां **'शीलं सुकरम्'** लिखा था उसके स्थान पर **'शीलं दुष्करम्, दुष्करम्, महामहादुष्करम्'** लिख दिया। भक्तलोग फिर भी उसकी बात नहीं समझे। बाबा ने सरलमना होकर अथ से इति तक आपबीती सुनाई और लोगों से कहा कि वास्तव में ब्रह्मचर्य की साधना दुरूह है, शील का पालन करना सरल नहीं है, अतिदुष्कर है।

१६. आकांक्षा से अनाकांक्षा की ओर

कौशाम्बी नगर का राजपथ प्रायः जनसमूह के आवागमन से जनसंकुल बना रहता था। आज वह दर्शकों की भीड़ से आकीर्ण था। कौशाम्बी के नवनिर्वाचित राजपुरोहित की सवारी उस पथ से गुजर रही थी। वे घोड़े पर सवार थे। उनके सिर पर छत्र था। राजसी लवाजमा उनके साथ था। राजपुरोहित बड़े ही शाही ठाठ-बाट से लोगों का अभिनन्दन-अभिवंदन स्वीकार करते हुए राजसभा की ओर बढ़ रहे थे।

पूर्व राजपुरोहित की विधवा पत्नी यशा अपने पुत्र कपिल के साथ खड़ी-खड़ी उस दृश्य को देख रही थी। अचानक उसकी आंखों से अश्रुधारा बह चली। अपनी मां को इस प्रकार रोते देखकर कपिल ने उसका कारण जानना चाहा। मां ने साड़ी के अंचल से अपने आंसुओं को पोंछते हुए कहा—वत्स। एक समय था जब तुम्हारे पिताश्री काश्यप भी इसी प्रकार छत्र लगाकर राजदरबार में आया-जाया करते थे। वे चौदह विद्याओं के पारगामी विद्वान् थे। राजा उनका बहुत ही मान-सम्मान किया करते थे। वे एक प्रकार से मानित राजगुरु थे। जिस समय तेरे पिता दिवंगत हुए उस समय तू अवस्था में बहुत छोटा था, इसलिए राजा ने तेरे स्थान पर दूसरे ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया। तू अवस्था के कारण उस पद से वंचित रह गया। आज इस दृश्य को देखकर मुझे तेरे पिताश्री की स्मृति हो आई, इसलिए मेरी आंखों में आंसू आ गए।

मां! तब तो मैं भी पढ़-लिख कर विद्वान् बनूंगा, कपिल ने अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना को प्रकट करते हुए कहा। कैसे बनोगे? एक तो हमारे यहां अर्थाभाव है और फिर तुझे पढाने वाला कौन है? पहले राजा की ओर से जो धन मिलता था वह भी अब तेरे पिताजी के जाने के बाद बन्द हो गया है। दूसरे यहां के सारे ब्राह्मण ईर्ष्यालु हैं। वे तुझे विद्यादान दे दें, मुझे संभव नहीं लगता। फिर भी यदि तेरी विद्याध्ययन की उत्कृष्ट इच्छा है तो तू श्रावस्ती नगरी में चला जा। वहां तेरे पिता के परम मित्र इन्द्रदत्त नाम के ब्राह्मण रहते हैं। वे तेरी विद्या पढ़ने की आकांक्षा को पूरी कर सकते हैं, यशा ने कहा।

कपिल की उत्कर्ष मनोभावना ने उसे पढ़ने के लिए प्रेरित किया। वह मां का आशीर्वाद लेकर वहां से रवाना हुआ, चलते-चलते श्रावस्ती नगर पहुंच गया और पूछते-पूछते इन्द्रदत्त ब्राह्मण के घर चला गया। ब्राह्मण ने उसका अतिथि-सत्कार करते हुए पूछा—तू कौन है? कहां से आया है? किसलिए आया है? कपिल ने उत्तर देते हुए कहा—भूदेव! मैं आपके परम मित्र काश्यप का पुत्र हूं। मेरा नाम कपिल हैं। मैं विद्याध्ययन के लिए आपके पास कौशाम्बी से आया हूं। मेरी मां ने मुझे भेजा है। इन्द्रदत्त कपिल के उत्तर से संतुष्ट हुआ। उसने शालिभद्र नाम के धनाढ्य व्यक्ति के पास उसकी भोजन और आवास की व्यवस्था कर अध्यापन कराना प्रारम्भ कर दिया।

प्रतिदिन कपिल का क्रम था कि सेठ के यहां भोजन करना और ब्राह्मण इन्द्रदत्त के पास विद्याध्ययन करना। ऐसा करते हुए उसे कुछ दिन बीत गए। सेठ के यहां एक दासी रहती थी। उसका नाम कपिला था। वह कपिल को भोजन परोसने का काम करती थी। वह हंसमुख और विनोदस्वभाव की थी। कपिल भी कभी-कभी उससे मजाक कर लेता था। प्रारम्भ में उसका दासी से संबंध मात्र दृष्टिस्नेह तक ही सीमित था। जब तक दासी कपिल को अपनी आंखों से नहीं देख लेती अथवा कपिल दासी को अपनी आंखों से नहीं देख लेता तब तक दोनों में तृप्ति नहीं होती थी। बढ़ते-बढ़ते वह स्नेह कामराग में परिवर्तित हो गया। एक दिन दासी ने अपनी अन्तर्भावना को प्रकट करते हुए कपिल से कहा—मैं तो आपको अपना सर्वस्व दे चुकी हूं। आप उसे स्वीकार करें अथवा ठुकराएं। अब मैं आपके बिना नहीं रह सकती। कपिल ने भी उसकी कोमल भावना को आदर देते हुए कहा—अब तेरे बिना मेरा सहारा ही क्या है? इधर कपिल को उपाध्याय का भय, परिवार का भय तथा जाति का भी भय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था कि रहस्य खुलने पर मेरे माथे पर एक कलंक लग जाएगा, लोग मुझे क्या कहेंगे? पर स्नेह का सूत्र इतना प्रगाढ़ होता है कि व्यक्ति उस समय करणीय-अकरणीय और उचित-अनुचित्त के भेद को भी भूल जाता है। वह दुर्ग को भेद सकता है, स्नेह के बन्धन को नहीं तोड़ सकता। कपिल के साथ भी ऐसा ही घटित हुआ।

ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे थे, दासी महोत्सव निकट आ रहा था। एक दिन दासी ने कपिल से कहा—स्वामिन्। दासी महोत्सव का समय सन्निकट है। मेरे पास महोत्सव मनाने के लिए फूटी कौड़ी भी नहीं है। मेरी सहेलियां मेरी निर्धनता पर हंस रही हैं। अब मेरी व्यथा मैं किसे सुनाऊं? आप नहीं सुनेगें तो कौन सुनेगा? कपिल का मन खिन्न हो उठा। अर्थ को जुटाना सहज-सरल कार्य नहीं था। समय पर यदि धन नहीं मिलता है तो महोत्सव को मनाने का आनन्द भी क्या था? वह उपाय को खोजने लगा। कपिला ने उसे एक उपाय सुझाते हुए कहा—पतिदेव! इसी नगर में धन नाम का एक सेठ रहता है। वह प्रातःकाल सबसे पहले बधाई देने वाले को दो मासा सोना देता है। जो व्यक्ति सबसे पहले उसके भवन में पहुंच जाता है वह सोना प्राप्त कर लेता है। अतः आप वहां जाएं, सेठजी को बधाई देकर दो मासा सोना प्राप्त कर लें। कपिल को यह सुझाव अच्छा लगा। दूसरे दिन वह घर से यह सोचकर निकल गया कि मेरे से पहले कोई वहां न पहुंच जाए। अन्धेरी रात। अनजानी राह। गति में त्वरा और सोना पाने की उत्कट अभिलाषा। उसे समय का भान ही नहीं रहा कि वह घर से कब निकला? आधी रात्रि में नगर-आरक्षकों ने उसे चोर समझ कर पकड़ लिया। प्रभात में उसे राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा के पूछने पर उसने सहजता-सरलता से सारा वृत्तान्त सुना दिया। राजा उसकी सत्यवादिता से बहुत प्रभावित हुआ। उसने कपिल से कहा—विप्र! मैं तुम्हारे पर प्रसन्न हूं। तुम जो मांगना चाहो वह मांग लो। कपिल यह सुनकर असमंजस में पड़ गया। वह अपने आप में निर्णय नहीं कर सका कि उसे क्या मांगना चाहिए। उसने राजा से निवेदन करते हुए कहा—प्रभो! यदि आपकी इतनी कृपा है तो मुझे कुछ सोचने का भी अवसर दीजिए। राजा ने उसकी बात मानते हुए कहा—तुम्हें जैसा सुख हो।

कपिल राजा की आज्ञा से उसके बगीचे में चला गया। एक स्थान पर आंख मूंद कर बैठ गया। मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उभर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे थे। तृष्णा की ज्वाला आकाश को छूने का प्रयत्न कर रही थी। मन में एक विकल्प आया कि मैं राजा से सौ मोहरें मांग लूं। तत्काल उसका विकल्प बदला कि सौ मोहरों से क्या होगा? जब राजा ने मुझे मांगने के लिए कहा है तब क्यों नहीं मैं जी भरकर मांगू? मुझे तो हजार, लाख, करोड़ स्वर्णमुद्राएं मांगनी चाहिए। नहीं, नहीं, इनसे भी क्या बनने वाला है? यदि मैं राजा के राज्य को मांग लूं तो मेरा एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो जाएगा, जीवन में कभी दरिद्रता का मुंह देखना नहीं पड़ेगा। किन्तु मन में फिर भी शान्ति नहीं थी। कपिल उससे आगे कुछ सोचता कि सहसा विचारों में एक क्रांतिकारी मोड़ आया और कपिल की सारी कल्पनाएं चक्र की भांति पुनः एक बार स्थिर हो गईं। उसने अपने आपको धिक्कारते हुए सोचा—अरे कपिल! तू चला तो था दो मासा सोना पाने और अब तू राजा का सारा राज्य हड़पने को तैयार हो गया। यह तेरी तृष्णा नहीं तो और क्या है? क्या तू राज्य को पाकर भी तृप्त और संतुष्ट हो जाएगा? यदि तुझे विशाल राज्य और प्रचुर वैभव मिल भी गया तो क्या तू सन्तोष, शान्ति और सुख का अनुभव कर लेगा? फिर दुनिया में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तुझे शान्ति और सुख दे सके? नहीं, नहीं, सन्तोष और शान्ति पदार्थजगत् में बिल्कुल नहीं है, वह तो अपने भीतर है। वह तृष्णा ही सारे दुःखों का मूल है, अतृप्ति का स्रोत है, ऐसा सोचकर कपिल अपने स्थान से उठा और राजा के सामने उपस्थित हो गया।

राजा ने प्रतिप्रश्न करते हुए कपिल से पूछा—भूदेव ! क्या तूने सोच लिया है? तेरी जो भी इच्छा हो वह मांग ले। कपिल ने कहा—महाराज! मेरा मन समाहित हो गया है। मेरी आकांक्षा अनाकांक्षा में बदल गई है। अपरिग्रह की चिता ने मेरी मांग को जलाकर भस्म कर दिया है। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे जो पाना था वह सब मुझे मिल गया है। मेरा लोभ मेरे से पलायन कर मुझ से विलग हो गया है। मुझे तो अब सन्तोष और शान्ति का जीवन जीना है, यह कहकर कपिल के चरण साधना के पथ पर बढ़ गए। वह निर्ग्रन्थ-श्रमण बन गया और बिना कुछ मांगे ही वह उस सम्पदा से संपन्न हो गया, जहां दुनिया की सारी सम्पदाएं अकिंचित्कर होती हैं। वह आध्यात्मिक संपदाओं का स्वामी बन गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. क्रोध और क्षमा की प्रतिमूर्ति : अतूंकारी भट्टा

'क्यों बहिन! तुम्हारे घर में लक्षपाक तैल मिल सकता है? एक मुनि के शरीर में भयंकर पीड़ा है। उसके उपचार के लिए हमें वह तैल चाहिए?' मुनियुगल ने बहिन अतूंकारी भट्टा से पूछा।

'हां, मुनिराज! वह तैल मेरे घर में सूझता है। आप कुछ क्षण रुकिए, मैं अभी मंगाती हूं, यह कहकर भट्टा ने अपनी दासी को अन्दर से तैल लाने को कहा।'

दासी कमरे के भीतर गई। ज्योंही उसने तैल से भरा घड़ा उठाने का प्रयास किया अचानक वह उसके हाथों से छूट गया। घड़ा जमीन पर गिरा और फूट गया। सारा तैल जमीन पर इधर-उधर छितर गया। दासी यह देखकर घबराई कि भट्टा मुझे क्या कहेगी? मुझे आज उसके कोप का भाजन बनना होगा। पता नहीं वह मुझे कितनी डांट-फटकार देगी? दासी ने बाहर आकर अनमना होकर भट्टा से वस्तुस्थिति निवेदित की। भट्टा ने उसे सान्त्वना देते हुए शान्तभाव से कहा—चलो, कोई बात नहीं, जाओ, तैल का दूसरा घड़ा ले आओ।

दासी दोबारा कमरे में गई। वह तैल का दूसरा घड़ा उठाकर दहलीज तक ही आई थी कि एकाएक वह घड़ा भी उसके हाथों से फिसल कर जमीन पर गिरा और फूट गया। सारा तैल भूमि पर पानी की तरह छितर गया। दासी बहुत चिन्तित हुई कि मेरे हाथों एक नहीं, दो घड़ों का नुकसान हो गया। कितना बहुमूल्य तैल ऐसे ही व्यर्थ चला गया? इस बार तो गृहस्वामिनी अवश्य ही मेरे पर कुपित होगी और पता नहीं मुझे कितना उलाहना देगी? पर भट्टा ने उस पर तनिक भी क्रोध नहीं किया और न उसे किसी प्रकार का उलाहना ही दिया। उसने सहजभाव से यही कहा—तैल बेकार चला गया, इसमें इतना अधिक सोचने की क्या बात है? वस्तु का धर्म है अनित्य। अपने यहां लक्षपाक तैल के दो घड़े और विद्यमान हैं, जाओ, उनमें से एक घड़े को ले आओ।

दासी घबराई हुई कमरे में गई। उसने तीसरे घड़े को अत्यन्त सावधानीपूर्वक उठाया। उसे लेकर वह भट्टा के पास पहुंची ही थी कि वह स्वयं वहां फिसल गई और धड़ाम से जमीन पर गिर गई। घड़ा हाथ से छूटकर जमीन पर गिरते ही फूट गया। सारा तैल भूमि पर छितर गया। अब तो दासी की बड़ी विचित्र स्थिति हो गई। भट्टा ने तत्काल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने हाथ के सहारे से उसे उठाया। शरीर के उस भाग को दबाया, जहां चोट लगी थी और पूछा—चेटि! कहीं ज्यादा चोट तो नहीं लगी। दासी ने रुआंसे स्वर में आंखों में पानी भरते हुए कहा—मांजी! मुझे आज क्या हो गया है? मैं जो भी काम करती हूं वह सब उल्टा ही उल्टा पड़ रहा है। लगता है मुझ अभागिन के हाथों इतना बड़ा नुकसान होना लिखा था। यह मेरा ही प्रमाद है अथवा कोई अदृश्य शक्ति परोक्ष में मुझ से यह काम करा रही है। भट्टा ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—कोई बात नहीं, वस्तु का नुकसान हो गया सो गया। पर हम मुनियुगल को वह औषध-वस्तु नहीं दे सके जिसकी उनको अत्यन्त आवश्यकता थी। खैर, तुम यहीं ठहरो। अभी अपने लक्षपाक तैल का एक घड़ा और शेष है। मैं स्वयं उसे ले आती हूं, यह कहकर भट्टा कमरे में जाने के लिए उद्यत हुई।

मुनियुगल ने संकेत से उसे रोकते हुए कहा—भट्टा! अब तुम जाने दो। हमारे निमित्त से तुम्हें काफी नुकसान हो गया है, बहुमूल्य तैल बेकार चला गया है। अब हम जाते हैं, और किसी के घर से हम तैल की गवेषणा कर लेंगे।

भट्टा ने कुछ क्षण के लिए मुनियों को रोकते हुए कहा—नहीं, महाराज! ऐसा नहीं हो सकता। वस्तु जब घर में है तब मैं उसकी भावना क्यों नहीं भाऊं? अवश्य आप कृपा करें। यह कहकर तत्काल भट्टा लक्षपाक तैल का घड़ा ले आई। मुनियों की आवश्यकतानुसार उसे बहरा दिया।

मुनिद्वय ने जिज्ञासा के स्वरों में भट्टा से पूछा—बहिन! हम कब से तुम्हें देख रहे हैं? तुम्हारा बहुमूल्य तैल प्रचुरमात्रा में व्यर्थ चला गया। तुम्हारी दासी के हाथों तीन-तीन घड़ों का फूटना हुआ, फिर भी तुम्हारे चेहरे पर न कोई शिकन, न कोई क्रोध की रेखा, न कोई उलाहना और न कोई डांट-फटकार। हम केवल यही रहस्य जानना चाहते हैं कि क्या तुमने अपने मन को इतना अधिक साध लिया है?

भट्टा ने मुनियुगल की जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा—मुने! मैंने बचपन में क्रोध के कड़वे परिणामों को बहुत अधिक भोगा है। परिणामदर्शिता के कारण मेरे जीवन में यह बदलाव आया है। मैंने साधना के द्वारा जीवन को रूपान्तरित किया है, इसलिए आप मेरे में यह क्षमाशीलता देख रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहिन! क्या तुम हमें अपने जीवन का वृत्तान्त बता सकोगी? जिसके कारण तुमने क्रोध के दुष्परिणामों को भोगा, मुनिद्वय ने कहा।

'क्यों नहीं' महाराज?

अवश्य ही मैं उसे आपके सामने रखने का प्रयास करूंगी।

मैं अवन्ती नगरी के धनाढ्य श्रेष्ठी धन की इकलौती पुत्री हूं। मेरी माताजी का नाम कमलश्री है। मैं आठ भाइयों की लाडली बहिन हूं। इकलौती होने के कारण मेरे पर माता-पिता तथा भाइयों का अत्यधिक लाड-प्यार रहा। मैंने जो चाहा वही काम मेरे अनुरूप हुआ। मैंने जो मांगा वही मुझे मिला। कोई मुझे तुंकारा नहीं दे सकता था, इसलिए मेरा नाम भी अतुंकारी भट्टा पड़ गया। अत्यधिक लाड-प्यार के कारण मेरा बचपन से ही स्वभाव बिगड़ गया। मैं अत्यधिक निरंकुश हो गई। मैं किसी के अनुशासन को नहीं सह सकती थी, दूसरों को अपने अनुशासन में चलाना चाहती थी। जब मैं यौवनावस्था में प्रविष्ट हुई तब कोई भी युवक मेरी इस प्रवृत्ति के कारण मुझसे शादी करने को तैयार नहीं था। एक बार राजा का मंत्री सुबुद्धि मेरे रूप-लावण्य पर मोहित हो गया। उसने विवाह का प्रस्ताव मेरे पिता के सामने रखा। पिता ने उसके प्रस्ताव को मानकर यही कहा कि जो भी मेरी पुत्री के कथनानुसार चलेगा उसी के साथ मेरी पुत्री का पाणिग्रहण होगा। मंत्री सुबुद्धि ने उस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया और बड़ी धूमधाम से मेरा विवाह उसके साथ संपन्न हो गया।

मैंने ससुराल आते ही अपने आदेश का जाल चारों ओर बिछा दिया। कोई भी मेरे आदेश की अवहेलना नहीं कर सकता था। मैंने अपने पति को भी सावचेत कर दिया कि सूर्यास्त से पहले-पहले उसे घर आना है। वह भी मेरे कथनानुसार चलने लगा। एक दिन कुछ चुगलखोरों ने राजा से शिकायत करते हुए कहा—महाराज! आपका मंत्री तो अपनी पत्नी का दास बना हुआ है। वह उसके कहे अनुसार सारा कार्य करता है। उसकी दृष्टि में पत्नी का आदेश मुख्य है, बाकी सब गौण है। इससे राज्य की व्यवस्था ही चरमरा जाएगी। मंत्री का भी महत्त्वपूर्ण दायित्व होता है कि वह भी राज्य के कार्यों में अपनी भागीदारी निभाए।

दूसरे दिन राजा ने कार्यवश मंत्री को राजसभा में ही रोक लिया। गुप्त मंत्रणा में लगभग रात्रि के बारह बज गए। पतिदेव रात को विलम्ब से घर पहुंचे। तब तक मेरा क्रोध आकाश तक पहुंच चुका था। उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दरवाजा खटखटाया, पर मैंने नहीं खोला। वह मेरे आदेश की अवहेलना का कठोर परिणाम था। उन्होंने दरवाजा खुलवाने के लिए बहुत प्रयास किया, विलम्ब से आने का कारण भी बताया, मुझसे माफी भी मांगी, पर मैं क्रोधाविष्ट थी। क्रोध ने मुझे अन्धा बना दिया था। उस समय मैंने उचित-अनुचित का विवेक ही खो दिया। जैसे-तैसे पतिदेव के बहुत मनुहार करने पर मैंने दरवाजा खोला। उन्होंने मुझे कुछ कहना चाहा, पर मैं उनकी सुनी-अनसुनी कर घर से बाहर निकल गई।

अन्धेरी रात। अकेली महिला। न कोई लक्ष्य और न कोई मार्ग। मैं बिना लक्ष्य के अनजाने और निर्जन पथ पर चली जा रही थी। कुछ दूर जाने पर मैं चोरों के हाथ चढ़ गई। वे मुझे पकड़कर चोरपल्ली में ले गए और अपने स्वामी को सौंप दिया। तस्करपति ने मेरे कीमती वस्त्र और आभूषण ले लिए। वह मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर मेरे सतीत्व को लूटने के लिए तैयार हो गया। मैं उसके बन्धन में अवश्य थी, पर मेरा पौरुष स्वतंत्र था। मेरे पौरुष के आगे मेरा शील अखंडित और सुरक्षित रह गया। उसकी इच्छा पूरी न होने के कारण वह मुझे कोड़ों से पीटता था। उसकी मां ने उसे समझाते हुए कहा—अरे पापी! तू इसे मत मार, मत सता। यह सती है। सती को सताने का फल अच्छा नहीं होता। मां के कहने पर उसकी प्रवृत्ति में कुछ सुधार हुआ, उसे अपनी दुश्चेष्टाओं को दबाना पड़ा, पर मुझे अनेक प्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ा।

एक दिन तस्करपति ने मुझे एक व्यापारी के हाथ बीस हजार मोहरों में बेच दिया। मैं उसके घर आ गई। मेरे सौन्दर्य ने उस व्यापारी को भी कामुक बना दिया। उसने भी मेरे सतीत्व को खंडित करने के लिए अनेक प्रयत्न किए। मेरे पौरुष के आगे उसका प्रयास भी विफल रहा। वह व्यापारी बहुत क्रूर था। वह मुझे प्रतिदिन पौष्टिक और स्वादिष्ट भोजन कराता था। उससे मेरे शरीर के रक्त में वृद्धि होने लगी। वह मेरे कोमल अंगों को छूरे से चीरकर खून निकालता था। मैं रोती रहती, हाय-त्राय करती, पर वहां मेरा रुदन सुनने वाला कोई नहीं था, कोई मेरी सहायता करने वाला भी नहीं था, फिर वह व्यापारी उस खून को एक भांड में रख देता था। जब रक्त में काफी मात्रा में रक्त वर्ण के कृमि उत्पन्न हो जाते तो वह उन कृमियों के रंग से वस्त्रों को रंगने का कार्य करता था तथा उन रक्तरंजित वस्त्रों को अत्यधिक कीमत में बाजार में बेचता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ दिनों के बाद जब मेरे घाव सूख जाते तो वह पुनः मुझे पौष्टिक पदार्थों के द्वारा पुष्ट करता और फिर उसी प्रकार मेरे शरीर से खून निकालता। इस प्रकार मैंने घोर नारकीय वेदनाओं को सहते हुए अपना समय व्यतीत किया। अत्यधिक खून निकलने के कारण मेरा शरीर पीले पत्ते की भांति शोभाविहीन हो गया। कुछ दिनों के बाद मेरे माता-पिता और भाइयों को मेरा घर से पलायन करने का समाचार मिला। वे काफी चिन्तित हुए। सर्वत्र मेरी खोज होने लगी। एक दिन अकस्मात् मेरा भाई उसी नगर में व्यापार करने के लिए आया हुआ था। वह मुझे खोजता हुआ उसी व्यापारी के घर पहुंच गया। मैंने उसे पहचान लिया। उसने व्यापारी को मुंहमांगा धन देकर मुझे उसके चंगुल से मुक्त करा लिया। मैं अपने घर आ गई, परिवार वालों से मिली। मेरे पतिदेव सुबुद्धि को जब मेरे आने का समाचार ज्ञात हुआ तो वे मुझे ससम्मान घर ले गये।

हे मुने! यदि मैं क्रोधावेश के कारण घर से बाहर नहीं निकली होती तो क्यों मुझे इतने अधिक कष्टों को सहन करना पड़ता? ये सब क्रोध के ही कटुक परिणाम हैं। परिवार वालों ने मुझे कितना समझाया-बुझाया, पर मेरे जीवन में कोई बदलाव नहीं आया, मेरा गुस्सा कभी शान्त नहीं हुआ। जब मैंने जीवन में अनेक ठोकरें खाई तब मेरा जीवन बदला है, गुस्सा भी शान्त हुआ है। इसलिए मैं क्षमा को धारण कर किसी भी परिस्थिति में क्रोध को उभरने नहीं देती।

मुनियों ने अपने मूलरूप देवत्व को प्रकट करते हुए कहा—भट्टा! सौधर्मसभा में इन्द्र ने तुम्हारी जैसी प्रशंसा की थी ठीक तुम उसी के अनुरूप हो। तुम्हारी क्षमा को मनुष्य तो क्या देव भी चलित नहीं कर सकते। हमने तुम्हारी परीक्षा के लिए यह सब प्रपंच रचा था। तुम अपनी कसौटी में खरी उतरी हो। धन्य है तुम्हारी क्षमाशीलता, धन्य है तुम्हारी शान्तवृत्ति, यह कहते हुए देव अपने स्थान पर चले गए।

१८. क्रोध को विफल करो

किसी गांव में एक क्षत्रिय परिवार रहता था। उस परिवार से दो सगे भाई तथा उनकी बहुएं और एक वृद्धा माता थीं। पिता का पहले ही देहावसान हो गया था। एक बार गांव के किसी व्यक्ति ने अपनी रंजिश के कारण बड़े भाई की हत्या कर दी। वह हत्या कर कहीं भाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। इस घटना से छोटे भाई का मन बहुत आहत हुआ और उसकी आंखों से खून टपकने लगा। उसने मां से कहा—मां! मेरे में रजपूती खून है। मैं क्षत्राणी का बेटा हूं। मैंने तेरी कुक्षि से जन्म लिया है। मेरे भाई को कोई मार जाए और मैं सुखपूर्वक घर में बैठा रहूं, यह मुझे बर्दाश्त नहीं है। जब तक मैं भाई के हत्यारे को न खोज लूं, उसे जीवित पकड़कर तेरे सामने प्रस्तुत न कर दूं और उसे तेरे ही सामने जान से मारकर वैर का बदला न ले लूं तब तक मैं अपना मुंह नहीं दिखाऊंगा, इस दृढ़प्रतिज्ञा के साथ छोटा भाई घर से निकल गया।

शत्रु को भी यह पता लग गया कि क्षत्रियपुत्र मुझे खोजने के लिए घर से निकला है। इसलिए वह भी भय के मारे कभी कहीं, कभी कहीं अपने आपको छिपाता हुआ समय बिताने लगा। इधर क्षत्रियपुत्र शत्रु को खोजता हुआ नगर-नगर, गांव-गांव, अरण्य, पर्वत, नदी, तालाब तथा कन्दराओं आदि के चप्पे-चप्पे को छान रहा था तो उधर भाई का हत्यारा येन केन प्रकारेण अपनी जान बचाने में लगा हुआ था। क्षत्रियपुत्र को रात-दिन एक ही धुन सवार थी कि उसे शत्रु का कहीं पता लग जाए। न उसे खाने-पीने की सुध थी और न कहीं सुखपूर्वक विश्राम करने की। जब भी उसे किसी स्रोत के द्वारा गुप्त सूचना मिलती तो वह शत्रु की दिशा में प्रस्थान कर देता और शत्रु को खोज निकालने का प्रयत्न करता। उसने बहुत प्रयास किया, पर शत्रु उसके हाथ नहीं लगा। इस प्रकार क्षयित्रपुत्र को भटकते-भटकते बारह वर्ष बीत गए।

नीतिकार कहते हैं—पुरुषार्थ कभी व्यर्थ नहीं जाता। वह निश्चित ही सफल होता है। पर कभी-कभी पुरुषार्थ भी व्यक्ति के धैर्य और सहिष्णुता का परीक्षण करता है। समय का विपाक होने पर वह भी अवश्य फल देता है।

क्षत्रियपुत्र को बारह वर्षों तक सफलता नहीं मिली। पर एक दिन अचानक भाई का हत्यारा उसके हत्थे चढ़ गया, उसने उसे लोहे की सांकलों से बांध लिया। एक ओर शत्रु को देखकर क्षत्रियपुत्र का खून खौल रहा था कि अभी ही तलवार के एक झटके से इसका काम तमाम कर देना चाहिए तो दूसरी ओर वह मां के सामने कृत प्रतिज्ञा से भी बन्धा हुआ था। उसने सोचा—अब तो मैं इसे मां के सामने ही ले जाकर परलोक पहुंचाऊंगा।

कुछ दिनों के पश्चात् क्षत्रियपुत्र अपने घर पहुंचा। वृद्धा माता घर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रांगण में बैठी हुई थी। उसने जोर से मां को पुकारा और कहा—मां! मैं तेरे पुत्र के हत्यारे और मेरे भाई के प्राणघातक को पकड़कर ले आया हूं। यह दुष्ट आततायी कितने-कितने कष्टों को सहने के बाद बड़ी मुश्किल से पकड़ में आया है। अब मैं अधिक प्रतीक्षा नहीं करना चाहता। मुझे मेरी तलवार दो। अभी मैं इसे भाई की हत्या का मजा चखाता हूं।

यह सुनकर हत्यारे का कलेजा भय के मारे धड़कने लगा, हाथ-पैर मानो सुन्न हो गए। क्रूर मौत को अपने ऊपर मंडराते देखकर उसकी आंखों से आंसू की धारा बह चली। वह बार-बार गिड़गिड़ाने लगा, पैरों में पड़ने लगा और पल्ला पसार कर जीवन की भीख मांगने लगा। क्षत्रियपुत्र का मानस इन सब बातों से कब द्रवित होने वाला था? उसकी तलवार खून की प्यासी थी। उसे शत्रु की जान लेकर ही अपने को शान्त करना था। अन्त में हत्यारे ने अपने बचाव के लिए मुंह में तिनका रखते हुए कहा—मां! मैं तेरी गाय हूं, तेरी शरण में हूं। गाय की रक्षा करना अब तेरे हाथ है। क्षत्रियपुत्र की तलवार शत्रु पर चलने ही वाली थी कि माता ने एकाएक उसका हाथ पकड़ते हुए कहा—बेटा! हम क्षत्रिय हैं। क्षात्रधर्म का पालन करना हमारा कर्तव्य है। इसलिए गाय, स्त्री, शिशु एवं शरणागत की हत्या करना हमारा धर्म नहीं है। यह भातृघातक, जो अब हमारी गाय बन गया है उसे मारना उचित नहीं है। अतः तलवार को एक ओर रखकर इसे जीवनदान देना ही तेरी विवेकशीलता है।

क्षत्रियपुत्र मां के वचनों को सुनकर रोष से भर गया। उसने मां को कहा—मां! तुम भी क्या कहती हो? जिसके पीछे मैं बारह-बारह वर्षों तक भटकता रहा, सारे जीवन को मैंने अस्त-व्यस्त बनाया तब कहीं बड़ी मुश्किल से यह पकड़ में आया। फिर तुम इस हत्यारे को छोड़ने की बात कहती हो, यह तो परोसी हुई थाली को ठोकर मारने जैसी बात है। इसलिए मां! तुम मुझे मत रोको। अपने भाई का बदला लेने दो।

मां ने शान्तस्वर में पुत्र को समझाते हुए कहा—वत्स! मैं जानती हूं कि तेरा क्रोध निष्प्रयोजन नहीं है। तूने इसको पकड़ने-खोजने में वर्षों के वर्ष बिताए हैं। पर इस बात को भी समझो कि मारने वाला बड़ा नहीं होता, बड़ा होता है क्षमा करने वाला। जब इसने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया है और गाय बनकर अपनी शरण में आ गया है तब इस पर तलवार का प्रहार करना क्षत्रियधर्म नहीं है। शरणागत की रक्षा करना क्षात्रधर्म है। इसलिए तू अपने धर्म को समझकर क्रोध को शान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर। क्रोध को विफल करना ही वस्तुतः सच्चा पराक्रम है।

मां की प्रेरणा ने पुत्र के जीवन को रूपान्तरित कर दिया। पुत्र के मानस में क्रोध का जो उफान उठा था वह मां के सद्वचनों से शान्त हो गया। उसने मां की बात को मानते हुए तलवार को एक ओर रख दिया और हत्यारे के अपराध को क्षमा करते हुए उसे जीवनदान दे दिया। यह है क्रोध का उपशमन और यह है क्षमा की साधना।

१९. चांडाल है क्रोध

एक मुनि घोर तपस्वी थे। तपश्चर्या उनके जीवन का व्रत था। सारा जीवन उन्होंने तप की कठोर साधना में लगा दिया। जब भी देखो उनकी तपस्या तीन दिन के उपवास से कम नहीं होती थी। उन्होंने अपने जीवन में कई मास-मास के उपवास तथा अर्धमास के उपवास किए थे। आठ दिनों का उपवास तो वे कई बार कर चुके थे। पारणे के दिन को छोड़कर शेष दिन तपस्या में ही बीतते थे। तपस्या से उनका शरीर भी सूख कर कृश हो गया था। वे तपस्या को कर्मनिर्जरण के लिए एक परमौषध मानते थे, इसलिए वे तपस्या में परम आनन्द का अनुभव करते थे। उनकी तपःसाधना से प्रभावित होकर एक देव भी निरन्तर उनकी सेवा में रहने लगा। मुनि को तप के प्रभाव से मिलने वाली देवशक्ति का भी कुछ गर्व था।

एक दिन तपस्वी मुनि कहीं जा रहे थे। तपती दुपहरी का समय। नगर की तंग और संकरी गलियां। वे किसी संकीर्ण गली से होकर गुजर रहे थे। सामने से एक धोबी अपने गधे पर कपड़ों की गठरी लादे आ रहा था। मुनि ने पहले निकलने की उतावली में धोबी को एक ओर हट जाने का संकेत किया। धोबी ने मुनि की मन्द गति को देखकर उनको लांघकर पहले निकलने का प्रयास किया। मैं पहले, मैं पहले इस रस्साकसी में मुनि को अचानक ऐसा धक्का लगा कि वे धड़ाम से नीचे गिर गए। तपस्या से उनका शरीर कृश था, इसलिए वे थोड़ी-सी टक्कर को भी सहन नहीं कर सके।

नीचे गिरते ही मुनि को क्रोध आ गया। क्रोध के आवेश में मुनि ने धोबी के प्रति अनर्गल प्रलाप करना प्रारंभ कर दिया—कैसा अन्धा अशिष्ट व्यक्ति है कि देखकर नहीं चलता। चलने में कुछ होश तो होना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। यह भी कोई चाल होती है कि मदोन्मत्त सांड की तरह दौड़ा जा रहा है। तुझे पता नहीं कि मैं तपस्वी हूं। तपस्वी हूं, इसलिए तुझे क्षमा दे रहा हूं, वरना क्या का क्या घटित हो जाता। जैसे तैसे मुनि सहारा लेकर खड़े हुए।

इतना सुनते ही धोबी भी आगबबूला हो गया। उसने मुनि को कोसते हुए कहा—मुझे अन्धा कहने की तुम्हारी यह हिम्मत! अन्धा तो तू है जो खुद आकर मेरे से टकराया। मैंने तो तुझे बचाया है, नहीं तो मेरे सामने इन मुट्ठीभर हड्डियों का क्या पता लगता?

इतना सुनकर तपस्वी मुनि और अधिक क्रोध से तमतमा उठे। आंखें लालिमा से रक्त हो गई। धोबी को घूरते हुए कहने लगे—मूर्ख कहीं का! दोष किसका और मुझे दोषी करार दे रहा है। अपनी गलती को मेरे पर डाल कर स्वयं को निर्दोष साबित कर रहा है। तत्काल यहां से चला जा। यदि मेरे से अड़ा तो उसका परिणाम भी देख लेना।

मुझे परिणाम दिखाएगा। है तेरे में क्षमता? शरीर में तो ताकत है नहीं, केवल थूक बिलो रहा है। तू मुझे क्या दिखाएगा? मैं ही तुझे मजा चखाता हूं—यह कहकर धोबी ने मुनि का गला पकड़कर उनको जमीन पर पटक दिया। वह स्वयं उनकी छाती पर बैठ गया। धरती पर उन्हें खूब रौंदा, पटका, घसीटा। फिर बोला—देख लिया मजा मेरे से अड़ने का। अब कुछ अक्ल ठिकाने आई। अन्यथा तेरी कपालक्रिया कर देता।

तत्काल मुनि को अपने साधुत्व का भान हुआ। उन्होंने मन ही मन सोचा—मैं श्रमण हूं, संयमी हूं। क्या मुझे इस धोबी से झगड़ना शोभा देता है? क्रोध तो मुझे अपनी छद्मस्थता के कारण आ गया। वह मुझे नहीं करना चाहिए था। उन्होंने धोबी से कहा—भाई! गलती तो मेरे से हो गई। अब तू मुझे छोड़ दे। मैं हारा तू जीता, इससे अधिक मैं तुझे क्या कहूं? धोबी ने कहा—नहीं, नहीं अभी भी तेरे में अकड़न है। यदि तेरे में कुछ है तो करले।

मुनि क्या बोले? उन्होंने उस समय शान्त रहना ही उचित समझा। मुनि को मौन देखकर धोबी वहां से चला गया। मुनि का तप से कृश बना हुआ शरीर भीतरी वेदना का अनुभव कर रहा था और मन ही मन पश्चात्ताप भी था कि आज मैंने व्यर्थ ही एक झगड़े को अपने सिर पर ले लिया। इतने में अचानक सेवा में रहने वाला देव मुनि के सामने उपस्थित हुआ। उसने मुनि के चरणों को छुआ और सुख-पृच्छा की। मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने खिन्नता से कहा—देवानुप्रिय! तुम इतनी देर कहां थे? आज तो मेरा पाला एक धोबी से पड़ गया। उसने मेरी इतनी अधिक धुनाई की कि मेरे शरीर का अंग-अंग दर्द कर रहा है। काश! तुम पास में होते तो उसकी क्या मजाल, जो वह मुझे हाथ लगाता।

देव ने हाथ जोड़कर विनम्रभाव से कहा—प्रभो! आप सत्य कह रहे हैं। आज मैं रास्ते में एक विचित्र नाटक देखने लग गया।

ऐसा वह कौन-सा नाटक था, जिसके कारण तुम्हें रुकना पड़ा, मुनि ने देव से पूछा।

भन्ते! एक धोबी और एक चाण्डाल परस्पर लड़ रहे थे। उनकी लड़ाई देखने में कुछ समय लग गया, इसलिए आने में विलम्ब हो गया।

अरे देवानुप्रिय ! वह चाण्डाल नहीं, मैं ही था। शायद तुमने गलत-फहमी से मुझे ही चाण्डाल समझ लिया।

देव ने स्पष्ट करते हुए कहा—महात्मन्! इस दुनिया में किसकी ताकत है, जो मेरे रहते हुए आपको हाथ लगा दे। लड़ाई के समय आप अपने आप में विद्यमान नहीं थे, अपने स्वरूप में नहीं थे। वहां तो आपके भीतर क्रोधरूपी चाण्डाल विद्यमान था। वही धोबी के साथ झगड़ा करा रहा था। मैं देखता रहा कि कौन जीतता है और कौन हारता है? क्रोधरूपी चाण्डाल तो हार गया और धोबी जीत गया, इसलिए आपको यह कष्ट सहन करना पड़ा। अब आप अपने स्वरूप में आए हैं। अब कोई आपको हाथ लगाए, उसे मैं देख लूंगा।

मुनि देव के कहने का भावार्थ समझ गए। उन्होंने देव के वचनों की अनुमोदना करते हुए कहा—सत्य है, देवानुप्रिय! उस समय मैं क्रोधाविष्ट था। वस्तुतः जिस घर में क्रोध का निवास होता है वहां देवशक्ति भी किसी की सहायता नहीं करती, उसे अछूत समझती है। इसलिए क्रोध चांडाल है।

२०. साधना में बाधक है अहं

बीहड़ और डरावना जंगल। चारों ओर पर्वतमालाओं से घिरा हुआ। सघन वनलताओं, कंटीली झाड़ियों तथा अनेक वृक्षराजि से संकीर्ण। दिन में भी सूर्य के दर्शन की दुर्लभता। निरन्तर बरसते हुए बादल। प्रकाश में भी दुर्दिन की प्रतीति। पथिकों के आवागमन के लिए सर्वथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्गम बना हुआ। चारों ओर सुनाई देती हुई हिंस्र पशुओं की आवाजें। ऐसी घोर भयानक अटवी में जहां दिन में भी मनुष्य का दर्शन दुर्लभ होता है वहां महान् साधक बाहुबलि प्रतिमा की भांति निश्चल होकर ध्यानस्थ खड़े थे। उनके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था, पर वनवल्लरियों ने उनके शरीर को परिवेष्टित कर लिया था। वे अगारहीन थे, किन्तु अनेक पक्षियों ने उनके शरीर पर घोंसलें बनाकर उसे अपना अगार बना लिया था। वे भोजन-पानी से सर्वथा मुक्त थे, पर शान्तसुधारस और सहिष्णुता की खुराक उन्हें निरन्तर मिल रही थी। वे शरीरबल, मनोबल और संकल्पबल से पुष्ट थे। वे ध्यान-मुद्रा में वैसे ही तल्लीन थे कि मानो कोई पर्वत अपना सिर ऊंचा किए खड़ा हो। ऐसे महान् साधक के लिए आत्म-साक्षात्कार करना ही एकमात्र लक्ष्य था।

वे मुनि बाहुबलि भरत के अनुज और भगवान ऋषभ के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र थे। वे बड़े ही पराक्रमी, बलवान्, योद्धा और स्वाभिमान के धनी थे। उनकी माता का नाम सुनन्दा और भगिनियों का नाम ब्राह्मी और सुन्दरी था।

भगवान आदिनाथ जब दीक्षित हुए तब उन्होंने अयोध्या का राज्य भरत को सौंपा और बहली प्रदेश का राज्य बाहुबली को दिया। अन्य पुत्रों को अन्य-अन्य देशों का राज्य सौंपकर वे राज्यभार से निवृत्त हो गए। पिता के संयमपथ स्वीकार करने के बाद भरत के मन में राज्यलालसा की भूख उत्पन्न हुई। उस भूख को उन्होंने षट्खंडों पर अपना आधिपत्य जमाकर शान्त किया। सम्राट् भरत चारों ओर अपनी विजयपताका फहराकर अपूर्व उल्लास के साथ अयोध्या लौट रहे थे। एक दूत ने मंगलकार्य में अमंगल की सूचना देते हुए कहा—महाराजन्। आयुधशाला में चक्ररत्न प्रवेश नहीं कर रहा है। तत्काल भरत का ध्यान अपने निन्यानवें भाइयों की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने सोचा—अभी तक तो मैंने अपने भाइयों को भी अपनी आज्ञा में नहीं लिया है, फिर चक्ररत्न आयुधशाला में कैसे प्रविष्ट होगा? उन्होंने संदेश के माध्यम से अपनी आज्ञा की बात अट्ठानवें भाइयों तक पहुंचाई। अट्ठानवें भाई भरत की अधीनता में रहें, यह उन्हें अभीष्ट नहीं था, इसलिए वे सभी उस पथ पर बढ़ गए जहां स्वतन्त्रता की डोर उनके हाथ में थी। वे सब भगवान ऋषभ के पास मुनि बन गए।

अब केवल बाहुबलि ही भरत की अधीनता से बाहर थे। भरत ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी आज्ञा को स्वीकार करवाने के लिए बाहुबलि के पास अपना सन्देश भेजा। उनका स्वाभिमान जाग उठा। उन्होंने सोचा—यह कैसा मेरा भाई, जो अपनी राज्यलिप्सा के कारण मुझे भी अपनी आज्ञा में चलाना चाहता है। मैं पराक्रम और शक्ति की दृष्टि से उनसे न्यून थोड़े ही हूं? वह मुझे क्या समझता है? उन्होंने भरत को साफ-साफ कहलवा दिया—सपनों की दुनिया को छोड़कर यथार्थ के धरातल पर आओ। न तो तुम्हारा भाई तुम्हारी अधीनता स्वीकार करेगा, न ही तुम्हारी साम्राज्यतृष्णा शान्त होगी। अब युद्ध ही इसका एकमात्र विकल्प है।

बाहुबलि का संदेश पाकर अब भरत के लिए युद्ध करना अनिवार्य हो गया। बहली प्रदेश की सीमा पर दोनों की सेनाएं डट गईं। युद्धभूमि का दृश्य भयानक दिखने लगा। देखते-देखते रणभेरी बज उठी। दोनों भाइयों के मन में आया कि हमारे कारण हजारों-हजारों सुभट निष्प्रयोजन इस विनाशकारी युद्ध में मारे जाएंगे। लड़ना तो है हम दोनों भाइयों को, फिर निर्दोष व्यक्तियों का प्राणसंहार क्यों किया जाए? यह सोचकर उन्होंने युद्ध का स्वरूप बदला और निर्णय लिया कि हम दोनों में ध्वनियुद्ध, दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध और दंडयुद्ध होगा। जो उनमें जीतेगा, जीत उसी की होगी। उन सभी युद्धों में बाहुबलि विजयी रहे।

सम्राट् भरत अपने को पराजित जानकर और अधिक क्रोध के आवेश में भर गए। वे अपना भान भूल गए और बाहुबलि को मारने के लिए उन पर चक्र चला दिया। वह चक्र सगे भाई बाहुबलि का संहार कैसे कर सकता था? वह देवाधिष्ठित चक्र था। बाहुबलि की प्रदक्षिणा कर वह पुनः भरत के पास लौट आया। भाई के द्वारा किया जाने वाला ऐसा जघन्यतम प्रयत्न देखकर बाहुबलि का अहंकार फुफकार उठा। उन्होंने रोषारुण होकर भरत को मारने के लिए मुट्ठी तान ली। बाहुबलि की तनी हुई मुट्ठी को देखकर देवगण घबराए और सोचा—कहीं महान् अनर्थ घटित न हो जाए। उन्होंने बाहुबलि को संबोधित करते हुए कहा—बाहुबले! इस संसार में ऐसा कौन है, जो आपकी मुट्ठी के आघात को सहन कर सके? आप भरत को भाई जानकर उसे अपनी क्षमा से अभिस्नात करें। देवों के उद्बोधन से बाहुबलि कुछ शान्त हुए, पर उनकी उठी हुई मुट्ठी नीचे आने को तैयार नहीं थी। उन्होंने उस मुट्ठी से पंचमुष्टि लोच किया और उनके चरण साधनापथ पर बढ़ गए। सम्राट् भरत अपनी भूल मानकर अनुताप करते हुए बार-बार उनके चरणों में प्रणत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो रहे थे और अत्यधिक अनुनय-विनयपूर्वक राज्यभार ग्रहण करने का आग्रह कर रहे थे। पर मनस्वी व्यक्ति के उठे चरण कब रुकने वाले थे? वे जो बात मन में धार लेते हैं वही कर दिखाते हैं। मनस्वी बाहुबलि के चरण भी अज्ञातपथ की ओर बढ़ गए और वे निर्जन वन में जाकर कायोत्सर्ग प्रतिमा में अवस्थित हो गए।

व्यक्ति के भीतर का अहंकार निश्चित ही साधना को आच्छन्न करता है। मुनि बाहुबलि चले तो थे साधना के लिए, पर उनके भीतर रहा हुआ अहंकार उनकी साधना में बाधक बन गया। बाहुबलि ने सोचा—यदि मैं पिताश्री भगवान ऋषभ के पास जाऊंगा तो मुझे अपने पूर्वदीक्षित लघु भाइयों को वन्दना करनी होगी। अच्छा है, यहीं मैं अकेला ही साधना करूं। कायोत्सर्ग की साधना करते-करते उन्हें बारह महीने बीत गए, फिर भी वे उस बिन्दु पर नहीं पहुंचे जहां सिद्धि का दर्शन होता है।

भगवान ऋषभ ने केवलज्ञान के द्वारा उस स्थिति को जाना। उन्होंने बाहुबलि को प्रतिबोध देने के लिए ब्राह्मी और सुन्दरी को वहां भेजा। दोनों भगिनियों ने उनको प्रबुद्ध करते हुए कहा—बन्धुवर! उतरो तुम गजराज से। बहिनों के द्वारा कहे गए वाक्य दो-तीन बार बाहुबलि के कानों से टकराए। उनका ध्यान क्षणभर के लिए टूटा। उन्होंने सोचा—मैं गज पर कहां चढा हुआ हूं? मैं तो नीचे खड़ा हूं। फिर ये वाक्य किसलिए और किसके लिए कहे जा रहे हैं? क्या सचमुच मैं गजराज पर चढा हुआ हूं? कौनसा गजराज? इस प्रकार बाहुबलि वाक्य के रहस्य को जानने के लिए उसकी अनुप्रेक्षा कर रहे थे। तत्काल उन्हें अवबोध हुआ कि उनके भीतर अहंकाररूपी गजराज विद्यमान है। वे अपने अहं के कारण भगवान ऋषभ के पास भी नहीं गए, वय में छोटे व्रती भाइयों को वन्दन करना न पड़ जाए, इसलिए भी वे एकाकी साधना करते रहे। अपनी भूल का अहसास होने पर वे तत्काल संभले और मन में सोचा, यह कैसा अहं? कौन छोटा, कौन बड़ा? वास्तव में व्रती ही बड़ा होता है।

अपनी बहिनों की प्रेरणा पाकर उनके अन्तर्चक्षु खुल गए। उन्होंने आंखें खोली, सामने देखा तो ब्राह्मी-सुन्दरी वहां खड़ी थी। अपनी साधना के द्वारा वे पहले ही अपने अध्यवसायों को विशुद्धतम बना चुके थे। किन्तु अहं की सूक्ष्म परत ने केवलज्ञान के प्रकाश को रोक रखा था। ज्योंही बाहुबलि ने अपने लघु बान्धवों को वन्दन के लिए चरण आगे बढाए,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे केवलज्ञान के आलोक से आलोकित हो गए। अन्त में सभी कर्मों का क्षय कर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

२१. रूप का अहंकार

प्रभात का मधुरिमापूर्ण वातावरण। प्राची दिशा में नवोदित नभोमणि की प्रसृत सुनहली रश्मियां। चक्रवर्ती सनत्कुमार का सप्तभौम राजप्रासाद। सम्राट् सनत्कुमार हस्तिनापुर के महाराज अश्वसेन और महारानी सहदेवी के अंगज थे। राजप्रासाद बाल रश्मियों का स्पर्श पाकर सुवर्ण की भांति चमक रहा था। उसके मुख्यद्वार पर मुस्तैदी से खड़े हुए द्वारपाल चौकन्ने होकर पहरा दे रहे थे।

अचानक कानों में एक आवाज सुनाई दी—महाराज सनत्कुमार की जय हो! विजय हो! हस्तिनापुर सम्राट् चिरायु हों! चिरायु हों! द्वारपालों ने अभिमुख होते हुए उनकी ओर देखा। उनके ललाट पर तिलक-छापे लगे हुए थे। गले में अनेक प्रकार की मालाएं झूल रही थीं। केशराशि गूंथी हुई थी। वे जाति से ब्राह्मण लग रहे थे। द्वारपालों ने उनसे आने का प्रयोजन पूछा। उन्होंने कहा—हम काफी दिनों से महाराज सनत्कुमार के रूप-लावण्य की अत्यधिक गुणगाथा सुन रहे हैं। हम कितने मन्दभागी हैं कि अभी तक हमने उस कमनीय रूप का नेत्रपान नहीं किया। ये प्यासी अखियां आज उस सौन्दर्य को पाना चाहती हैं, अपने आपको तृप्त करना चाहती हैं। पता नहीं, जीवन का अन्त कब हो जाए, मन की मुराद धरी की धरी न रह जाए, यही सोचकर हम यहां आएं हैं। चाहते हैं कि हमारी वह चिरपालित मनोकामना आज ही पूर्ण हो जाए, प्रभु के दर्शन मिल जाएं। द्वारपाल ने कहा—विप्रवर! आप जिस प्रयोजन से यहां आए हैं वह प्रयोजन तो महाराज की विशेष अनुमति से ही संभव हो सकेगा। क्योंकि सुबह का समय महाराज से मिलने का समय नहीं है। उनसे तो राजसभा में ही मिला जा सकता है।

हम बहुत दूर से आए हैं और हमें जाना भी शीघ्र है। हमें ज्ञात नहीं था कि महाराज सुबह नहीं मिलते, अन्यथा हम नहीं आते। अब आ गए तो महाराजश्री के दर्शन कर ही जाएंगे। यदि आप कृपा करें तो हमें उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

खैर, अभी आप लोग यहीं ठहरें। मैं महाराजश्री के पास जाता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे क्या कहते हैं? उनकी आज्ञा के बिना तो कुछ हो नहीं सकता, द्वारपाल ने कहा।

जैसी आपकी सोच, ब्राह्मणों ने कहा।

भीतर जाकर द्वारपाल ने सम्राट् को नमस्कार करते हुए कहा—प्रभो! दो विप्र मुख्य द्वार पर खड़े हैं। वे आपका साक्षात्कार करना चाहते हैं। बहुत उमंग से और बहुत दूर से आए हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो उनके दर्शन हो जाए और उनकी उत्कट इच्छा पूर्ण हो जाए। महाराज ने द्वारपाल को आज्ञापित करते हुए कहा—उनको अन्दर ले आओ। द्वारपाल स्वीकृति पाकर द्वार की ओर मुड़ा और कुछ क्षण बाद वह दोनों विप्रों को लेकर चक्रीश्वर के सम्मुख उपस्थित हो गया। ब्राह्मणों ने सम्राट् को देखते ही जयनाद कर साष्टांग प्रणाम किया, विरुदावली से उनका वर्धापन किया और एक गहरी श्वास छोड़ते हुए कहा—महाराजन्! आपकी रूपमाधुरी हमारे चित्त को मूढ कर रही है। संभवतः ऐसी रूप-लावण्यसंपदा धरती के किसी पुरुष के पास तो है नहीं, स्वर्ग के देवों को भी ऐसा रूप प्राप्त है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। आज हमारी आंखें ऐसा मनोहारी रूप देखकर तृप्त नहीं हो रही हैं। मन करता है कि हम विस्फारित नेत्रों से नलिनी के पराग में प्रसक्त बने भ्रमर की तरह रूपसुधा का पान करते रहें। आपके रूप की हम जितनी अधिक महिमा करें उतनी ही थोड़ी है।

वे विप्रदेव मन ही मन सोच रहे थे कि प्रथम स्वर्ग के स्वामी सौधर्मेन्द्र ने जिस रूप-लावण्य की प्रशंसा की है वह उनकी कल्पना से अधिक स्तुत्य, सत्यापित और प्रत्यक्षीभूत है। ऐसे सौन्दर्य को कब तक निहारा जाए। उससे कब संतुष्टि, तृप्ति होने वाली थी? आखिर उन्हें जाना था। जब वे जाने को तैयार हुए तो सम्राट् ने अपने रूप की प्रशंसा से फूलते हुए कहा—महानुभावो! अभी तो तुम लोगों ने मेरे असली रूप को नहीं देखा है। यह तो रूप की छाया मात्र है। अभी तो मैं शयन कर ही उठा हूं। जब मैं स्नानादि से निवृत्त होकर वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर राजसभा में बैठूं तब तुम मेरे रूप को देखना। उसकी छटा कुछ और ही निराली होगी।

अच्छा महाराजन्! जैसी आपकी आज्ञा। हम पुनः उस अवसर को भी प्राप्त करेंगे, यह कहकर दोनों विप्र वहां से चले गए।

सम्राट् सनत्कुमार के मनोभावों में रूप का अहंकार नृत्य कर रहा था। वे अपने रूप की प्रशंसा सुनकर मन ही मन अहंकार से गर्वित बने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए थे। वे सोच रहे थे—रूप के सिवाय मेरा किस पर अधिकार है? वही मेरा है, शाश्वत है, अविनश्वर है। यह रूपसंपदा कभी भी मेरे से विलग होने वाली नहीं है। इस धरती पर कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो मेरे अतुलनीय रूप की तुलना कर सके।

चक्रीश्वर सनत्कुमार ने अपनी रूपविभूषा को दिखाने के लिए स्नान करने में कुछ अधिक ही समय लगाया। उन्होंने शरीर को कर्पूर, अगर, कंकोल, कस्तूरी और चन्दन आदि सुवासित द्रव्यों से सुवासित किया और राजसिक वस्त्र-आभूषणों से विभूषित होकर वे निर्धारित समय पर राजसभा में पहुंच गए। वे रत्नजटित राज्यसिंहासन पर आरूढ हुए। उनके मस्तक पर छत्र शोभायमान था, दोनों ओर दो परिचारिकाएं चंवर डुला रही थी। महामात्य, सामन्त, सभासद् तथा नगर के अनेक गणमान्य लोग उनके परिपार्श्व तथा सामने विराजित थे। उस समय सम्राट् सनत्कुमार की रूपसंपदा सूर्य के प्रकाशपुंज की भांति देदीप्यमान थी।

जयनाद करते हुए दोनों ब्राह्मणों ने पुनः राजसभा में प्रवेश किया और अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा—राजन् ! आप त्रिलोकीनाथ हैं कि आपने हमें इस रूपसंपदा को देखने का पुनः अवसर दिया। ये रूप के पिपासु ब्राह्मण आपकी रूपसंपदा को देखकर कब तृप्त होने वाले हैं? ज्योंही ब्राह्मणों ने अपनी तृप्ति, आत्मसंतुष्टि के लिए सम्राट् के रूप को निहारा तो सहसा उनका मन ग्लानि से भर गया। उन्होंने मन ही मन सोचा—कहां है वह पहले वाला सौन्दर्य? रूप में पहले जो माधुर्य, सरसता, चमक, और तेजस्विता थी अब वह पीले पत्ते की भांति विरस, बीभत्स, कुरूप और भद्दी-सी प्रतीत हो रही है। जो फूल सुबह डाली पर खिला था, वही फूल मुरझाया हुआ लग रहा है। वे महाराज को कहें तो क्या कहें? वे कुछ कहने की स्थिति में नहीं थे, किन्तु सम्राट् ने ही उनसे पूछ लिया—क्यों विप्रवर! देखा न मेरा रूप? कैसा लगा? पहले से सुन्दर अनुपम है न। यह सुनते ही ब्राह्मणों का माथा ठनका। नाक-भौं सिकोड़ते हुए वे बोले—सम्राट्! सरसता विरसता में बदल चुकी है। पूर्व में हमने जिस रूपमाधुरी का पान किया था वह माधुरी अब विनष्ट हो चुकी है। शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो गए हैं। यदि आपको हम पर विश्वास न हो तो जरा थूक कर देख लें।

ज्योंही सम्राट् ने पीकदान में थूका, सारी सचाई प्रत्यक्ष हो गई। उसमें असंख्य कीड़े बिलबिला रहे थे। इस सचाई को देखकर महाराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तब्ध और हक्के-बक्के-से रह गए। रूप का गर्व चकनाचूर हो गया। अब सम्राट् किसका गर्व करें! किस पर करें! जो पास में था वह नष्ट हो चुका था। अब केवल शेष थी परमार्थ की साधना। वे आत्मोपलब्धि के लिए साधनापथ पर बढ़ गए, प्रव्रजित हो गए। त्याग-तपस्या से अपने आपको भावित किया और अंत में वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

२२. तीर्थंकर मल्लि स्त्री क्यों?

इस अवसर्पिणी काल में जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकर हुए। उनमें उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान् थे। पूर्वभव में भगवान मल्लिनाथ का जीव 'महाबल' था। जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में वीतशोका नाम की एक विशाल, समृद्ध और दर्शनीय नगरी थी। उसके शासक बल राजा थे। उनकी महारानी का नाम धारिणी था। वह एक हजार रानियों में पटरानी थी। महारानी धारिणी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ। वह महाबल के नाम से प्रख्यात हुआ।

यौवन की दहलीज पर पांव रखते ही कुमार महाबल विवाहसूत्र में बंध गए। उनका कमलश्री आदि पांच सौ कन्याओं से पाणिग्रहण हुआ। महाबल के पिता बल एकछत्र राज्यशासन चला रहे थे। राज्य में किसी भी चीज का अभाव नहीं था। प्रजा राजा की न्याय-नीति से प्रभावित और धन-धान्य से समृद्ध थी।

एक बार ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए धर्मघोष महास्थविर नगर के बाहर इन्द्रकुम्भ उद्यान में पधारे। वनमाली ने राजा बल को मुनि के आगमन की सूचना दी। राजा ने हर्षविभोर होते हुए सारे नगर में महास्थविर के पदार्पण की घोषणा करा दी। जनता मुनि के वन्दनार्थ और धर्मोपदेशश्रवणार्थ उद्यान की ओर जाने लगी। राजा भी राजपरिवार सहित मुनिराज की वन्दना हेतु वहां आए। उन्होंने मुनिराज का प्रवचन सुना। वे प्रवचन सुनकर प्रतिबुद्ध हुए, मन में वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। संसार की क्षण-भंगुरता को जानकर उनका चित्त प्रव्रज्याग्रहण करने के लिए उत्सुक हो उठा। उन्होंने धर्मघोष मुनि से निवेदन करते हुए कहा—भन्ते! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखता हूं। मैं संसार से विरक्त होकर अगार से अनगार बनना चाहता हूं, प्रव्रजित होना चाहता हूं। मुनिराज ने उन्हें संबोध देते हुए कहा—जैसा तुम्हें सुख हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा बल अपने पुत्र महाबल कुमार को राज्यभार सौंपकर प्रव्रजित हो गए। बहुत वर्षों तक उन्होंने श्रामण्य धर्म का पालन किया और अंत मे वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

कुमार महाबल अब युवराज से राजा बन चुके थे। वे कुशलता से राज्य का संचालन करते हुए अपने दायित्व का निर्वहन कर रहे थे। बचपन से ही कुमार के अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द्र—ये छह मित्र थे। वे सभी बालसखा, समवयस्क और राजा थे। सभी में परस्पर प्रगाढ मैत्री थी। वे सभी साथ-साथ जन्म लेने वाले, साथ-साथ संवर्धित होने वाले, साथ में धूलिक्रीड़ा करने वाले, साथ-साथ यौवन में प्रविष्ट होने वाले, साथ-साथ विवाहित होने वाले, एक दूसरे में अनुरक्ति रखने वाले, एक दूसरे का अनुगमन करने वाले, एक दूसरे के अभिप्राय को समझने वाले तथा एक दूसरे की आन्तरिक इच्छा को पूर्ण करने वाले थे। वे अपने अधिकृत राज्य को संचालित करते हुए परस्पर एक दूसरे के राज्य में करणीय कार्य को भी सम्पादित कर रहे थे।

एक बार छहों बालमित्र राजे एक स्थान पर मिले। उन्होंने एक साथ बैठकर सहचिन्तन किया—कोई भी प्रसंग हमारे सामने आए, उसे हमें मिल-जुलकर एक साथ संपन्न करना है। चाहे वह कार्य परदेशगमन का हो, चाहे सहयोग का हो, चाहे वह सुख-दुःख का हो अथवा चाहे वह प्रव्रज्याग्रहण का हो। सभी मित्रराजा इस प्रस्ताव पर सहमत और वचनबद्ध हो गए।

एक बार नगर के इन्द्रकुंभ उद्यान में धर्मघोष मुनि समवसृत हुए। राजा महाबल मुनि के वन्दनार्थ धर्मलाभार्थ वहां गए। मुनि का प्रवचन सुनकर राजा महाबल को वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने धर्मघोष मुनि से प्रार्थना करते हुए कहा—भन्ते ! मैं संयमग्रहण करना चाहता हूं। मैं अपने छहों बालमित्रों को भी पूछ लेता हूं। उन सबके साथ मेरी प्रव्रज्याग्रहण करने की इच्छा है। धर्मघोष मुनि ने कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा।

राजा महाबल ने अपने छहों मित्रों के सामने संयमग्रहण की बात रखी। वे कब पीछे रहने वाले थे। वे सभी के सभी दीक्षा के लिए तैयार हो गए। राजा महाबल ने अपने पुत्र कुमार बलभद्र को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर दीक्षा के लिए अभिनिष्क्रमण किया। अन्य मित्र राजाओं ने भी अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को अपने-अपने राज्य का भार सौंप दिया और वे सभी शिविकाओं में बैठकर दीक्षा के लिए उद्यत होकर राजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाबल के पास आ गए। सभी ने धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

सभी मुनि साथ-साथ रहते हुए अपने आपको संयमसाधना से भावित करने लगे। एक बार सातों मुनियों में मंत्रणा हुई कि तपस्या भी हम सभी को एक जैसी करनी चाहिए। यदि कोई उपवास तप करता है तो सभी को उसी के अनुसार उपवास तप करना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई चतुर्थ भक्त, षष्ठ भक्त, अष्टम भक्त, दशम भक्त, द्वादश भक्त तथा पाक्षिक अथवा मासिक तप से अपने आपको भावित करता है तो सभी को उसी प्रकार का तप आचरणीय होगा। सभी ने सहर्ष उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। सभी मुनि तपःसाधना में लीन होकर तपश्चर्या में लग गए। तप करते-करते कुछ दिन बीत गए। एक दिन मुनि महाबल ने मन ही मन सोचा—यदि मैं सबके साथ तपस्या करता हूं तो उसमें मेरी विशेषता ही क्या है? विशेषता तो तब है जब मैं इनसे बड़ी तपस्या करूं। ऐसा सोचकर मुनि महाबल मायापूर्वक तपश्चर्या में प्रवृत्त हुए। यदि छहों मुनि चतुर्थ भक्त तप को अंगीकार करते तो महाबल मुनि उनको बिना बताए षष्ठ भक्त तप को स्वीकार कर लेते। यदि महाबल के साथी मुनि षष्ठ भक्त अथवा अष्टम भक्त तप का आचरण करते तो महाबल अष्टम भक्त अथवा दशम भक्त तप को स्वीकार कर लेते। यदि वे अनगार दशम भक्त तप करते तो वे द्वादश भक्त तप का प्रत्याख्यान कर लेते। इस प्रकार श्रमण महाबल ने कपटपूर्वक तपस्या के कारण स्त्रीनामगोत्र कर्म का उपार्जन किया और अर्हत्, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी के प्रति वत्सलता आदि बीस कारणों के आसेवन तथा पुनःपुनः अभ्यास करने से तीर्थंकर नामगोत्र कर्म का उपार्जन किया।

इस प्रकार तपःसाधना से स्वयं को भावित करते हुए निर्ग्रन्थ महाबल ने चौरासी लाख वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन किया। आयुष्य पूर्ण कर वे जयन्त विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए। उसके बाद वे बत्तीस सागरोपम स्थिति वाले जयन्त विमान से च्युत होकर जम्बूद्वीप भारतवर्ष की मिथिला राजधानी में कुम्भ राजा के घर प्रभावती देवी की कुक्षि से पुत्रीरूप में उत्पन्न हुए। महादेवी प्रभावती को गर्भकाल में मल्लिका के फूलों की शैय्या में बैठने का दोहद उत्पन्न हुआ था, इसलिए पुत्री का नाम मल्लिकुमारी रखा गया। आगे जाकर मल्लिकुमारी तीर्थंकर परम्परा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उन्नीसवें तीर्थंकर हुए। दिगम्बर परम्परा और कुछेक आधुनिक विद्वान् तीर्थंकर मल्लिनाथ को पुरुषरूप में मानते हैं, यह परम्पराभेद है।

२३. लोभ की पराकाष्ठा

काली कजरारी रात। वर्षा का मौसम। मेघाच्छन्न आकाश। चारों ओर कौंधती हुई बिजली। बरसती हुई वर्षा।

महाराज श्रेणिक महारानी चेलना के साथ राजभवन के वातायन में बैठे हुए थे। वातायन से ठंडी-ठंडी हवा आ रही थी। वे रात्रि के नीरव वातावरण को निहारते हुए प्रकृति के आनन्द में समरस बने हुए थे। एकाएक बिजली कौंधने के साथ प्रचण्ड गर्जारव हुआ। उसको सुनकर महारानी चेलना क्षणभर के लिए भय से कुछ सहम गई। उसने कौंधती हुई बिजली के तीव्र प्रकाश में एक वृद्ध पुरुष को देखा। वह वृद्ध पुरुष राजभवन के कुछ ही दूर नदी में खड़ा-खड़ा पानी में बहकर आने वाले बड़े-बड़े लट्ठों को निकाल कर किनारे पर रख रहा था। रानी का अन्तःकरण दरिद्र व्यक्ति को देखकर सिहर उठा। उसने सोचा—कितना दयनीय और निर्धन है यह व्यक्ति? रात्रि की घोर अमां में भी इतना कठोर परिश्रम ! इससे लगता है कि इसे दो जून रोटी भी नसीब नहीं है। यह अत्यन्त निर्धनता का जीवन जी रहा है। हमारे राज्य में ऐसे भी लोग हैं, यह इस व्यक्ति को देखने से पता लगता है।

महारानी चेलना तत्काल राजा श्रेणिक को बिजली के प्रकाश में संकेत से उस पुरुष को दिखाती हुई बोली—लगता है राजा लोग भी वर्षा की नदियों के समान होते हैं। वे भरे हुए को अधिक भरते हैं, जो रिक्त होते हैं उन्हें सदा रिक्त ही रखने का प्रयत्न करते हैं। आपके राज्य में भी ऐसे दरिद्र लोग हैं, उनको भरने का प्रयत्न आप क्यों नहीं करते? आप प्रजापालक हैं, प्रजा की चिन्ता करने वाले हैं, फिर आपके राज्य में ऐसे दरिद्र व्यक्ति रहें, यह कैसा न्याय, यह कैसी शोभा? आपकी दानवीरता और करुणा का लाभ ऐसे लोगों को भी मिले, यही मेरा आपसे निवेदन है।

राजा श्रेणिक ने महारानी के कथन को गंभीरता से लेते हुए राज्यस्थिति की ओर ध्यान देने का वचन दिया। रात्रि बीती। प्रातःकाल हुआ। सूर्य की रश्मियां फैलीं। राजा ने अपने अनुचरों को निर्देश देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए उस व्यक्ति को लाने को कहा। अनुचर उसके घर पहुंचे और उसको लेकर वे राजा के समक्ष उपस्थित हुए। राजा ने उस व्यक्ति से पूछा—तुम कौन हो?

राजन् ! मैं एक सेठ का पुत्र हूं। लोग मुझे मम्मण के नाम से जानते हैं।

राजा ने पुनः पूछा—अरे! इतनी रात बीत जाने पर और मौसम की प्रतिकूलता होने पर भी तुम एकाकी नदी के बर्फीले पानी में खड़े-खड़े इतना श्रम कर रहे हो?

हां, महाराज।

क्या कोई आर्थिक तंगी है?

नहीं, महाराज! मेरे पास व्यापार के अनेक साधन हैं, विविध दिशाओं में मेरा व्यापार फैला हुआ है। कृषि का कार्य भी है।

राजा ने पुनः प्रश्न करते हुए पूछा—यदि तुम्हारे पास इतना व्यापार है तो फिर नदी में खड़े रहकर इतना अधिक कष्ट क्यों उठाते हो?

मम्मण ने कहा—राजन्! यह कष्ट मेरे लिए कष्ट नहीं है। मेरा शरीर ऐसा कष्ट सहने में सक्षम है। वस्तुस्थिति यह है कि वर्षाकाल में अन्य व्यापार बन्द हो जाते हैं। इस ऋतु में काठ की भारी कीमत हो जाती है, इसलिए मैं नदी में बहते हुए काष्ठों को निकाल कर इकट्ठा कर लेता हूं। फिर उनको बेचकर मोटी रकम कमा लेता हूं।

अरे मम्मण! रोटी, कपड़ा, मकान आदि जीवननिर्वाह की अत्यन्त अपेक्षाएं हैं। उनके बिना जीवन चल नहीं सकता। वे अपेक्षाएं तो तुम्हारे व्यापार से ही पूर्ण हो सकती हैं, फिर तुम रात-दिन व्यर्थ कष्टसाध्य श्रम करते हो, यह मेरी समझ में नहीं आता, राजा ने जिज्ञासा के स्वरों में पूछा।

महाराज! मेरे पास एक बैल है। दूसरा बैल नहीं है। मुझे उसकी जोड़ी तैयार करनी है। उसे पाने के लिए ही मैं रात-दिन परिश्रम करता हूं।

अरे! अपनी वृषभशाला में बैलों की क्या कमी है? तुम्हें जो भी बैल पसन्द आए, उसे वहां से ले लो, यह कहकर राजा ने अपने अनुचरों को वृषभशाला दिखाने का निर्देश दिया।

अनुचर सेठ को लेकर वृषभशाला पहुंचे। मम्मण ने पूरी वृषभशाला का निरीक्षण किया। उसने अनेक नस्लों के भांति-भांति के बैल देखे, पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे एक भी बैल पसन्द नहीं आया। उसने राजा के रथ में जुतने वाले बैलों भी नापसन्द कर दिया। वह घूमघुमाकर पुनः राजा के पास पहुंचा। राजा ने पूछा—क्या कोई पसन्द आया बैल? नहीं महाराज! मैं इतना घूमा, देखा, पर मुझे कोई भी अभीप्सित बैल नहीं मिला।

फिर ऐसा कैसा है वह तुम्हारा बैल, जिसकी जोड़ी वाला तुम्हें बैल चाहिए, राजा ने साश्चर्य पूछा।

राजन्! वह तो आपको मेरे घर पधारने पर ही मालूम होगा। उसका अन्दाज आप यहां पर नहीं लगा सकते। आप कृपा करें और मेरे गरीब के आंगन को पवित्र करें।

राजा के मन में करुणा भी थी और बैल को देखने की उत्सुकता भी। एक दिन अवसर देखकर राजा मम्मण के घर पहुंचा। सेठ मम्मण ने राजा का यथोचित आदर-सत्कार किया और वह उन्हें तलघर के उस स्थान पर ले गया जहां बैल था। मम्मण ने ज्योंही तलघर के कपाटों को खोला तो राजा की आंखें उस रत्नमय बैल के दिव्य प्रकाश से चुंधिया गई। सारा भूमिगृह उसके प्रकाश से जगमगा रहा था। राजा श्रेणिक ने विस्मित होते हुए मम्मण से कहा—महाभाग। इसकी जोड़ी का बैल बनाने जितना धन तो मेरे राजकोष में भी नहीं है। लगता है तुम अतिलोभी व्यक्ति हो। तुम बैलों की जोड़ी बनाने के लिए रात-दिन परिश्रम करते हो, खाने-पीने में कंजूसी रखते हो। आखिर ये बैल क्या काम आएंगे? यह तुम्हारी लोभ-चेतना का परिणाम है।

राजा पुनः अपने महलों में लौट आया और उन्होंने मम्मण के विषय में महारानी को भी जानकारी दी। वह भी अपनी उत्कंठा को नहीं रोक सकी। उसने भी मम्मण के घर जाकर उस रत्नमय बैल को देखा। वह भी उसे देखकर आश्चर्य से भर गई। अन्त में महाराज और महारानी ने यही कहा—गरीबी में छिपी अमीरी को पहचानना कठिन है। जो व्यक्ति अति लोभी होता है वही अमीरी में गरीबी का जीवन जीता है। उसको जगत् की बहुमूल्य वस्तु भी सुख नहीं दे सकती और उसके दुःख को मिटाने वाला भी कोई नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. लोहो सव्वविणासणो

किसी नगर में दो मित्र रहते थे। एक का नाम था वामदेव और दूसरे का नाम था रूपसेन। दोनों में बचपन से ही प्रगाढ़ मैत्री थी। दोनों की एक दांत रोटी टूटती थी। जब तक दोनों दिन में एक बार एक दूसरे को नहीं देख लेते, परस्पर बातचीत नहीं कर लेते तब तक वे सुखपूर्वक नहीं बैठ सकते थे। उनका एक साथ मिलना जितना अनिवार्य था उतना ही अनिवार्य था सहगमन। जब भी वे कहीं जाते तो साथ-साथ जाते थे। इस प्रकार उनकी जिगरी दोस्ती को देखकर कुछ लोग आश्चर्य करते तो कुछ उनको शंका की दृष्टि से भी देखते थे।

एक बार दोनों मित्र अपने भविष्य के विषय में चिन्तन कर रहे थे। अन्यान्य विषयों के अतिरिक्त उनका मुख्य चिन्तन था—आर्थिक पक्ष को मजबूत करना। उसके लिए उन्होंने परदेश में जाकर धन कमाने का मानस बनाया। दोनों की सहमति ही क्रियान्विति का हेतु बन गई।

शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में दोनों ने माता-पिता की अनुमति लेकर उत्साहपूर्वक परदेश के लिए प्रस्थान किया। सुदूर देश में पहुंच कर दोनों ने बुद्धिमत्ता और दक्षता के साथ व्यापार प्रारंभ किया। भाग्य ने साथ दिया और पुरुषार्थ ने अपना चमत्कार दिखाया। कुछ ही दिनों में व्यापार में आशातीत लाभ मिलने लगा। अल्पसमय में ही वे धनाढ्य व्यक्ति बन गए। उनके पास काफी धन अर्जित हो गया।

एक दिन दोनों मित्रों को घर की याद आ गई। बचपन के बीते दिन तथा घटनाप्रसंग स्मृतिपटल पर नाचने लगे। एक मित्र ने अपने मित्र से कहा—मित्रवर! हमें परदेश में आए काफी वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। यहां आकर हमने कमाई भी बहुत की है। अब देश में माता-पिता हमें देखने के लिए आतुर हैं। वे हमारी प्रतीक्षा में पलक पांवड़े बिछाए हुए हैं। उनके बार-बार बुलाने के पत्र भी आ रहे हैं, इसलिए हम दोनों को एक बार अवश्य ही अपने देश लौट जाना चाहिए। बोलो, तुम्हारी क्या राय है?

दूसरे मित्र ने अपने मन को खोलते हुए कहा--मित्र! मैं जो कहना चाहता था वही बात तुमने मेरे कहने से पहले ही रख दी। अब मेरा मन भी कुछ उचट-सा गया है। मेरी भी यही भावना है कि अब हमें यहां से प्रस्थान कर देना चाहिए और अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा में शेष दिन बिताने चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों मित्रों ने अपने देश लौटने का निर्णय कर लिया। निर्णय के अनुसार उन्होंने अपना सारा काम भी समेटना प्रारम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों में काम के निपट जाने पर उन्होंने अर्जित धन को रत्न आदि के रूप में भुना लिया। उनको एक नौली में बांधा और वे अपने देश की ओर रवाना हो गए। रास्ते का मामला, बीहड़ मार्ग, चोर-लुटेरों का भय और पास में भारी जोखिम को देखते हुए उन्होंने एक व्यवस्था कर दी कि एक दिन एक मित्र इस नौली को संभाल कर रखे दूसरे दिन दूसरा मित्र। जिस दिन जिसके पास धन हो वह रात को पहरा दे, जिससे दूसरा मित्र निश्चिंत रूप से नींद ले सके। इस प्रकार व्यवस्थापूर्वक धन की रक्षा करते हुए दोनों मित्र आनन्दपूर्वक मार्ग तय करने लगे। ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे थे, मार्ग भी उन दोनों की सुविधानुसार पार हो रहा था। कभी वे पांच कोस चलते तो कभी दस कोस। मार्गगत मंजिलों को देखकर ही उनकी यात्रा चल रही थी।

नीतिकार कहते हैं कि किसी भी व्यक्ति के सारे दिन एक समान नहीं होते। उनमें उतार-चढ़ाव होता रहता है। विचार भी सदा एक समान नहीं रहते। उनमें भी परिवर्तन होता रहता है, कभी अच्छे विचार बुरे विचारों में बदल जाते हैं तो कभी बुरे विचार अच्छे में। यह कालचक्र का परिवर्तन मनुष्य को विविधरूपों में रूपायित कर देता है। इसलिए व्यक्ति में कभी मैत्री का भाव प्रकट होता है तो कभी शत्रुता का। कभी साहूकार व्यक्ति चोर हो जाता है तो कभी चोर व्यक्ति साहूकार हो जाता है। यह परिवर्तन कभी निमित्तों के कारण होता है तो कभी भावजन्य।

जो वामदेव अपने मित्र रूपसेन को देखे बिना नहीं रह सकता था वही आज धन के लालच में संकल्प-विकल्पों में उलझ रहा था। रह-रहकर उसके मन में आ रहा था कि नगर पहुंचते ही यह धन दो पांतियों में बंट जाएगा। यदि रूपसेन को कहीं मार्ग में ही ठिकाने लगा दिया जाए तो सारे धन पर मेरा अधिकार हो जायेगा। इस अनर्थ चिन्तन का केन्द्रबिन्दु था--धन का लोभ। लोभ के कारण व्यक्ति क्या कुछ नहीं करता, क्या-क्या नहीं सोचता? उसके कारण वह प्रीति, मैत्री और विनम्रता को भी खूंटी पर टांग देता है और धन को सिरहाने रखता है। पुनः वामदेव ने सोचा कि हम दोनों मित्र हैं, दोनों में घनिष्ठ प्रीति है, एक दूसरे पर पूरा विश्वास है, फिर यह अकृत्य, अनाचरणीय, कुत्सित और अमानवीय चिन्तन क्यों? किन्तु दूसरे ही क्षण अन्तर्मन में सुलगते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोभ के दावानल ने उस चिन्तन को यह मानकर स्वाहा कर दिया कि कौन किसका, कौन पराया? धन है तो सभी अपने हैं, नहीं है तो कौन किसको पूछता है?

उधर रूपसेन का अन्तर्मानस बिल्कुल निश्छल और पापरहित था। उसके मन में मित्र के प्रति घनिष्ठता, पूर्णविश्वास और समर्पण का भाव था। वह अपने मित्र वामदेव को अपने सगे भाई से भी अधिक मानता था। धन के प्रति भी उसका उतना अधिक आकर्षण नहीं था। इसलिए धन को लेकर उसने कभी अनिष्ट चिन्तन किया ही नहीं।

दोनों मित्र 'धर कूंचा धर मंजला' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए स्वदेश की ओर बढ़ रहे थे। काफी मार्ग तय हो चुका था। एक दिन उनको बड़ा जंगल पार करना था। सूर्य भी अस्त हो चुका था। बड़ी जोखिम साथ लेकर वे रात्रि में आगे बढ़ना नहीं चाहते थे, इसलिए एक सुरक्षित स्थान देखकर उन्होंने वहीं रात्रि बिताने का निर्णय किया। उस दिन धन वामदेव के पास था। निर्जन वन। आस-पास में कोई बस्ती नहीं। एकदम सुनसान। चारों ओर घोर अन्धेरा और वन्य पशुओं की आवाजें। मित्र वामदेव अपनी कर्तव्यनिष्ठा से धन की रक्षा करता हुआ रात को पहरा दे रहा था और पथ के श्रम से थका हुआ रूपसेन निश्चिंत होकर सोया हुआ था। एकाएक वामदेव के मन में पाप उभरा कि आज अवसर अच्छा है। अटवी बिलकुल निर्जन है। मित्र रूपसेन गहरी नींद में है और छुरा भी मेरे पास है, क्यों नहीं आज ही इसका काम तमाम कर दिया जाए। ऐसा सोचकर उसने हाथ में छुरा लिया और सोए हुए रूपसेन के गले पर चलाने के लिए वह उसकी छाती पर बैठ गया। यह एक सचाई है कि मनुष्य में जब क्रूरता और दानवता का उदय होता है तब वह चारों ओर से बेभान हो जाता है। आज मित्र वामदेव भी धन के लोभ में मित्र के खून का प्यासा बना हुआ था। विश्वास, प्रीति और घनिष्ठता को लात मारकर केवल धन के पीछे दौड़ रहा था।

निद्राधीन रूपसेन अपनी छाती पर भार का अनुभव कर एकदम चौंका और हड़बड़ाता हुआ जाग उठा—अरे! कौन दुष्ट मेरी छाती पर बैठा है? मित्र वामदेव! तुम कहां चले गए? तुम दौड़ो, मुझे बचाओ। वामदेव ने उसके पैरों को दबाते हुए कहा—मैं ही वामदेव हूं। बोलो, तुम नींद में किसे पुकार रहे हो?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम वामदेव हो? फिर मेरे साथ यह विश्वासघात—चिल्लाते हुए रूपसेन ने कहा।

तुम मेरे आधे धन के मालिक हो। तुम इस धन को न ले सको, इसलिए मैं तुम्हारा काम तमाम करना चाहता हूं—वामदेव बोला।

मित्र! तुम सारा धन ले लो, किन्तु ऐसा अधम कार्य तो मत करो। मेरे वृद्ध माता-पिता के दिन मेरे बिना कैसे बीतेंगे? उनका जीना दूभर हो जाएगा। तुम मुझे जीवनदान दे दो, मेरे साथ ऐसा धोखा मत करो, यह कहता हुआ रूपसेन आंखों से पानी बहाता हुआ गिड़गिड़ा रहा था, जीवन की भीख मांग रहा था।

वामदेव ने उसे दो टूक जवाब देते हुए कहा—मैं तुम्हारी बातों में आने वाला नहीं हूं। मैं तो तुम्हें जान से ही मारकर दम लूंगा। तुम्हें अपने मां-बाप को कुछ कहना हो तो बोल दो, वरना मौत का वरण करो।

रूपसेन ने अपनी जबान से केवल 'वा रू घो ल' इन चार अक्षरों का ही उच्चारण किया। एकाएक छुरा गर्दन पर चला और वह चिरनिद्रा में सो गया। मित्र मित्र से बिछुड़ गया और उस क्रूरता तथा विश्वासघात का साक्षी बना वह निर्जन वन। तत्काल वामदेव ने उन चारों अक्षरों को अपनी डायरी में नोट कर लिया और प्रभात होते ही वह सारा धन लेकर आशंका और भय के साथ वहां से रवाना हुआ। मन ही मन वह चारों अक्षरों के तात्पर्य को समझने का प्रयत्न कर रहा था और साथ में अपने कुकृत्य से भी क्षुब्ध था। आखिर वह मन को मसोस कर उसे आश्वस्त कर रहा था कि उसने जो कुछ किया है वह उचित ही किया है, मार्ग को निरापद बनाया है, अब उसे शंकित होने का भय क्यों?

रूपसेन द्वारा उच्चारित चारों अक्षरों के अर्थ को न समझने के कारण उसने यही सोचा—शायद मित्र ने मौत के भय से इन शब्दों को अपने मुंह से निकाल दिया है। वैसे इनका कोई अर्थ नहीं निकलता।

वामदेव प्रतिदिन चलता हुआ अपने नगर में सकुशल पहुंच गया। अपने परिवार वालों से मिला। सभी ने उसका स्वागत और सत्कार किया, कुशमक्षेम का समाचार पूछा। तत्पश्चात् सगे-संबंधियों ने उससे यात्रा के विषय में पूछा। वामदेव ने रोमांचित ढंग से आदि से लेकर अन्त तक उसका वर्णन कर दिया। पर सभी का एक ही प्रश्न था कि तुम्हारा मित्र रूपसेन कहां है? उसे तुम कहां छोड़ आए हो? इस विषय में वामदेव मौन था। रूपसेन के माता-पिता ने भी जब वामदेव के आने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाचार सुना तो वे तत्काल वामदेव के घर पहुंचे और पुत्र के विषय में पूछते हुए बोले—अभी थोड़े ही दिन पहले तुम्हारा पत्र आया था। उसमें लिखा था कि हम दोनों जल्दी देश आ रहे हैं। तुम यहां अकेले और तुम्हारा मित्र साथ में नहीं, यह बात कुछ समझ में नहीं आ रही है। व्यापार भी तुम दोनों का साथ में था। तुम उसे छोड़कर यहां अकेले कैसे आ गए?

वामदेव कहे तो क्या कहे? सत्य को ढकने के लिए उसने असत्य का सहारा लिया और दबती जबान से कहा कि हम दोनों आने वाले थे, किन्तु वह धन कमाने की दृष्टि से पुनः वहीं रुक गया। मुझे यहां अकेले ही आना पड़ा।

क्या उसने हमारे लिए कोई सन्देश भी भेजा है? रूपसेन के पिता ने पूछा।

लम्बा चौड़ा संदेश तो उसने नहीं दिया, शीघ्रता में उसने मात्र चार अक्षर ही लिखकर दिए हैं।

वे चार अक्षर कौन से हैं? पिता ने शंकित होते हुए पूछा।

वामदेव ने अपनी डायरी से पन्ना फाड़कर रूपसेन के पिता के हाथों थमा दिया। उसमें 'वा रू घो ल'--ये चार अक्षर लिखे हुए थे।

पत्र को पढ़कर पिता विस्मय से भर गया। यह कैसा पत्र! सर्वथा रहस्यपूर्ण। कुछ समझ में नहीं आ रहा था और साथ में 'दाल में कुछ काला है', ऐसा भी प्रतीत हो रहा था। अनेक भाषाविज्ञ, वकीलों तथा बुद्धिमान् लोगों को वह पत्र गुत्थी सुलझाने के लिए दिया गया। पर कोई भी उस पत्र को नहीं समझ सका। अन्त में रूपसेन का पिता राजा के पास पहुंचा और एकान्त में पत्र को निवेदित करते हुए बोला—महाराजन्! मेरे पुत्र रूपसेन और वामदेव—दोनों में प्रगाढ मैत्री थी। दोनों कमाने के लिए परदेश गए हुए थे। वामदेव का यहां एकाकी आना संशय पैदा करता है। उससे लगता है कि मेरे पुत्र की हत्या की गई है। वामदेव के द्वारा यह पत्र आया है। इसमें मेरे पुत्र का सन्देश चार अक्षरो में अंकित है। इन चारों का आप क्या तात्पर्य समझते हैं?

राजा ने उन चारों अक्षरों को पढा। अपने मन्त्रियों, गणमान्य व्यक्तियों तथा सांसदों से भी वह पत्र पढवाया, पर कोई भी उसके हार्द को नहीं पकड़ सका। सभी चक्कर में पड़ गए। राजा का एक भूतपूर्व वृद्ध मन्त्री था। वह बड़ा ही रहस्यवादी और बुद्धिमान् व्यक्ति माना जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। राजा ने उसे अक्षरचतुष्क पन्ना सौंपते हुए इस समस्या को हल करने का निर्देश दिया। मंत्री को अक्षरानुसारिणी प्रज्ञा प्राप्त थी। उसके आधार पर उसने एक-एक अक्षर का एक-एक चरण पूरा कर श्लोक निर्मित कर दिया। उसने वह श्लोक राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। उसमें लिखा था—

वा—वामदेवेन मित्रेण, **रू**—रूपसेनो वनान्तरे।

घो—घोरनिद्रावशीभूतो, **ल**—लक्षलोभान्निपातितः।।

इसका अर्थ था—एक लाख के लोभ के कारण मित्र वामदेव ने घोर निद्रा से वशीभूत रूपसेन को वन के मध्य मार दिया।

राजा इस रहस्यपूर्ण अर्थ को जानकर आश्चर्य में पड़ गया। उसने सोचा—रहस्य बिल्कुल यथार्थ है। अवश्य ही वामदेव ने रूपसेन की हत्या की है। सत्य को उगलवाने के लिए राजा ने वामदेव को एकान्त में बुलाया और सही-सही बात व्यक्त करने के लिए कहा। पर वामदेव कब सत्य बोलने वाला था? राजा ने चारों अक्षरों के अर्थ को सामने प्रस्तुत करते हुए कहा—इन चारों अक्षरों के रहस्यानुसार लगता है कि अपराध तुम्हारा ही है। तुम उसे अभी स्वीकार करो अथवा बाद में स्वीकार करो, स्वीकार तो अवश्य करना ही पड़ेगा। यदि तुम अपराध को सरलता से स्वीकार करते हो तो अच्छा है, अन्यथा दण्ड के बल से उसे स्वीकार कराया जाएगा। वामदेव ने सत्य को छिपाने का भरसक प्रयत्न किया, पर मार के आगे वह कब छिपने वाला था। जब आरक्षी-पुरुषों ने उसे पीटना प्रारम्भ किया तो उसने अपने अपराध को स्वीकार करते हुए कहा—मैंने ही धन के लोभ के कारण रूपसेन की हत्या की है। उसने आदि से लेकर अन्त तक सारा घटनाप्रसंग राजा के सामने रख दिया। राजा ने उसे हत्या और विश्वासघात के जुर्म में देश निकाला दे दिया और सारा धन रूपसेन के माता-पिता को सौंप दिया।

इसलिए जैन आगमों में कहा गया—**'लोहो सव्वविणासणो'** अर्थात् लोभ सबका विनाश करने वाला है।

२५. सज्जनता का परिणाम

प्रतिष्ठानपुर नगर अपने सुयश से सुदूरदेशों में भी विश्रुत बना हुआ था। उसकी सुख-समृद्धि, ऐश्वर्यशालिता तथा महिमामंडन जन-जन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख पर मुखरित था। अनेक राजा और धनिक व्यक्ति भी उसकी यश-कीर्ति का लोहा मानते थे। वहां की प्रजा सर्वप्रकार से सुखी और संपन्न थी।

उसी नगर में धनसार नाम का एक धनिक व्यक्ति रहता था। वह विपुल धन-धान्य तथा सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं का स्वामी था। उसके चार पुत्र थे—धनदत्त, धनदेव, धनचन्द्र और धन्यकुमार। उनमें प्रथम तीन भाई क्रमशः लाला, बाला और काला—इन तीन उपनामों से लोगों में ज्यादा जाने जाते थे। चौथा भाई धन्यकुमार 'धनजी' के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। चारों सगे भाई होते हुए भी प्रकृति से भिन्न थे। पहले तीन भाई झगड़ालू, ईर्ष्यालु, असहिष्णु और क्रोधी थे। उन तीनों को देखकर लगता था कि वे कौनसे पूर्वजन्म के संस्कारों को लेकर जन्मे हैं। उनके जीवन में धर्म-कर्म नाम का अंशमात्र भी नहीं था। वे पापकारी और अधार्मिक प्रवृत्तियों में लिप्त थे। माता-पिता ने तीनों को समझाने-बुझाने और सुधारने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु उनके जीवन में जरा भी परिवर्तन नहीं आया। वे जहां थे वहीं रहे। अन्ततः मां-बाप ने उनको कुछ कहना-सुनना ही बन्द कर दिया।

चौथा भाई धन्यकुमार पुण्यात्मा, प्रतिभावान्, सूझबूझ का धनी, सौभागी तथा सज्जनप्रकृति का था। उसके संस्कारों को देखकर लगता था कि वह पूर्वभव में कोई बड़ा धर्मात्मा रहा है। जब उसका सेठजी के घर जन्म हुआ तो लक्ष्मी ने उसके घर में पैर पसारना प्रारम्भ कर दिया। व्यापार दिनों-दिन बढ़ता ही गया। चारों ओर उन्नति ही उन्नति दिखाई देने लगी। उसके जन्म के बाद जब उसकी नाल गाड़ने के लिए भूमि में गड्ढा खोदा गया तो वहां से मोहरों का एक चरु निकला, इसलिए पुत्र का नाम भी धन्यकुमार रखा गया। वह कुलगौरव को मंडित करने वाला तथा धन-संपत्ति को बढ़ाने वाला था। उसमें विनय, अनुशासन, धैर्य आदि गुण थे। वह केवल अपने माता-पिता का ही विश्वासपात्र अथवा प्रियपात्र नहीं था, जन-जन के लिए भी स्नेहसिक्त बन गया।

उसके अन्य तीन भाई धन्यकुमार से सर्वथा विपरीत थे। उन्होंने जो भी व्यापार किया, नुकसान ही हाथ लगा। उनके रूठे भाग्य ने कभी उनका साथ नहीं दिया। अपनी असत्प्रवृत्ति के कारण भी वे कभी किसी की प्रियता को नहीं ले सके। व्यक्ति की दुर्बलता है कि जब स्वयं में गुणों का अभाव होता है तो वह दूसरों की उन्नति को भी नहीं देख सकता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी ख्याति-प्रख्याति भी नहीं सुन सकता। वह उसे येन केन प्रकारेण नीचा गिराने का प्रयत्न करता है अथवा उसको मारने का षड्यंत्र रचता है। धनदत्त, धनदेव, और धनचन्द्र तीनों भाई अपने छोटे भाई धन्यकुमार की उन्नति को कब सहन करने वाले थे? वे मन ही मन ईर्ष्या से भरे हुए थे। वे ऐसे अवसर की ताक में थे कि सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। तीनों मिलकर भाई को मारने की योजना बनाने लगे।

प्रायः व्यक्ति बात को गुप्त रखना चाहता है, पर कभी न कभी उसका भेद भी खुल जाता है। धन्यकुमार को विश्वस्त सूत्रों से उस षड्यंत्र का पता लग गया। उसने सावधानी के लिए प्रतिष्ठानपुर नगर छोड़ना उचित समझा। रात्रि में वह वहां से प्रस्थान कर गया और चलते-चलते उज्जयिनी नगरी में जा पहुंचा। अपनी सूझ-बूझ से वह वहां के महाराज चंडप्रद्योत का मंत्री बन गया। उधर धन्यकुमार के माता-पिता पुत्र के चले जाने से दुःखी रहने लगे। धन्यकुमार के पैरों में निधान था। जब तक वह घर में रहा तब तक लक्ष्मी का अनुग्रह भी धनसार के घर में बना रहा। उसके चले जाने के बाद मानो लक्ष्मी ने भी धीरे-धीरे अपनी माया को समेटना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन वह आया जब धनसार दूसरों का मुंहताज बन गया, खाने के लाले पड़ गए। अभावग्रस्त होकर वह भी निर्धनता का जीवन जीने लगा। वह अपने तीनों पुत्रों, पुत्रवधुओं तथा पत्नी को साथ लेकर घर से निकल गया और उसने भी प्रतिष्ठानपुर नगर को छोड़ दिया।

कर्मों की लीला बड़ी विचित्र होती है। कभी वह राजा से रंक, धनिक से निर्धन बना देती है तो कभी वह रंक से राजा और निर्धन से सेठ-साहूकार बना देती है। जिस धनसार के पास अपार धन था, सैंकड़ों नौकर-चाकर जिसकी सेवा में तत्पर रहते थे, रहने को आलीशान मकान और सुख भोगने के लिए अनेक प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध थी आज वह सेठ गांव-गांव में मजदूरी करके अपने परिवार का भरण-पोषण कर रहा था। कुछ दिनों के बाद वह भी अपने परिवार को लेकर उज्जयिनी नगरी में पहुंच गया। धन्यकुमार राजा का मंत्री था। उसने नगर की रक्षा के लिए अनेक गुप्तचरों को नियुक्त कर रखा था। उनके माध्यम से मंत्री को प्रतिदिन ज्ञात रहता था कि उसके नगर में आज किन अपरिचित व्यक्तियों का आगमन हुआ है। जब धन्यकुमार को परिवारसहित अपने पिता के आगमन की जानकारी मिली तो उसने सारे परिवार को अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महल में बुलवा लिया। पिता की दुर्दशा को देखकर पुत्र धन्यकुमार का मन आहत हो गया, पर कर्मों की मार के आगे वह भी लाचार था। उसने पुत्र होने के नाते पिताश्री और सारे परिवार को यथोचित सुख-सुविधाएं प्रदान कीं, रहने और खाने की व्यवस्था की। अन्त में धन्यकमार ने पिताश्री को निवेदन करते हुए कहा—जब तक मैं यहां हूं आप निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक रहें। मेरी ओर से उसमें कोई न्यूनता नहीं आएगी।

यह सत्य है कि व्यक्ति वय से, रहन-सहन से, परिवेश से, आकार-प्रकार आदि से बहुत कुछ बदलता है, पर आदत से वह वहीं का वहीं रहता है। लाला, बाला और काला के उपनामों से पहचाने जाने वाले तीनों भाइयों का व्यवहार अपने भाई धन्यकुमार के साथ पहले जैसा ही था। उनके मन में ईर्ष्या की ज्वाला भभक रही थी। वे भाई का अनिष्ट करने पर तुले हुए थे। उनकी आंखों में भाई का वैभव, शाही ठाठ-बाट खटक रहा था। वे चाहते थे कि धन्यकुमार की संपत्ति का हिस्सा उनको भी मिले। बड़ी विचित्रता है कि दुर्जन व्यक्ति अपनी दुर्जनता को नहीं छोड़ता तो सज्जन व्यक्ति अपनी सज्जनता को नहीं छोड़ता। धन्यकुमार सज्जन-प्रकृति का व्यक्ति था, इसलिए वह दुर्जन भाइयों के साथ भी सज्जनता का व्यवहार कर रहा था। पर सज्जनता कब तक चलने वाली थी? आखिर धन्यकुमार ने उनसे तंग आकर उज्जयिनी नगरी को भी छोड़ दिया।

रात्रि का समय। यात्रा का मार्ग। धन्यकुमार अनजाने देश की ओर बढ़ रहा था। मार्ग में गंगा देवी ने उसके शील की परीक्षा ली। वह उसमें उत्तीर्ण हो गया। देवी ने प्रसन्न होकर उसे चिन्तामणि रत्न प्रदान किया। कुमार चिन्तामणि रत्न लेकर राजगृही पहुंचा। वहां उसने सेठ कुसुमपाल के सूखे बगीचे में विश्राम किया। यह कहावत है कि पुण्यवान् व्यक्तियों का पादन्यास भी सुख के लिए होता है। वे जहां जाते हैं, वहां खोई हुई सुख-समृद्धि पुनः लौट आती है। धन्यकुमार के भाग्य और चिन्तामणि रत्न ने अपना प्रभाव दिखाया। सेठजी का सूखा बगीचा पुनः हरीतिमा से हरा-भरा हो गया। सेठ ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री 'कुसुमश्री' का विवाह धन्यकुमार से कर दिया।

एक दिन राजगृही के महाराज श्रेणिक का प्रधान हाथी सेचनक मद से उन्मत्त हो गया। वह उच्छृंखल होकर नगर में उत्पात मचाने लगा। उसको वश में करने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए, किन्तु वे सभी व्यर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध हुए। नगर में सर्वत्र हाथी की उच्छृंखलता से जनहानि और मालहानि हो रही थी। लोगों में हाहाकार मचा हुआ था। राजा श्रेणिक चिन्तातुर थे। कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। राजा श्रेणिक के अमात्य अभयकुमार बुद्धिमान् समझे जाते थे, किन्तु वे भी उस समय महाराज चंडप्रद्योत के यहां उज्जयिनी में बन्दी बने हुए थे। सारे नगर में उद्घोषणा कराई जा रही थी कि जो भी व्यक्ति सेचनक हाथी को वश में करेगा महाराज श्रेणिक उसे यथोचित पुरस्कार से पुरस्कृत करेंगे। हाथी को वश में करने के लिए केवल शरीर का बल ही पर्याप्त नहीं था उसके साथ में प्रबल भाग्य की भी जरूरत थी। अनेक व्यक्तियों ने अपनी-अपनी युक्ति के अनुसार हाथी को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। अन्त में धन्यकुमार ने भी इस संकट की घड़ी में अपने भाग्य को परखना चाहा। वह अपने इष्टदेव का स्मरण कर हाथी के सामने गया। जैसे ही उसने हाथी को पुचकारते हुए सहलाया तो वह सूंड हिलाता हुआ उसके इस प्रकार वशीभूत हो गया कि मानो वह पूर्वभव में उसका मित्र रहा हो। चारों ओर धन्यकुमार की जय-जयकार हो गई। सारी जनता ने उस भीषण संकट से राहत की सांस ली। राजा श्रेणिक ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री सोमश्री का विवाह धन्यकुमार से कर दिया। अब कुमार धन्य राजा का जामाता होकर सुखपूर्वक रहने लगा।

उन्हीं दिनों की घटना है कि राजगृही नगर में गोभद्र नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसके गिरवी का व्यापार था। एक काने व्यक्ति ने सेठजी को धोखा देने के लिए एक चाल चली। वह उसकी दुकान पर आया और बोला—सेठजी! मैंने अपनी एक आंख आपके पास गिरवी रखी थी। आप अपनी रकम वापिस लेकर वह मुझे लौटा दीजिए। सेठ यह सुनकर भौचक्का-सा रह गया। उसके सामने दोहरी समस्या थी। पहली समस्या तो यह थी कि क्या कभी आंख भी गिरवी रखी जा सकती है? दूसरी समस्या थी कि जब सामने वाला व्यक्ति आंख मांग रहा है तो वह कहां से लाए?

अब न्याय करे तो कौन करे? सौभाग्य से धन्यकुमार भी किसी कार्यवश उसकी दुकान पर आया हुआ था। सेठजी ने सारी स्थिति को प्रकट करते हुए कुमार से समाधान करने को कहा। धन्यकुमार ने आगन्तुक व्यक्ति की कलई खोलते हुए कहा—यदि सेठजी के पास तुम्हारी आंख गिरवी रखी हुई है तो तुम अपनी दूसरी आंख निकाल कर सेठजी को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दे दो। वे इस आंख से उस आंख को तोलकर तुमको दे देंगे। क्योंकि यहां तो आंखें गिरवी रखने का धन्धा है। उसमें कैसे पता चलेगा कि तुम्हारी आंख कौन-सी है? वह काना व्यक्ति यह सुनते ही सकपका गया, उसके पैरों तले जमीन खिसक गई। वह बोले तो क्या बोले? उसकी सारी पोल खुल गई। उसने अपने दुर्भावना को स्वीकार कर लिया। धन्यकुमार की औत्पत्तिकी बुद्धि से गोभद्र सेठ के सम्मान की रक्षा हो गई और साथ में धन और अहेतुक संकट भी टल गया। सेठ ने धन्यकुमार पर प्रसन्न होकर अपनी पुत्री सुभद्रा का विवाह उससे कर दिया। अब धन्यकुमार तीनों पत्नियों के साथ सानन्द रहने लगा।

उधर उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत अपने कुशल मंत्री धन्यकुमार के चले जाने से अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने कुमार के तीनों भाइयों और परिवार के अन्य सदस्यों को भी अपने राज्य से इसलिए निष्कासित कर दिया कि धन्यकुमार के जाने में उन भाइयों की अहंभूमिका रही थी। सारा परिवार गांव-गांव, नगर-नगर में घूमता-फिरता हुआ एक दिन राजगृही में आ पहुंचा। धन्यकुमार को अपने भाइयों और माता-पिता के आगमन की सूचना मिली। उसने अतीत में किए गए भाइयों के दुर्व्यवहार को भुलाकर सद्‌व्यवहार का बर्ताव किया और उनको अपने पास रख लिया। सारा परिवार सुख-समृद्धिपूर्वक वहां रहने लगा। तीनों भाई काफी ठोकरें खा चुके थे, फिर भी उनकी आदतों में कोई परिवर्तन नहीं आया। अब भी वे अपनी दुर्जनता को पूर्ववत् पाल रहे थे। उनकी दुर्जनता से पीड़ित होकर धन्यकुमार को पुनः एक बार राजगृही नगर छोड़ कर कौशाम्बी नगरी में जाना पड़ा। वहां के महाराज शतानीक के यहां रत्नों की परीक्षा में वह उत्तीर्ण हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर उसे राजसी सम्मान दिया और अपनी पुत्री सौभाग्यमंजरी का पाणिग्रहण भी उसके साथ कर दिया। राजा ने पुत्री के दहेज में पांच सौ गांवों की जागीर उसे प्रदान की। धन्यकुमार ने स्वतंत्ररूप से धनपुर नाम का नगर बसाया और वह वहीं रहने लग गया।

दुर्जन व्यक्ति कभी भी, कहीं भी और किसी भी परिस्थिति में सुखी नहीं हो सकता, यह एक सचाई है। तीनों भाई अपनी दुर्जनता के कारण अपना काफी अनिष्ट कर चुके थे, फिर भी वे संभले नहीं। एक ओर धन का अभाव तो दूसरी ओर दुर्जनता की पराकाष्ठा। छोटे भाई धन्यकुमार ने अपनी सज्जनता के कारण उनकी आर्थिक सहायता की, उनके परिवार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भरण-पोषण किया, दुःख की वेला में वह सहयोगी बना। इतना सब कुछ करने पर भी तीनों भाइयों को उसका व्यवहार रास नहीं आया। वे हमेशा उसके प्रतिकूल रहे। धनाभाव के कारण उनको भी कौशाम्बी नगर छोड़ना पड़ा। मजदूरी की खोज में वे भी धनपुर आ गए। वहां एक तालाब की खुदाई हो रही थी। सारा परिवार खुदाई के कार्य में लग गया। धन्यकुमार अभी तक अपने परिवार के लिए अज्ञात था। एक दिन वह खुदाई का कार्य देखने के लिए तालाब पर गया। उसने दूसरे-दूसरे मजदूरों के साथ अपने माता-पिता आदि को भी खुदाई करते देखा। उसने माता-पिता सहित परिवार के सभी सदस्यों को पहचान लिया। उनकी इस दयनीय अवस्था से कुमार का मन द्रवित हो गया। वह उनको अपने घर ले गया। फिर उसने अपनी उदारता का परिचय दिया। अपनी सज्जनता की खुशबू बिखेरते हुए उसने भाइयों सहित सारे परिवार को अपने पास रख लिया। वह नहीं चाहता था कि उसके भाई दरिद्रता का जीवन जीएं। इसलिए उसने उदारमना होकर पांच सौ गांवों की जागीर भी उनको सौंप दी।

सज्जनता का परिणाम आदि से अन्त तक मधुर और सुखद होता है। यही कारण था कि धन्यकुमार के पैरों में जीवन की सुख-समृद्धि सदैव लुठती रही। अन्त में वह सब प्रकार की सुख सुविधाओं को ठुकराकर संयमपथ का अनुगामी बना और अपनी साधना से मोक्ष को प्राप्त किया।

२६. दुर्जनता की फलश्रुति

किसी नगर में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। वह कम पढ़ा-लिखा था, किन्तु स्वभाव से बड़ा ही सज्जन और विनम्र था। उसका प्रतिदिन का कार्य था कि सुबह-सुबह राजा के पास जाना और राजा को अपना मंगल आशीर्वाद प्रदान करना। ब्राह्मण की आशीर्वाद देने की भी एक बनी बनाई शब्दावली थी—'धर्म की जय हो, पाप का नाश हो, किसी का भला करना अपना भला और बुरा करना अपना ही बुरा।' इसके सिवाय उसके पास कहने को और कोई शब्द नहीं थे। प्रतिदिन वह उसी शब्दावली को राजा के सामने दोहरा देता और पुनः अपने घर लौट आता। राजा भी उसे भला आदमी जानकर उसे सम्मान देते थे, कभी-कभी मुस्करा कर उससे बात कर लेते थे और उसको कुछ दे भी देते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजसभा में राजपुरोहित राजगुरु के रूप में सम्मानित था। उसे राजा का उससे बातचीत करना अच्छा नहीं लगता था। वह मन ही मन यही सोचता था कि महाराज इस तुच्छ ब्राह्मण को बहुत ही आदर-सम्मान देते हैं, सुख दुःख की बातें पूछते हैं और इसको कुछ देने का आश्वासन देकर कुछ न कुछ दे भी देते हैं। यह मेरे लिए उचित नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि यह ब्राह्मण राजा की आंखों में चढ़ जाए और मैं उनकी आंखों से उतर जाऊं। फिर मेरा राज-सम्मान कहां सुरक्षित रहेगा? कौन मेरा आदर-सत्कार करेगा? कहीं ऐसा भी न हो कि राजा मेरा पद छीनकर इस ब्राह्मण को न दे दें, इसलिए पानी आने से पहले ही मुझे पाल बान्ध लेनी चाहिए। राजपुरोहित का शंकाशील मन ब्राह्मण का अहित करने पर तुला हुआ था। वह उसे ईर्ष्या और सन्देह की दृष्टि से देखता था। वह ऐसे अवसर की खोज में था कि ब्राह्मण की कोई गलती उसकी पकड़ में आए और उसके आधार पर वह उसको नीचा गिरा सके। बहुत दिन बीत जाने पर भी वैसी कोई बात उसके हाथ नहीं लगी, क्योंकि ब्राह्मण बहुत ही भद्र, सरल और सदाचारी था। आखिर पुरोहितजी ने अपनी कूटनीति से उस पर दोषारोपण करने का प्रयत्न किया।

एक बार ब्राह्मण को रास्ते में ही पुरोहितजी मिल गए। ब्राह्मण ने झुककर पुरोहितजी का अभिवादन किया और कहा—पुरोहितजी! आप तो राजसम्मानित पुरुष हैं। राजा का आप पर पूर्ण विश्वास है। आप मेरे जैसे गरीब ब्राह्मण के लिए भी कुछ कीजिए, जिससे मेरी घर-गृहस्थी अच्छी प्रकार चल सके।

पुरोहित ने कहा—तुम्हें समझ ही कहां है? क्या तुम्हें पता है कि राजा से कैसे बात करनी चाहिए? क्या कभी खुले मुंह भी राजा से बात होती है? तुम मांग तो रहे हो दान, पर मुझे लगता है कि कहीं तुम्हारी मूर्खता के कारण राजा तुम्हें दंडित ही न कर दे।

तो महाराज! आप कृपा कर बताएं कि महाराज से मैं खुले मुंह नहीं तो कैसे बात करूं, ब्राह्मण ने पूछा।

पुरोहितजी ने धूर्तता के साथ उसको सलाह देते हुए कहा—जब भी तुम राजा से बात करो, मुंह पर कपड़ा लगा लिया करो, जिससे राजा के शरीर पर तुम्हारा थूक उछल कर न गिरे। उससे महाराज भी तुम्हारे पर प्रसन्न रहेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सज्जन ब्राह्मण ने हाथ जोड़कर कहा—आपने मुझे अच्छा सुझाव दिया है। भविष्य में मैं इसका पूरा ध्यान रखूंगा।

अब ब्राह्मण प्रतिदिन राजसभा में मुंह पर कपड़ा बांधकर आने लगा। जब भी वह राजा से कोई बात करता तो पुरोहितजी द्वारा सुझाई गई विधि से बात करता, मुंह पर वस्त्र बांध लेता। उधर पुरोहितजी ने भी ब्राह्मण की अनुपस्थिति में राजा के कानों को भरना शुरू कर दिया। उसने राजा को बहकाते हुए कहा—महाराजश्री ! यह ब्राह्मण आपको गरीब और भला लगता होगा, पर है बड़ा दुर्जन। यह प्रतिदिन आपको आशीर्वाद देकर केवल आपका मन बहलाता है। क्या सभी सफेद वस्तुएं दूध हो सकती हैं? यह आपके सामने दूध जैसा व्यवहार करता है, किन्तु इसका आचरण अत्यन्त निकृष्ट है। यह कहने को तो ब्राह्मण है, किन्तु बहुत बड़ा पियक्कड़ भी है, प्रतिदिन शराब पीता है। और क्या कहूं? यह ब्राह्मण जाति से भी बहिष्कृत है। कहीं इसका आदर-सम्मान नहीं है, फिर महाराजश्री उससे बात करें, उसे पुरस्कृत करें तो यह आपश्री के लिए शोभनीय कैसे हो सकता है?

राजा ने आश्चर्य से भरते हुए कहा—पुरोहितजी! तुमने जो कहा वह सत्य ही होगा, पर मैंने ऐसा कुछ अनुभव नहीं किया। उसकी आकृति तो यह नहीं कहती कि वह शराब पीता है।

कुटिलता से पुरोहितजी ने कहा—महाराजश्री! आप करुणाशील हैं। आप तो सबको एक ही तराजू में तोलते हैं। अच्छा कौन है और बुरा कौन है? इसकी पहचान निकट रहने वाला व्यक्ति ही कर सकता है। वही उसका प्रमाण भी प्रस्तुत कर सकता है।

राजा ने मुस्कराते हुए पूछा—क्या ऐसा कोई प्रमाण तुम्हारे पास है, जिससे उसकी नशे की आदत का पता लग सके?

महाराजश्री! प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या? जिस दिन वह शराब पीकर आपके पास आएगा उस दिन उसके मुंह पर कपड़ा बन्धा होगा। वह आप से मुंह पर कपड़ा रखकर ही बात करेगा, जिससे शराब की गन्ध आपश्री को न आए।

राजा कानों के कच्चे होते हैं। उनके सामने जो भी कहा जाता है वैसी ही धारणा अपने भीतर जमा लेते हैं। राजा के मन में भी ब्राह्मण के प्रति एक गलत धारणा बैठ गई।

प्रतिदिन की भांति अगले दिन ब्राह्मण राजसभा में उपस्थित हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसने मुंह पर वस्त्र बांधकर राजा को आशीर्वाद देते हुए उसी शब्दावली को दोहराया—'धर्म की जय हो, पाप का नाश हो, भला करना अपना भला और बुरा करना अपना बुरा'। राजा ने उस शब्दावली को सुना, किन्तु कहा कुछ नहीं। क्योंकि मन में समाई हुई गलत धारणा ने राजा को मौन रखा।

उन्होंने मन ही मन सोचा—कैसा विचित्र व्यक्ति है कि ब्राह्मण होते हुए भी शराब पीता है और मुझे आशीर्वाद देता है और मेरे से कुछ लेने के लिए याचना भी करता है। आज इसे मैं दान के साथ-साथ कठोर दंड भी दूंगा। राजा ने अपने हाथ से एक रुक्का लिखा। उसे लिफाफे में बन्दकर ब्राह्मण को देते हुए कहा—आज मैं तुमको एक हजार रुपयों का दान दे रहा हूं। तुम कोषाध्यक्ष के पास जाकर इस राशि को वहां से प्राप्त कर लो।

भला ब्राह्मण यह सुनकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—पुरोहितजी की कृपा से मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया। वह तीव्रता से वहां से चला। संयोगवश उसे रास्ते में ही पुनः पुरोहितजी मिल गए। ब्राह्मण ने पुरोहितजी का आभार ज्ञापित करते हुए कहा—यह आपकी ही कृपा का परिणाम है कि राजाजी ने प्रसन्न होकर मुझे एक हजार रुपयों की बक्शीश की है। पुरोहितजी ने जब यह सुना तो उसके मन में भी लोभ जाग गया। उसने ब्राह्मण के हाथ से रुक्के को लेते हुए कहा—देखता हूं, इसमें क्या लिखा है? पर पुरोहितजी तो रुपये पाने की लालसा में उसे बिना देखे ही वहां से चलता बना। ब्राह्मण देखता ही रहा। अब गरीब की पुकार कौन सुने, पुरोहित के सामने उसका वश भी क्या चल सकता था? ब्राह्मण हताश होकर अपने घर लौट आया और लोभाविष्ट दुर्जन पुरोहित कोषाध्यक्ष के पास जा पहुंचा। उसने बन्द लिफाफा कोषाध्यक्ष को दे दिया। जब कोषाध्यक्ष ने उस बन्द लिफाफे को खोलकर रुक्के को पढा तो वह विस्मय से भर गया। उसमें लिखा था—

'रुपया दीज्यो रोकड़ा, मत दीज्यो सुल्लाक।
घर में आधो घालने, काटी लीज्यो नाक।।'

कोषाध्यक्ष ने राजा के कथनानुसार उसे हाथ में रुपयों की थैली देकर तथा उसे अन्दर बुलाकर नाक काट दी। पुरोहितजी को अपनी करणी का फल हाथोंहाथ मिल गया। जो अपनी दुर्जनता के कारण दूसरों के लिए गड्ढा खोदता है वह स्वयं ही पहले उसमें गिरता है। विधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का यह भी विचित्र खेल है कि दुर्जन व्यक्ति कभी अपने मंसूबे में सफल नहीं होता।

सारा घटनाप्रसंग राजा तक पहुंचा। राजा को पूरा विश्वास हो गया कि यह सब काली करतूत पुरोहितजी की थी। उसी के कारण उसने अपना अनिष्ट किया, पर वह ब्राह्मण का कुछ नहीं बिगाड़ सका। उसने ही मुझे बरगलाया, गुमराह किया। बेचारा ब्राह्मण निर्दोष प्रमाणित हुआ। राजा ने सारी सचाई जानकर पुरोहितजी को कड़ा दंड देते हुए उसे अपने राज्य से निष्कासित कर दिया और ब्राह्मण को राजपुरोहित के पद पर अभिषिक्त कर दिया। सर्वत्र दुर्जनता की हार और सज्जनता की विजय होती है।

२७. डाकू से संन्यासी

महर्षि वाल्मीकि आदिकवि थे। उन्होंने संस्कृत भाषा में रामायण की रचना कर एक नवीन और अपूर्व कार्य किया। भारतीय जनमानस में रामायण के प्रति सहज ही एक प्रगाढ़ श्रद्धा है। वह अपने आप में अद्वितीय हैं। उस स्थिति में उसके रचनाकार का नाम कैसे विस्मृत किया जा सकता है?

आदिकवि वाल्मीकि का मूल नाम अग्निदत्त शर्मा था। वह बचपन में रत्नाकर नाम से अधिक जाना जाता था। उसका जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ, किन्तु अधम पुरुषों के संसर्ग से उसका आचरण और व्यवहार भी वैसा ही हो गया। उसके परिणामस्वरूप उसने किसी शूद्रकन्या से विवाह कर लिया। उसके घर की आर्थिक स्थिति कमजोर थी, परिवार का भरण-पोषण करना कठिन था। उसके लिए रत्नाकर ने अनैतिक और अशुद्ध साधनों से अर्थ का अर्जन करना प्रारम्भ कर दिया। वह राहगीरों को लूटता-खसोटता था और किसी के कुछ न देने पर उसका प्राणान्त भी कर देता था। जो भी पथिक उसके आवास के निकट के जंगल से होकर गुजरता, उसे रत्नाकर के हाथों चढ़ना ही होता था। कोई उससे बच नहीं सकता था। इस उत्पात के कारण धीरे-धीरे लोगों के मन में आतंक व्याप्त हो गया। आने-जाने वालों के लिए वह मार्ग एक प्रकार से बन्द हो गया। यदि कोई भूला-भटका अथवा अपरिचित व्यक्ति उस मार्ग में आ भी जाता तो वह निष्प्रयोजन रत्नाकर के हाथों लूटा जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा उसे जीवन से हाथ धोना पड़ता। जानबूझकर कोई भी पथिक उस मार्ग से निकलने को तैयार नहीं था। रत्नाकर धीरे-धीरे एक कुख्यात खूंखार डाकू और लुटेरा बन गया। उसके इन कारनामों से सुदूर देशों में रहने वाले लोग भी उसके नाम से परिचित हो गए।

एक दिन रत्नाकर अपने हाथ में धनुष-बाण लिए जंगल में घूम रहा था। वह खोज रहा था कि कोई राहगीर उसके चंगुल में फंसे और वह उसको लूटे। अचानक उसे कुछ ही दूरी पर सात ऋषि आते हुए दिखाए दिए। उसका मन प्रसन्नता से बांसों उछलने लगा। उसने सोचा—बहुत दिनों से कोई शिकार नहीं मिला था। अच्छा हुआ आज एक ही साथ सात-सात शिकार मेरे हाथ लग रहे हैं। मैं इनको लूटकर पिछले दिनों की रिक्तता की पूर्ति करूंगा।

ऋषि अल्हड़ और मस्तप्रकृति के होते हैं। उन्हें जीने मरने का कोई भय नहीं होता। वे सदा परोपकार के लिए जीते और मरते हैं और कभी कभी दूसरों के हितार्थ बड़ी से बड़ी आपदा को भी स्वीकार कर लेते हैं। जब सप्तर्षि डाकू रत्नाकर के कुछ निकट आए तो वह उनका रास्ता रोककर बीच में खड़ा हो गया और उनको ललकारते हुए बोला—जो भी तुम्हारे पास में हो वह सब बिना किसी ननु-नच के मुझे सौंप दो, अन्यथा मृत्युवरण के लिए तैयार हो जाओ।

एक ऋषि ने आगे आकर रत्नाकर से कहा—वत्स! हम तो ऋषि-मुनि हैं, वनवासी और घुमक्कड़ हैं। हम तो निरंजन, निराकार हैं। हमारे पास लेने-देने को क्या है? हम तो भिक्षा मांगकर अपनी साधना करते हैं। हमारे पास तो केवल राम का ही नाम है। वह चाहो तो तुम ले सकते हो। फिर साधु-सन्तों के प्रति तुम्हारा ऐसा अनुचित और अकरणीय व्यवहार करना क्या शोभनीय है?

रत्नाकर ने गरजते हुए कहा—तुम कौन हो, क्या हो, कैसे हो, मैं नहीं जानता। मैं तो लूटना और मारना जानता हूं। मैंने तो बचपन से इसी भाषा को सीखा है। तुम लोग अपने आपको अकिंचन बताकर सत्य को छिपा रहे हो, मेरे साथ छलावा कर रहे हो। मुझे पता है कि यह अमीरी गरीबी की ओट में पलती है। मैं तुम्हारी बातों में आने वाला मूर्ख नहीं हूं। मुझे तो अपने कर्तव्य का निर्वाह करना है, लूट-खसोट करना मेरा धन्धा है, यही मेरी आजीविका का साधन है। उसके लिए उचित क्या है, अनुचित क्या है, शोभनीय क्या है, अशोभनीय क्या है, सब मेरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए गौण है। इसलिए तुम सब मेरी बात मानकर यहां सब कुछ रख दो, वरना इस बाण के सामने आ जाओ।

दूसरे ऋषि ने शान्तभाव से उसे समझाते हुए कहा—भैया! हमने माना कि तुम्हें परिवार चलाने के लिए ऐसा जघन्य कार्य करना पड़ रहा है। इस घृणित और हेय कार्य को कौन अच्छा कहेगा? फिर भी मैं तुमसे पूछ लेता हूं कि जो धन तुम्हारे द्वारा अपहृत किया जा रहा है उसका हिस्सा बंटाने वाले तो परिवार के सभी सदस्य हैं, किन्तु इस अमानवीय कार्य से तुम कितने पापों का अर्जन कर रहे हो उसमें कौन-कौन भागीदार हैं, क्या कभी तुमने सोचा?

रत्नाकर दृढ़ विश्वास के साथ बोला—इसमें सोचना क्या है? जो धन के हिस्सेदार हैं वे पाप के हिस्सेदार क्यों नहीं होंगे, अवश्य होंगे।

तीसरे ऋषि ने मुस्कराते हुए कहा—वत्स! यह तुम्हारा भ्रम ही है। हमें तो लगता है कि तुम अभी तक भ्रम के जाल में फंसे हुए हो। तभी तुम ऐसी बात कह रहे हो।

रत्नाकर ने तत्काल सप्तर्षियों को आश्वस्त करते हुए कहा—यदि तुम लोग मेरा भ्रम ही अनुभव कर रहे हो तो मैं अभी घर जाता हूं और परिवार के सदस्यों से पूछकर जान लेता हूं कि वे मेरे द्वारा कृत पाप में सहभागी हैं या नहीं। पर तुम यहां से कहीं और चले गए तो....।

ऋषियों ने उसको वचन देते हुए और प्रतिज्ञा करते हुए कहा—जब तक तुम यहां नहीं आ जाते तब तक हम कहीं जाने वाले नहीं है।

ऋषिवचनों पर विश्वास कर रत्नाकर द्रुतगति से वहां से चला और सीधा अपने घर पहुंच गया। उसने परिवार के सदस्यों को इकट्ठा कर कहा—आज मैंने ऋषियों के मुख से एक नई बात सुनी है कि मैं अपने जीवन में भ्रम पाल रहा हूं। उसी के निवारण के लिए मैं आप लोगों के बीच आया हूं। मैं जानना चाहता हूं कि जिस प्रकार मेरे द्वारा लूटे खसोटे हुए धन में आप सब भागीदार हैं क्या उसी प्रकार मेरे द्वारा उपार्जित पाप में हिस्सा बंटाने के लिए भागीदार होंगे?

सभी सदस्य इस विचित्र पहेली को सुनकर हक्के-बक्के रह गए, एक दूसरे का मुंह देखने लगे। सभी ने एक स्वर में कहा—भैया! हमने कब कहा था कि तुम ऐसा घृणित और अमानवीय काम करो। उसके पाप का फल तो तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। उसमें कोई भी भागीदार नहीं हो सकता। वह पाप न तो दिया जा सकता है और न लिया जा सकता है। जो व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी असत्प्रवृत्ति के द्वारा पाप का अर्जन करता है, उसको अकेले ही उसका फल भोगना होता है।

रत्नाकर ने जब यह सुना तो उसका सारा मिथ्याभ्रम टूट गया। सचाई प्रत्यक्ष हो गई। ऋषियों का सत्यवचन बार-बार उसके अन्तर्नाद में गूंजने लगा। वह तत्काल उल्टे पांव ऋषियों के पास लौटा और उनके चरणों में प्रणत होते हुए बोला—महात्मन्! आप लोगों ने मुझे सत्य का आलोक दिया है। आज तक मेरे नेत्र अज्ञान के अन्धकार से निमीलित थे। वे आज उस आलोक से खुले हैं। आज मुझे एक नया बोधपाठ मिला है—सभी लोग बाह्य पदार्थों में अपना हिस्सा बंटाने में तत्पर होते हैं, किन्तु आन्तरिक पाप को भोगने में कोई भी भागीदार नहीं बनना चाहता। ऋषिवर! मैंने अतीत में जो कुछ किया, अज्ञानवश किया। उसका अब मैं परिमार्जन करना चाहता हूं। मुझे अब इस कार्य से घृणा हो गई है। आज से ही मैं इस घृणित कार्य को छोड़ रहा हूं। अब आप मेरा मार्गदर्शन करें? मुझे भविष्य के लिए कोई कल्याणकारी मार्ग सुझाएं।

सप्तर्षि उसके इस आकस्मिक रूपान्तरण पर अत्यधिक प्रभावित हुए। ऋषियों के एक वचन ने उसके सारे जीवन को बदल दिया। सत्संगति से उसका कायाकल्प हो गया। ऋषियों ने रत्नाकर को एक मंत्र देते हुए कहा—जब तक हम वापिस न आ जाएं तब तक तुम इस मंत्र का निरन्तर जाप करते रहना। ऋषि दिशानिर्देश कर वहां से प्रस्थान कर गए। रत्नाकर उसी दिन से मंत्र-जाप में लग गए। न उन्हें खाने की सुध थी तो न पीने की। रात-दिन उनका मंत्र का जप चलता रहता था। मंत्र-साधना में उनकी इतनी अधिक तल्लीनता बढी कि उन्हें काल का बोध भी नहीं रहा। दिन, मास और वर्ष बीतते चले गए। उनके चारों ओर धूल की बांबी-सी जम गई। लम्बे अन्तराल के पश्चात् सप्तर्षि उसी मार्ग से लौटे। जब उन्होंने रत्नाकर की समाधि को देखा तो वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने रत्नाकर को संबोधित कर कहा—रत्नाकर! तुम्हारे जीवन में आश्चर्यजनक रूपान्तरण हुआ है। तुम अपनी साधना में सफल हुए हो। अब तुम सद्‌कर्म करो और अपनी कर्मसाधना से संसार को नया आलोक दो। ध्यान में अवस्थित होने के कारण उनका शरीर वल्मीक अर्थात् बांबी से ढक गया था, इसलिए उनका नाम लोगों में रत्नाकर से वाल्मीकि विश्रुत हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८. संगत की रंगत

एक राजा वन-विहार का अति शौकीन था। उसे नए-नए जंगल देखने की उत्कंठा बनी रहती थी। राज्यभार के व्यस्त क्षणों का विसर्जन कर वह कुछ समय प्रकृति के अंचल में बिताना चाहता था। प्रकृति का सुरम्य वातावरण, चारों ओर फैली हरीतिमा, नए-नए पक्षियों के दर्शन, वृक्षों की सघन छाया, कहीं पहाड़ियां तो कहीं तलहटियां, बहते हुए निर्झर तथा मन्द-मन्द बहती शीतल और शुद्ध वायु आदि उसके मन का संताप हरने वाले थे। वह खुले आकाश में रहकर जितना प्रसन्न था उतना चहारदीवारी में रहना कम पसन्द करता था।

एक दिन राजा मंत्री आदि राज्याधिकारियों के साथ जंगल में गया। नए-नए दृश्यों को निहारता हुआ वह सघन जंगल में पहुंच गया। एक स्थान पर वह चोरों की पल्ली से होकर गुजर रहा था। पल्ली के बाहर एक वृक्ष पर एक पिंजरा लटका हुआ था। एक प्रशिक्षित तोता उसमें आबद्ध था। राजा को देखते ही तोता जोर-जोर से बोलने लगा—मारो, काटो, छेदो, पकड़ो, लूटो। राजा ने उन अपमानजनक और असभ्यशब्दों को सुना। उनसे उसका मन आहत हुआ। वह चाहता तो उसे मार भी सकता था, किन्तु एक पक्षी को मारने में कौन-सा सार था? राजा वहां से निकलकर कुछ आगे बढ़ा। कुछ ही दूरी पर उसे संन्यासियों का एक बड़ा आश्रम दिखाई दिया। वहां भी आश्रम के परिसर के बाहर वृक्ष की शाखा पर एक पिंजरा लटका हुआ था। उसमें भी एक प्रशिक्षित तोता प्रतिबन्धित था। वह भी राजा को देखते ही जोर-जोर से बोलने लगा—स्वागत है, सुस्वागत है, आइए, पधारिए, अभ्यागत का स्वागत है। राजा ने उन सम्मानसूचक और माधुर्यपूर्ण शब्दों को भी सुना। उसका मन उन शब्दों से बहुत ही प्रफुल्लित और प्रभावित हुआ। राजा समझ नहीं पा रहा था कि एक ही जाति के दो तोतों के संस्कारों में इतना अन्तर क्यों? पहले वाले तोते ने अशिष्ट और भद्दे शब्द कहकर मेरा अपमान किया और इस तोते ने सभ्यवचनों का प्रयोग कर मेरा स्वागत किया। उसकी जिज्ञासा मुखर हुई। आखिर राजा ने उस तोते से ही उसका कारण जानना चाहा। तोते ने राजा को समाहित करते हुए कहा—

'गवाशनानां स शृणोति वाक्यमहं च राजन्! मुनिपुङ्गवानाम्।
प्रत्यक्षमेतद् भवतापि दृष्टं, संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजन्! हम एक ही मां के दोनों सगे भाई हैं। एक बार एक बहेलिए ने हम दोनों को पकड़ लिया। हम उसके जालपाश में फंस गए। उसने अपनी कमाई का साधन बनाकर मेरे एक भाई को चोरों के हाथ बेच दिया। चोर उसको अपनी पल्ली में ले गए। बहेलिए ने मुझे एक संन्यासी के हाथ बेच दिया। मैं साधु-संन्यासियों की संगत में आ गया। मेरा बड़ा भाई शुक रात-दिन उन चोरों की अश्लील, अशिष्ट और गंदी भाषा को सुनता है। वे चोर प्रायः दूसरों के लिए मारो, काटो, छेदो, लूटो आदि भाषा का प्रयोग करते हैं, इसलिए वह तोता भी उनकी वाणी में बोलना सीख गया। संगत की रंगत का प्रभाव सब पर होता है। इसके विपरीत मैं साधु-संन्यासियों के पास रहा। संन्यासी की वाणी मधुर और शिष्टतापूर्ण होती है। वे दूसरों का सम्मान--स्वागत है, आइए, पधारिए आदि सम्मानसूचक शब्दों का उच्चारण कर करते हैं। मैं उनकी संगत में रहकर उसी वाणी में बोलना सीख गया। यही हम दोनों के संस्कारों में अन्तर है। आपने भी साक्षात् इसका अनुभव कर लिया है।

राजा ने शुक के कथन से एक नया बोधपाठ ग्रहण किया और वह भलीभांति समझ गया। उसने निष्कर्ष निकाला कि जो गुणिजनों के संसर्ग में रहता है वह बुरा होते हुए भी अच्छा बन जाता है। जो अगुणिजनों की संगति में पड़ जाता है उसके गुण भी दोषरूप में परिणत हो जाते हैं। इसलिए गुणिजनों का संगम जीवन को सद्‌संस्कारों से भावित करता है।

२९. इन्द्रियों की दासता

१. श्रोत्रेन्द्रिय की दासता

वसन्तपुर नाम का नगर। वहां पुष्पशाल नाम का एक गांधर्विक रहता था। वह रूप में बीभत्स था, किन्तु कंठकला में बेजोड़ था। उसके स्वरों में माधुर्य था। उसने अपनी गायनकला से वसन्तपुर के लोगों का दिल जीत लिया था। उसी नगर में एक सार्थवाह भी रहता था। एक बार वह दिग्यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ। उसकी पत्नी भद्रा ने किसी प्रयोजनवश अपनी दासियों को बाहर भेजा। वे दासियां उस गांधर्विक का गायन सुनने में मुग्ध हो गईं। उन्हें कालबोध का भान ही नहीं रहा। वे विलम्ब से घर पहुंचीं। भद्रा ने उनको विलम्ब से पहुंचने का उपालम्भ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया। दासियों ने गांधर्विक के गायन की प्रशंसा करते हुए कहा—हमने आज जो गायन सुना है उसे बिना सुने कोई भी उसके माधुर्य की कल्पना नहीं कर सकता। हमारे विलम्ब आने का वही रसीला गायन निमित्त बना है। भद्रा का मन भी गांधर्विक को देखने-सुनने के लिए लालायित हो उठा।

एक बार नगर-देवता की शोभा यात्रा निकलने वाली थी। नगर के लोग मन्दिर में इकट्ठे हुए। भद्रा भी वहां आई। लोग नगरदेवता को प्रणाम कर अपने-अपने घर जा रहे थे। भद्रा भी देवता को प्रणाम कर मन्दिर की परिक्रमा करने लगी। वहां एक व्यक्ति सोया हुआ था। दासी ने उसे पहचानते हुए भद्रा से कहा—यह वही पुष्पशाल गान्धर्विक है, जिसके गायन की हमने प्रशंसा की थी। लगता है कि यह गाने से परिश्रान्त होकर यहीं सो गया है। भद्रा ने उसे भली-भांति देखा। वह कुरूप और दंतुर था। भद्रा ने घृणा से भरते हुए कहा—जब इसका रूप ही अच्छा नहीं है तब भला इसकी गायनकला क्या अच्छी होगी? यह तो इसे देखकर ही पता लग रहा है, यह कहकर उसने उस पर थूक दिया। वह वहां से चली गई। गायक की निद्रा भंग हुई। लोगों ने उससे भद्रा के अशिष्ट व्यवहार की बात कही। वह मन ही मन कुपित हुआ। दूसरे दिन वह भद्रा के घर गया और घर के बाहर प्रातःकाल प्रोषितपतिका द्वारा बनाया गीत गाने लगा। कैसे वह पूछता है, कैसे चिन्तन करता है, कैसे पत्र लिखता है, कैसे आकर घर में प्रवेश करता है इत्यादि भावों की अभिव्यक्ति उस गीत के माध्यम से हो रही थी। भद्रा ने गीत की स्वरलहरियों को सुना। उसने सोचा—शायद पतिदेव परदेश से आ गए हैं। वे पास में ही होंगे। मैं वहां जाऊं। उनका स्वागत करूं। वह तत्काल उठकर चलने लगी और अपनी असावधानी के कारण ऊपर से नीचे गिर कर मर गई।

उसके पति ने सुना कि इस गायक ने ही मेरी पत्नी को मारा है। एक दिन उसने उस गायक को बुलाकर भरपेट भोजन कराया। भोजन के बाद सार्थवाह ने गायक से गाते हुए ऊपर चढ़ने को कहा। उसने गाना प्रारम्भ किया। ऊर्ध्व श्वास से उसका सिर फूट गया और वह वहीं मर गया।

२. चक्षुरिन्द्रिय की दासता

मथुरा नाम की नगरी। वहां का जितशत्रु राजा और रानी का नाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारिणी था। रानी स्वभाव से धर्मपरायण महिला थी। एक दिन राजा अपने राजपरिवार के साथ सज-धजकर भंडीरवन नामक चैत्य की यात्रा के लिए जा रहा था। मार्ग में एक वणिक्‌पुत्र ने यवनिका से बाहर निकले हुए महारानी के पैरों को देखा। पैरों में नुपूर पहने हुए थे, उनमें अलक्तक लगा हुआ था। युवक ने सोचा कि जिस स्त्री के चरण इतने सुन्दर हैं तो उसका रूप कितना सुन्दर होगा? वह मन ही मन उसमें आसक्त हो गया। उसने राजमहल के पास ही एक दुकान खरीद ली। वह उसमें सुगन्धित द्रव्यों का व्यापार करने लगा। जहां अन्यान्य लोग उस दुकान से गन्धद्रव्य खरीदते थे तो रानी की दासियां भी महारानी के लिए वहां से सुगन्धित द्रव्यों को खरीदती थीं। एक दिन युवक ने दासियों से पूछा—इन बहुमूल्य गन्धद्रव्यों को कौन मंगाता है? दासियों ने कहा—रानीजी। युवक ने गन्धद्रव्यों के साथ एक भोजपत्र पर कुछ लिखा और उसे दासियों के साथ महारानी के पास भेज दिया। महारानी ने उसकी भावना को जानकर पुनः दासियों के साथ एक पत्र के माध्यम से कहलवाया—मैं तुम्हें नहीं चाहती हूं। पत्र को पढ़कर युवक उदास हो गया। उसने सोचा—जब तक मुझे रानी प्राप्त न हो जाए तब तक मैं जीवित नहीं रह सकता। वह वहां से चला गया और दूसरे राज्य में रहने लगा। वहां वह सिद्धपुत्रों के आश्रम में रहा। वहां नीति की बात चल रही थी। उसका सार था कि व्यक्ति को कभी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। त्वरा करने वाला व्यक्ति कभी अपने लक्ष्य में सफल नहीं होता। उस वणिक्‌पुत्र ने भी उस नीतिवाक्य को सुना और सोचा—मैं भी अपने घर जाऊं और त्वरा न कर राजा की रानी को पाने का प्रयत्न करूं।

यह सोचकर वह अपने देश लौट आया। वहां अनेक दंडरक्षक चांडाल विद्यासिद्ध थे। वह उनके पास गया और कहा—क्या तुम मुझे राजा की रानी से मिला सकते हो? चांडालों ने सोचा—रानी तो उसे तब मिल सकती है जब उस पर कोई झूठा कलंक लगे। झूठा कलंक लगने पर राजा स्वतः ही उसे छोड़ देगा। विद्यासिद्ध चांडालों ने विद्याबल से मारी की विकुर्वणा की। मारी के प्रभाव से लोग मरने लगे। राजा ने चांडालों से कहा—तुम मारी के कारणों की खोज करो। विद्यासिद्ध पुरुषों ने एक दिन रात्रि में रानी के वासगृह में मनुष्य के हाथ-पैरों की विकुर्वणा की और रानी का मुंह रक्त से खरंटित कर दिया। उन्होंने राजा से निवेदन किया—महाराज! आप अपने घर में खोज करें, मारी वहीं से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न हुई है। राजा ने रानी के वासगृह को देखा, वहां पर मनुष्यों के हाथ-पैर मंडे हुए थे और रानी का मुंह रक्त से सना हुआ था। राजा को विश्वास हो गया कि मारी यहीं से उत्पन्न हुई है। उसने चांडालों को निर्देश दिया कि मध्यरात्रि के समय जहां कोई न देखता हो वहां इसे मार डालो। निर्देश स्वीकार कर चाण्डाल रात्रि में रानी को अपने घर ले गए। वह वणिक्पुत्र भी वहां आ गया। वे उसे मारने का उपक्रम करने लगे। उस वणिक्पुत्र ने चांडालों को प्रचुर धन देकर रानी को इस शर्त पर छुड़ा लिया कि वह इस देश को छोड़कर किसी दूसरे देश में चला जाएगा। रानी ने सोचा—इस युवक ने अकारण ही मेरे पर करुणा की है, मुझे मौत से बचाया है, यह मेरा परम उपकारी है। उसका उसके प्रति अनुबन्ध हो गया। वह उसके साथ अनुराग के धागे में बन्ध गई। वह वणिक्पुत्र उसको लेकर दूसरे देश में चला गया। वहां जाकर दोनों भोग भोगते हुए सुखपूर्वक रहने लगे।

एक बार वह तरुण वणिक्पुत्र नाटक देखने के लिए प्रस्थित होने वाला था। रानी स्नेह के वशीभूत होकर उसे भेजना नहीं चाहती थी। उसके स्नेह को देखकर वह युवक हंसा। रानी ने हंसने का कारण पूछा तो उसने यथार्थ बात बताते हुए कहा कि मैं नटिनी के रूप में अनुरक्त हूं। यह सुनकर रानी के मन को ठेस पहुंची और सोचा--जिस युवक को मैं तन-मन से चाह रही हूं वही मुझे भी ठुकरा रहा है और किसी अन्य के प्रेम में पागल बना हुआ है तब मुझे किस पर विश्वास करना चाहिए? यह सोचकर रानी उससे विरक्त हो गई। वह दीक्षा लेकर संयमजीवन व्यतीत करने लगी। वह वणिक्पुत्र रानी को न देख सकने के कारण दुःखी रहने लगा और उसके वियोग में आर्त-रौद्र ध्यान में मरकर नरक में उत्पन्न हुआ।

३. घ्राणेन्द्रिय की दासता

एक कुमार घ्राणेन्द्रिय-विषय के वशवर्ती था। उसे हमेशा नए-नए सुगन्धित द्रव्यों को सूंघने की इच्छा रहती थी। वह नौकाओं में क्रीड़ा-विहार किया करता था। एक दिन उसकी सौतेली मां ने मंजूषा में विष रखकर उसे नदी में बहा दिया। कुमार ने नदी में आती हुई मंजूषा को देखा। उसने नदी से मंजूषा को निकाला और तट पर ले आया। वह उसे खोलकर देखने लगा। उस मंजूषा के भीतर एक छोटी मंजूषा भी थी। मन में कुतूहल जागा कि इसमें क्या है? वह उसे खोलकर देखने लगा। उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से गन्ध आ रही थी। गंधप्रिय कुमार ने उसे गन्धद्रव्य जानकर सूंघा। सूंघते ही विष का प्रभाव शरीर में हुआ और वहीं उसका प्राणान्त हो गया।

४. रसनेन्द्रिय की दासता

एक राजा था। वह आम खाने का बहुत शौकीन था। जहां कहीं भी वह आमों को देखता अनायास ही उसकी रसलोलुपता आम खाने के लिए मचल उठती। एक बार राजा को आम खाने से अजीर्ण हुआ। कई वैद्य चिकित्सा करने के लिए बुलाए गए। उन्होंने राजा की चिकित्सा की। राजा स्वस्थ हो गया। वैद्यों ने राजा को सावधान करते हुए कहा—राजन्! आम खाना आपके स्वास्थ्य के लिए सर्वथा प्रतिकूल है। यदि आप भविष्य में कभी आम का सेवन करोगे तो शायद आपको जीवन से भी हाथ धोना पड़ सकता है। इसलिए आम न खाना ही आपके लिए श्रेयस्कर है। वैद्यों का वह कथन राजा के लिए एक चेतावनी और अनिष्ट की संभावना का सूचक था। पर आदत की लाचारी बहुत खराब होती है। उस समय जीभ पर संयम करना बड़ा कठिन होता है। राजा जब भी आमों को देखता उसका मन आमों को खाने के लिए आतुर हो जाता। मंत्री राजा के स्वास्थ्य के प्रति अति जागरूक था। उसने राजा के अनिष्ट को देखते हुए अपने राज्य में आमों के अनेक बगीचों को उजड़वा दिया। जहां कहीं भी मंत्री को यह मालूम हो जाता कि वहां आम के पेड़ हैं तो वह उन्हें जड़मूल से उखड़वा देता। इस प्रकार मंत्री के प्रयत्न से सारे राज्य में आमों का उत्पादन तथा क्रय-विक्रय का कारोबार ही बन्द हो गया।

एक दिन राजा को वन-विहार करने की इच्छा हुई। वह अपने मंत्री के साथ घोड़े पर चढ़कर जंगल में गया। चलते-चलते वह किसी दूसरे राज्य की सीमा में पहुंच गया। वहां आम के वृक्षों की बहुलता थी। आमों की सुगन्ध से आस-पास का वातावरण भी सुगन्धित था। मार्ग की थकान से राजा बहुत थक गया था। उसने विश्राम करने की इच्छा व्यक्त की। कुछ ही दूरी पर उसे आम के छायादार वृक्ष दिखाई दिए। राजा उनकी सघन छाया में विश्राम करना चाहता था। मंत्री ने उन्हें रोका और चेतावनी देते हुए कहा—महाराजन्! वैद्यों की सख्त मनाही है। आप वहां न जाएं, यहीं कहीं विश्राम कर लें। राजा ने अपने मन्तव्य को रखते हुए कहा—मंत्रीवर! वैद्यों ने तो मुझे आम खाने का निषेध किया है, वहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्राम करने का निषेध थोड़े ही किया है। यदि मैं वहां विश्राम करता हूं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं आमों को खा रहा हूं। मंत्री ने पुनः अपने मत को पुष्ट करते हुए कहा—राजन्! हमें जहां जाना ही नहीं है फिर वहां विश्राम करने की बात सोचना भी निरर्थक है। आस-पास में अनेक वृक्ष हैं। हम उनकी छाया में भी बैठ सकते हैं। कई बार आम्रवृक्षों की छाया भी व्यक्ति को रुग्ण कर देती है, इसलिए राजा को आमवृक्षों को उसी प्रकार छोड़ देना चाहिए, जैसे सांप अपनी कंचुली को छोड़ता है। एक बार आप बिमारी को भोग चुके हैं। पुनः वह रोग न हो, इसलिए अब आपको फूंक-फूंक कर पग रखने की आवश्यकता है।

व्यक्ति की रसात्मकता बहुत कुछ समझाने-बुझाने और प्रतिषेध करने पर भी वैसी की वैसी बनी रहती है। अज्ञ व्यक्ति को फिर भी समझाया जा सकता है, पर बुद्धिमान् के ऊपर बुद्धिमान् अथवा शासक के ऊपर शासक कौन हो सकता है? मंत्री के बार-बार निषेध करने पर भी राजा ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। बहुत समझाने पर भी राजा ने आम के वृक्ष की छाया में ही विश्राम किया। राजा विश्राम हेतु वहां सोए हुए थे। उनकी ललचाई आंखें बार-बार वृक्ष पर लगे आमों को निहार रही थीं। उनकी भीनी-भीनी सुवास राजा को आनन्दित कर रही थी। अचानक राजा के पास ही पेड़ से टूट कर एक आम्रफल गिरा। राजा ने उसे तत्काल उठा लिया। मंत्री ने राजा का हाथ पकड़ते हुए कहा—महाराजश्री! आप क्या कर रहे हैं? आम को हाथ में लेने का अर्थ है किंपाक फल को हाथ में लेना। क्या आप जीवन के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं? राजा ने हंसते हुए कहा—मंत्रीवर! मैंने आम खाया नहीं है, हाथ में ही लिया है। इसमें कौनसा अनिष्ट होने वाला है? वैद्यों ने मुझे आम खाने का निषेध किया है, उसे हाथ में लेने अथवा सूंघने का निषेध थोड़े ही किया है। जब व्यक्ति जीभ के स्वाद के वशवर्ती होता है तब वह धीरे-धीरे एक-एक कदम आगे बढ़ता हुआ संकल्पपूर्ति तक पहुंच जाता है। राजा ने भी वैसा ही कर दिखाया। पहले राजा की इच्छा मात्र आम के वृक्ष के नीचे बैठने की थी। फिर वह आम को ग्रहण करने तथा उसे सूंघने तक सीमित रही। अन्त में उसकी रसलोलुपता ने उसे आम खाने के लिए विवश कर दिया। वह अपने आपको रोक नहीं सका। वह रसनेन्द्रिय का दास बन गया। उसने आम खाया और वह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. स्पर्शनेन्द्रिय की दासता

वसन्तपुर नाम की नगरी। वहां का राजा जितशत्रु और उसकी रानी का नाम सुकुमालिका था। जैसा उसका नाम था वैसा ही उसका स्पर्श था। राजा रात-दिन स्पर्शनेन्द्रिय सुख के वशीभूत बना हुआ था। न उसे राज्य-संचालन की चिन्ता थी और न प्रजापालन की। वह सदा पत्नी में अनुरक्त होकर अन्तःपुर में ही अधिक समय बिताता था। राज्य के अधिकारीगण राजा की इस पराङ्‌मुखता से चिन्तित और हताश बने हुए थे।

एक दिन मंत्री, सामन्त तथा अन्यान्य अधिकारीगण आपस में मिले। सबने मिलकर चिन्तन किया कि यदि राज्य की यही स्थिति बनी रही तो दूसरा राजा अवसर का लाभ उठाकर इस राज्य को अपने राज्य में भी मिला सकता है? यह सोचकर सबका यही निर्णय रहा कि वर्तमान राजा को हटाकर उसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दिया जाए। एक दिन अवसर देखकर राजकर्मचारियों ने राजा-रानी को सोते हुए राजमहल से उठाया और वे उनको भयंकर अटवी में छोड़ आए। राजसिंहासन पर राजा के पुत्र का अभिषेक कर दिया।

अब राजा-रानी अरण्य में एकाकी थे। कहां तो राजमहलों की सुविधाएं और कहां अब जंगल की दुविधाएं ! कहां तो उनकी सेवा में रहने वाले सैकड़ों नौकर-चाकर और कहां अब स्वयं के हाथ-पैर ही कर्मकर ! राजा ने अपने द्वारा कृत समस्या मानकर और अपने द्वारा ही निर्मित परिस्थिति को जानकर उसे झेलना ही उचित समझा। रानी को प्यास लगी। उसने पतिदेव से पानी की याचना की। जंगल में पानी कहां से आए? बहुत खोज करने पर भी राजा को पानी नहीं मिला। उसने युक्तिपूर्वक रानी को यह कहकर उसकी आंखों पर पट्टी बांध दी कि 'यह अटवी अति भयानक है, कहीं तुम डर न जाओ।'

राजा ने रानी की प्यास बुझाने के लिए अपनी भुजाओं से रक्त निकाला। वह गाढा न पड़ जाए, उसे पतला रखने के लिए उसमें मूलिका को मिलाया और उसे रानी को पिला दिया। जब रानी को भूख लगी तब राजा ने अपनी जांघ का मांस काटकर खिला दिया और अपने घाव को व्रणसंरोहिणी जड़ी लगाकर ठीक कर लिया।

राजा-रानी दोनों चलते-चलते एक नगर में पहुंचे। वहां पहुंचकर राजा ने व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया। रानी के पास आभूषण थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यापार के लिए राजा को आभूषणों की आवश्यकता थी। पर रानी ने अपने आभूषण राजा को नहीं दिए, उन्हें छिपाए रखा। एक दिन रानी ने राजा से कहा—आप दिनभर व्यापार में संलग्न रहते हैं। मैं घर पर अकेली रहती हूं। मेरा घर में मन नहीं लगता। आप मेरे लिए किसी दूसरे व्यक्ति की व्यवस्था कर दें, जिससे मेरा मन लगा रहे। राजा उसकी बात से सहमत हो गया।

उसी गली में एक पंगु रहता था। राजा ने सोचा—यह पंगु व्यक्ति निरुपाय है। वह रानी को गीत-संगीत तथा कथा आदि सुनाकर उसका मन बहलाता रहेगा, इसलिए राजा ने पंगु को गृहपालक के रूप में रानी के पास नियुक्त कर दिया। धीरे-धीरे रानी उसमें आसक्त हो गई। अब वह राजा को ठिकाने लगाने की सोचने लगी। एक दिन राजा उद्यान में टहलने के लिए गया। वहां रानी ने उसे अत्यधिक मद्य पिलाकर बेहोश कर नदी में फेंक दिया। पंगु और रानी दोनों सुखपूर्वक रहने लगे। उनका धन पूरा हो गया। अब रानी पंगु को अपने कंधे पर बिठाकर गांव-गांव और घर-घर में घूमने लगी। लोग रानी से पूछते—ऐसी जोड़ी कैसे? रानी कहती कि मेरे माता-पिता ने मेरे लिए ऐसा ही वर ढूंढा हैं, मैं क्या करूं?

उधर नदी के प्रवाह में बहते-बहते राजा एक नगर में पहुंच गया। वह एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था। नियतिवश उसी दिन नगर का राजा मर गया। उसके कोई पुत्र नहीं था। राजा का चुनाव करने के लिए मंत्री आदि राज्यकर्मचारियों ने एक अश्व को अधिवासित किया। उसे नगर में छोड़ दिया। वह अश्व उसी वृक्ष के पास रुका, जहां जितशत्रु सोया हुआ था। लोगों ने उसकी जय-जयकार कर हर्षनाद किया। मंत्री आदि अधिकारीगण उसके सामने आए। उन्होंने जितशत्रु से निवेदन करते हुए कहा—प्रभो! आप हमारे नाथ हैं, राजा हैं। अब आप इस राज्य की बागडोर संभाल कर राज्य का संचालन करें। वह उस नगर का राजा बन गया।

एक बार पंगु को कंधे पर लिए वह रानी भी उसी नगर में आ गई। एक दिन वह महलों के परिपार्श्व से होकर गुजर रही थी। राजा ने उन दोनों देखा और तत्काल उन्हें पहचान गया। राजा ने उन दोनों को अपने महल में बुलाया और पूछा—ऐसी स्थिति क्यों? रानी ने कहा—माता-पिता ने मेरा विवाह ऐसे ही व्यक्ति से किया है तब मैं क्या करूं?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा ने अतीत के रहस्यों को खोलते हुए कहा—जिसकी भुजाओं का तुमने खून पीया, जिसकी जंघा का तुमने मांस खाया, फिर उसी पति को तुमने नदी में प्रवाहित कर दिया, ऐसी पतिव्रता नारी को धिक्कार है ! आज स्वयं को पतिव्रता कहकर तुम मुझे भी ठग रही हो।

यह सुनकर रानी भौचक्की-सी रह गई, मानो उसके पैरों तले धरती खिसक गई। अब रानी कहे तो क्या कहे? वह लज्जा और शर्म के मारे नीचे धंसी जा रही थी। वह बार-बार अपने निकृष्टतम अपराध की क्षमा मांगने लगी, भूल के लिए पश्चात्ताप करने लगी। राजा ने रानी और पंगु दोनों को अपने जनपद से निर्वासित कर दिया।

रानी सुकुमालिका ने स्पर्शनेन्द्रिय सुख की दासता के कारण बहुत दुःख भोगा।

३०. अनियन्त्रित इन्द्रियों का कहर

दक्षिण भरतार्द्ध की माहेश्वरी नगरी धनिकों की नगरी थी। वहां बड़े-बड़े धनाढ्य और प्रचुर वैभवसंपन्न व्यक्ति रहते थे। उसी नगरी में सुयश नाम का एक सेठ भी था। उसका यश चारों ओर फैला हुआ था। उसकी पत्नी का नाम सुलसा था। उनके पांच पुत्र थे। उनके क्रमशः नाम थे—धर, धरण, यश, यशचन्द और चन्द। धर जब माता के गर्भ में आया तब मां सुलसा को संगीत सुनने का दोहद उत्पन्न हुआ था। दूसरे पुत्र धरण के गर्भ में आने पर मां को सुन्दर-सुन्दर वस्तुएं देखने का, तीसरे पुत्र यश के गर्भकाल में सेठानी सुलसा को सुगन्धित द्रव्य सूंघने का और चौथे पुत्र यशचन्द के उदर में आने पर सुस्वादु व्यंजन खाने का दोहद उत्पन्न हुआ था। वह सरस भोजन करके ही तृप्त होती थी। जब पांचवां पुत्र चन्द गर्भ में आया तब उसे स्पर्श-सुख का दोहद उत्पन्न हुआ। उसे सुकोमल शय्या और सुकोमल आसन ही रुचिकर लगते थे, अधिकाधिक शरीरसुख की इच्छा रहती थी।

पांचों पुत्र युवा हुए। गर्भकाल में मां को जिस-जिस दोहद की अनुभूति हुई थी वे ही प्रवृत्तियां और वे ही लक्षण पुत्रों में भी प्रकट होने लगे। पुत्र अनेक कलाओं में पारंगत हुए। समय आने पर उनका सुयोग्य कन्याओं से विवाह भी कर दिया गया। पिता के आग्रह से सभी पुत्र व्यापार में प्रवृत्त हुए। उन्होंने थोड़ी-बहुत कमाई भी की, किन्तु अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियदासता के कारण वे अपने आपको वश में नहीं रख सके। बड़ा पुत्र धर संगीतप्रेमी था, दूसरा पुत्र धरण रूपपिपासु था, तीसरा यश नाम का पुत्र सुगन्धरसिक था, चौथा पुत्र यशचन्द रसलोलुप और पांचवां पुत्र चन्द कामभोगों में आसक्त था। पांचों पुत्र एक-एक कर पांचों ही इन्द्रियविषयों में आसक्त थे। अपनी आसक्ति के कारण वे धन का व्यय अधिक करते थे, धनोपार्जन कम करते थे। पिताश्री सुयश ने उनको घर की सारी स्थिति से अवगत कराया। उन्हें सही रास्ते पर लाने का प्रयास भी बहुत किया, पर सब व्यर्थ।

पिता सुयश अपने कुल-गौरव को बढ़ाने के लिए पुत्रों से कुछ कहते। पुत्र उनकी सुनी-अनसुनी कर मनमाना आचरण करते थे। उन पर पिताश्री की शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं था। आए दिन घर में कलह-झगड़ा चलता रहता था। सेठानी सुलसा कभी पति को शान्त करने का प्रयत्न करती तो कभी पुत्रों को।

एक दिन पत्नी ने सेठजी से कहा—हम दोनों का भला इसी में है कि हम पुत्रों के कार्य में हस्तक्षेप न करें। वे जैसा करते हैं, करने दें। हमारे कहने से उनमें उच्छृंखलता और उद्दंडता अधिक बढ़ती है, विनम्रता का भाव भी कम होता है। परसों आपने अपने ज्येष्ठ पुत्र से जो कहा उसका उत्तर भी आपको ईंट से पत्थर के समान मिल गया। उसने क्या कहा, आपको पता है? जब भी देखो आप तो हमारे पीछे ही पड़े रहते हैं। पता नहीं आदत की क्या लाचारी है? हर समय बड़बड़ाते रहते हैं।

सेठ सुयश पत्नी की सारी बात सुनकर मौन रहा। उसने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि भविष्य में वह अब ऐसा नहीं करेगा। इससे गृह-कलह तो शान्त हो गया, किन्तु सेठ का मन अशान्त रहने लगा। एक दिन आचार्य दमघोष माहेश्वरी नगरी में आए। सेठ ने उनका धर्मोपदेश सुना। आचार्य ने अशान्ति के कारण और उसके निवारण पर अपना सारगर्भित प्रवचन दिया। सेठ तो शान्ति की खोज में ही था। उसे अनायास ही एक सुनहला अवसर मिल गया। वह आचार्य के चरणों में प्रव्रजित होकर विविध तपों से अपने आपको भावित करने लगा। वह यत्र-तत्र आचार्यश्री के साथ विहार करने लगा।

लम्बे अन्तराल के पश्चात् एक बार आचार्य दमघोष का पुनः माहेश्वरी नगरी में आगमन हुआ। उनके साथ सुलसा के संसारपक्षीय पति सुयश भी साथ थे। नगर के अनेक लोग आचार्य को वन्दनार्थ, प्रवचनश्रवणार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहां गए। सुलसा भी वहां आई। वह आचार्यश्री और सुयशमुनि को वन्दन कर उचित स्थान पर बैठ गई। उस समय सुलसा की आंखों में आंसू थे। वह अपनी साड़ी के अंचल से उन आसुंओं को पोंछ रही थी। आचार्य दमघोष ने समझा कि शायद बहिन को अपने संसारपक्षीय पति के प्रति मोह जाग गया है, इसलिए वह आंसू बहा रही है। आचार्य ने उसे शान्त करते हुए पूछा—क्या बहिन! तुम्हारा मुनि सुयश के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ है अथवा अन्य कोई समस्या है? सेठानी सुलसा ने कहा—महाराजश्री! सेठ सुयश के प्रव्रजित होने के बाद मेरे पांचों पुत्र इन्द्रियलोलुप होकर स्वच्छन्द हो गए। उसके कारण उन सबको असमय में काल-कवलित होना पड़ा। उन घटनाप्रसंगों को मैं आपके सामने रख रही हूं।

मेरा पहला ज्येष्ठ पुत्र धर संगीतप्रेमी था। उसका संगीतप्रेम इतना अधिक था कि उसने लोक-लज्जा को भी त्याग दिया। वह संगीत के लिए एक चांडाल गवैये के घर जाने लगा। वह उसे और उसके परिवार को ही सब कुछ समझने लगा। लोगों में ऊहापोह और अपयश फैलने लगा। राजा ने भी उसके अपयश को सुना। राजा के मन में तर्कणा हुई कि एक कुलीन लड़का चांडाल के घर क्यों? राजा ने उसे वर्णसंकर दोष उत्पन्न करने वाला मानकर महाजनों के सामने ही मरवा दिया। मैं देखती रह गई। यह श्रोत्रेन्द्रिय-विषय की दासता का परिणाम था, जो उसे भोगना पड़ा।

मेरा दूसरा पुत्र धरण रूप का उपासक था। वह हमेशा नई-नई युवतियों के रूप-लावण्य पर न्यौछावर रहता था। एक दिन नगर में एक नटमंडली आई। उस मंडली के साथ एक षोडशी नटकन्या भी थी। जैसे भंवरा सुकोमल पुष्पिका पर मंडराता है वैसे ही पुत्र भी उसके चारों ओर मंडराने लगा। वह सौन्दर्य के चक्कर में अपने कुल की मर्यादा भी भूल गया। उसका सारा धन नटकन्या को प्राप्त करने में लग गया। अन्त में नटकन्या के पिता ने उससे कहा—यदि तुम इस कन्या को चाहते हो तो पहले नटविद्या का अभ्यास करो, अपने करतब दिखाकर जनता को रीझाओ, कुछ कमाकर लाओ, तब कहीं तुम्हें यह नटकन्या मिल सकती है। मेरे पुत्र ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। वह घर से निकल गया। कुछ समय बाद वह नटविद्या में प्रवीण हो गया और नटों के साथ घूमता-फिरता हुआ अपनी कला का प्रदर्शन करने लगा।

एक बार वह कालसेना नाम की भीलों की पल्ली में अपनी कला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को दिखाने गया। वह बांस पर चढ़कर जोखिमभरी तथा अद्‌भुत कला का प्रदर्शन कर रहा था। पल्लीपति भी उस कन्या के रूप पर मोहित हो गया। वह चाहता था कि किसी न किसी प्रकार यह कन्या मेरे हाथ लग जाए। उसने मेरे पुत्र को मारने की योजना बनाकर उसके द्वारा करतब दिखाते-दिखाते ही बांस को काट दिया। धरण धड़ाम से धरती पर गिरा और पलभर में उसका प्राणान्त हो गया। उसके बाद पल्लीपति ने उस नटकन्या के साथ विवाह कर लिया। इस प्रकार रूप के वशवर्ती होकर और चक्षुरिन्द्रिय की दासता के कारण वह भी काल के गर्त्त में समा गया।

मेरे तीसरे पुत्र का नाम यश था। वह घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत बना हुआ था। उसे प्रतिदिन नए-नए सुगन्धित पदार्थों को सूंघने की लालसा रहती थी। एक बार वह उद्यान में गया। वहां वह मालती पुष्पों की सुगन्ध से बावला-सा बन गया। वह मालतीकुंज में उन पुष्पों की सुगन्ध लेना चाहता था। वनपालक ने उसे वहां जाने से रोका, पर वह नहीं माना। मना करने पर भी वह वहां पहुंच गया। गन्ध की आसक्ति में वह इतना अधिक पागल बना कि उसे सामने बैठे भयंकर काले नाग का भी पता नहीं चला। अचानक उसका पैर सांप पर पड़ा। पैर पड़ते ही सांप ने उसे डस लिया। भयंकर विष उसके शरीर में फैल गया। बहुत उपचार किए गए, किन्तु वह विष से मुक्त नहीं हो सका। वह चिरनिद्रा में सो गया। यह सारा परिणाम घ्राणेन्द्रिय-विषय की पराधीनता का था।

मेरा चौथा पुत्र यशचन्द रसना का लोलुप था। वह सदा सरस, स्वादिष्ट भोजन की ताक में रहता था। जहां सरस भोजन खाने को मिलता वह बिना बुलाए पहुंच जाता। उसे प्रतिदिन नए-नए व्यंजन, विविध प्रकार की मिठाइयां, अटपटे-चटपटे पक्वान्नों के खाने की ललक रहती थी, इसलिए जीभ की तृप्ति ही उसके लिए आवश्यक थी, पेट की ओर ध्यान कम था। एक बार वह व्यापार के निमित्त बैलगाड़ियों में माल भरकर परदेश गया। वहां धनोपार्जन किया। परदेश में रहते हुए उसकी मित्रता एक निम्नवृत्ति वाले व्यक्ति से हो गई। वह लोभी व्यक्ति था। उसमें धन का लोभ जाग गया। उसने यशचन्द का धन लेने की योजना बनाई। वह उसकी रसलोलुपता से परिचित था, इसलिए उसे एक अच्छा उपाय हाथ लग गया। उसने सुस्वादु और सरस मोदक बनवाएं। उनमें उसने विष मिला दिया। एक दिन उस मित्र ने रसलोलुपी मेरे पुत्र को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोजन के बहाने आमन्त्रित किया। मोदकों का भोजन सुनकर तो उसके मुंह से लार टपकने लगी। उसने उन मोदकों को बड़े ही चाव से और जी भरकर खाया। विष ने अपना प्रभाव छोड़ा। देखते-देखते उसके प्राण निकल गए। यह उसकी रसलोलुपता का परिणाम था।

मेरा पांचवां पुत्र चन्द सबसे छोटा था। उसे स्पर्शजन्य सुखों की आकांक्षा रहती थी, कामभोग उसके सहचर थे। वह रात-दिन स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा अपनी वासना को पूरी करना चाहता था। जब उसे अपनी पत्नी से तृप्ति नहीं हुई तो वह वेश्याओं के यहां जाने लगा। विषय के अत्यधिक सेवन से उसका शरीर क्षीण होने लगा। एक दिन वह वसन्त नाम की वेश्या के घर गया। उसका स्पर्शसुख पाकर वह उसका ऐसा दास बना कि उसने पुनः कभी घर आने का नाम ही नहीं लिया। उस वेश्या ने उसे कामकला में पागल बनाकर सारा धन बटोर लिया। वेश्या तो धन की दासी होती है। जब मेरे पुत्र का सारा धन निकल गया तो उसने भी उसे अपने घर से निकाल दिया। वह वहां से जाने को तैयार नहीं था। उसने वहां रहने के लिए बहुत अनुनय-विनय किया, पर वह वेश्या नहीं मानी। अन्त में वेश्या ने छल के द्वारा अपने गुप्तपुरुषों से उसकी हत्या करा दी। इस सारे जघन्य अपराध का परिणाम था—स्पर्शनेन्द्रिय-विषयसुख।

आचार्य दमघोष ने बहिन को समझाते हुए कहा—इन्द्रियों के वशीभूत होना कठिन नहीं है, इन्द्रियों को जीतना, उनको अपने वश में करना कठिन कार्य है। सारी साधना इन्द्रियदमन के लिए ही की जाती है। जो व्यक्ति इन्द्रियों का दास रहता है, उनकी गुलामी में जीता है वह पग-पग पर कष्ट पाता है। उसकी अन्त में दुर्गति होती है।

३१. लक्ष्मी है वहां

सेठजी! सेठजी! सो रहे हो या जाग रहे हो? किसी अज्ञात स्वर ने सेठजी को पुकारा।

रात्रि का सघन अन्धकार। नीरव वातावरण। न किसी का आवागमन और न किसी आदमी का दर्शन। सेठ कमलनाथजी अपने कमरे में सोए हुए थे। कमरे में मन्द प्रकाश था। आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। चारों ओर सन्नाटा पसरा हुआ था। कभी कभी झिंगुर का शब्द अवश्य शब्दायमान था। पुनः किसी अनजान स्वर ने सेठजी को पुकारा—सोए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए हो अथवा जाग्रत हो? शब्द सुनकर सेठजी अर्धनिद्रा से उठे, इधर-उधर देखा, कुछ दिखाई न देने पर मन का बहम समझकर पुनः निद्राधीन हो गए। कुछ समय बीतने पर पुनः तीसरी बार वही आवाज कानों में सुनाई दी—सोए हुए हो या जाग रहे हो? सेठजी तत्काल हड़बड़ाकर निद्रा से उठे, आंखों को मला। अचानक उन्होंने दरवाजे की ओर निहारा, देखा तो कोई नहीं था। पुनः दृष्टि खिड़की की ओर मुड़ी। सामने झांका तो एक धुंधली-सी छाया उभरती हुई नजर आई। सेठजी अपलक नेत्रों से उस छाया को देख रहे थे। कुछ ही क्षणों में वह छाया स्पष्ट होकर सेठजी के सामने आ खड़ी हुई। अनजान आकृति और अपूर्वदृष्ट दृश्य को देखकर सेठजी जरा चौंके, किन्तु दूसरे ही क्षण अपने आपको संभालते हुए स्थिरमना हो गए। मन से भयभीत होते हुए भी वे उस दिव्यशक्ति के प्रति प्रणत थे। वह दिव्यशक्ति महालक्ष्मी सामने खड़ी थी। वह सेठजी को भावी का कुछ निर्देश देने आई थी।

देवी की दिव्य आभा से उनका कमरा ऐसा जगमगा रहा था कि मानो हजारों विद्युत् बल्ब उनके कमरे में जले हुए हों। उनका कंचनमय शरीर चारों ओर अद्भुत आभा से चमक रहा था। ललाट पर आभायुक्त मुकुट और गले में शोभित होती हुई मालाएं आंखों को चुंधियां रही थीं। उनके पैर जमीन से चार अंगुल ऊपर स्थिर थे। सेठजी ने प्रणतमुद्रा में सिर झुकाकर देवी को प्रणाम किया और पूछा—पद्मे। इस समय आपका आगमन क्यों और कैसे?

मुझे आपसे कुछ कहना है, उसी के निर्देशन के लिए मैं यहां उपस्थित हुई हूं—लक्ष्मी ने कहा।

कहिए, आपकी बड़ी मेहरबानी होगी, सेठ ने प्रत्युत्तर में कहा।

आपके घर में रहते हुए मुझे लगभग चालीस वर्ष हो गए हैं। अब मेरा मन आपके घर से उचट गया है। मैं और कहीं जाना चाहती हूं। आप जानते हैं कि मेरा स्वभाव चंचल है। मैं एक स्थान पर अधिक ठहरना पसन्द नहीं करती। लोग भी मुझे 'चला लक्ष्मी' कहकर पुकारते हैं। मैं दूसरों के यहां प्रस्थान करूं, उससे पूर्व आप अपनी वैकल्पिक व्यवस्था सोच लें, यही मैं आपको सूचित करने आई हूं।

आना-जाना आपका स्वतन्त्र अधिकार है, आपको बलपूर्वक रोकना भी मेरी हठधर्मिता ही होगी। मैं आपको रोक सकूं, यह भी मेरे हाथ में नहीं है। उस स्थिति में मैं केवल आपसे यही जानना चाहता हूं कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप यहां न रहकर अपने पीछे क्या दरिद्रनारायण को मेरे घर में छोड़ना चाहती हैं? सेठजी ने गंभीर होते हुए कहा।

नहीं, नहीं, मेरा उद्देश्य यह नहीं है और न मैं यह चाहती हूं कि मेरी अनुपस्थिति का कोई नाजायज फायदा उठाकर आपके घर में कोई रहे। यदि आपको ऐसी आशंका है तो आप मेरे अस्तित्व को छोड़कर जो चाहो वह वरदान ले सकते हो। मैं देने को सहर्ष तैयार हूं, महालक्ष्मी ने अपना अनुग्रह बरसाते हुए कहा।

सेठ ने प्रार्थना के स्वर में कहा—महालक्ष्मि! यदि आपका ऐसा ही अनुग्रह है और आप कुछ देना ही चाहती हैं तो मेरा आपसे यही अनुरोध है कि आपके चले जाने पर भी मेरे घर में सदा संप-प्रेम बना रहे। उसमें कहीं कोई न्यूनता न आए।

लक्ष्मी ने अपना सिर पकड़ते हुए कहा—सेठजी! आपने यह क्या किया? आपकी मांग का अर्थ है कि आपने मुझे भी बान्ध लिया। जहां संप होता है वहां संपत्ति होती है। जहां संपत्ति होती है वहां मेरा निवास होता है, इसलिए अब मुझे और कहीं जाने का अवकाश ही नहीं है। तुम्हारा घर ही मेरा आश्रय है।

यह कहकर देवी अन्तर्धान हो गई। सेठजी ने अपनी सूझबूझ से लक्ष्मी को भी अपने घर में सुरक्षित रख लिया।

३२. प्रभुत्व किसका : धन या धर्म का?

एक बार भगवान विष्णु और लक्ष्मी आकाश मार्ग से स्वर्ग की ओर जा रहे थे। अचानक विष्णु की दृष्टि मनुष्यलोक पर पड़ गई। उन्होंने देखा कि नीचे एक मंदिर में विष्णु भगवान की पूजा-अर्चना हो रही है। अनेक वैष्णव भक्त इकट्ठे होकर तन्मयता से भजन-कीर्तन कर रहे हैं। कोई भगवान को भोग लगा रहा है, कोई उनकी आरती उतार रहा है। कोई उनकी परिक्रमा कर रहा है, कोई सिर झुकाकर उनके चरणों में प्रणाम कर रहा है। कोई भगवान की प्रसादी भक्तजनों में बांट रहा है, कोई घंटा बजाकर जयनाद कर रहा है। चारों और धर्ममय वातावरण देखकर विष्णु भगवान अत्यन्त प्रमुदित हुए। उन्होंने लक्ष्मी को संबोधित कर कहा—देवि! इस कलयुग में भी लोगों का धर्म के प्रति कितना आकर्षण है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है यह मर्त्यलोक। भौतिकता की चकाचौंध में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनमानस का धर्म से इतना अधिक प्रभावित होना अपने आपमें आश्चर्यजनक है। लोगों की मेरे प्रति कितनी अधिक भक्ति है। उस भक्ति से मेरा मन फूला नहीं समा रहा है। वास्तव में भक्ति ही भगवान को वश में करती है। भगवान तो भक्ति के ही भूखे होते हैं। भक्ति के आधार पर ही वे भक्तों की मनोकामना पूरी करते हैं।

लक्ष्मी ने कहा–भगवन् ! कौन किसका भजन करता है? कौन धर्म से प्रभावित होता है? किसमें कितनी भक्ति है और किसमें किसी को वश में करने की कितनी शक्ति है, वह सब मैं सम्यक् प्रकार से जानती हूं। यह सारा दिखावा है। उस भक्ति के अन्तस्तल में है–धन, संपति की प्राप्ति की कामना। वह कामना ही उनको भक्ति की प्रेरणा देती है।

नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है, तुम्हारी समझ सही नहीं है। धर्म के प्रति आकर्षण अथवा जनमानस में उमड़ती भक्ति का धन-संपत्ति–लक्ष्मी के साथ क्या मेलजोल? वहां तो लोगों की धार्मिक भावना का प्रश्न है, वहां तुम्हारी क्या उपयोगिता? भगवान विष्णु ने लक्ष्मी की बात को काटते हुए कहा।

लक्ष्मी बोली–भगवन् ! आप सही मानें, जब तक मेरी माया है तब तक ही यह सारा संसार आपकी मुट्ठी में है, अन्यथा वह बिल्कुल शून्य है। जहां मैं जाती हूं, लोग मेरे वशीभूत हो जाते हैं। वे वहां धर्म-कर्म को भी छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। यदि आपको मेरे कथन पर विश्वास न हो तो आप इसका परीक्षण कर देख लें। उसमें कौन खरा उतरता है? वह आपको ज्ञात हो जाएगा और साथ में मेरा अभिमत भी पुष्ट हो जाएगा।

विष्णु भगवान लक्ष्मी के विचार से सर्वथा असहमत थे, किन्तु वे अपने पक्ष को भी दृढता से सिद्ध करना चाहते थे। उसके लिए परीक्षण के सिवाय कोई दूसरा उपाय भी नहीं था। उन्होंने लक्ष्मी के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए कहा–लक्ष्मि! तुम जो कहती हो वह मुझे किंचित् भी मान्य नहीं है। फिर भी तुम्हारी बात मानकर मैं सत्य को परीक्षण की कसौटी पर कस कर ही कुछ कह सकूंगा।

दोनों परीक्षण के लिए मर्त्यलोक में अवतरित हुए। विष्णु भगवान ने एक संन्यासी का रूप बनाया। उनकी लम्बी-लम्बी जटाएं, गले में शोभती अनेक प्रकार की मालाएं, माथे पर तिलक-छापा तथा पीताम्बर वेश जनता के लिए कुतूहल का विषय बना हुआ था। वे 'ॐ नमो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारायण, ॐ नमो नारायण' कहते हुए शहर के राजपथ पर चले जा रहे थे। लोगों की अपार भीड़ उनके पीछे-पीछे चलती हुई उनके कदमों का अनुसरण कर रही थी। जय-जयकार के नारों से सारा राजपथ गुंजायमान था। व्यस्त रहने वाले व्यक्ति भी अपने-अपने कामों को छोड़कर उनकी झलक पाने के लिए घर और दुकान से बाहर निकल रहे थे। जहां भी, जिधर भी, जिस किसी की ओर संन्यासी की दृष्टि चली जाती, लोग श्रद्धा से झूमकर उनको देखने लग जाते, उनका मस्तक भक्तिपूर्वक झुक जाता। उनका चमकता हुआ चेहरा, मुख पर तपस्या का ओज, वाणी का माधुर्य तथा प्रभु-भक्ति से भीगा हुआ मानस अनायास ही जन-जन को अपनी ओर खींच रहा था। वे प्रतिदिन अपने प्रवचन से जन-मानस को आह्लादित कर रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति भक्तिरस से आप्लावित होकर उनका प्रवचन सुनने का रसिक बना हुआ था। उनका प्रवचन सुनकर लोग अपना अहोभाग्य मानते हुए अनेक रूपों में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे। कोई कह रहा था–वाह! कैसा कमाल का प्रवचन है। जीवन में नया प्रकाश मिल गया। कोई कह रहा था–जीवन में प्रवचन तो बहुतों के सुने, किन्तु इनका प्रवचन तो बड़ा ही हृदयग्राही और कायाकल्प करने वाला है। कोई कह रहा था–संन्यासी तो बड़ा ही अलौकिक और पहुंचा हुआ है। इस प्रकार नगर के अनेक लोगों की जुबान पर अभिव्यक्त होने वाली विविध प्रतिक्रियाएं सुनने को मिल रही थीं। जहां देखो वहीं संन्यासी की यशोगाथा गाई जा रही थी। संन्यासी भी यत्र-तत्र विभिन्न स्थानों पर अपना प्रवचन दे रहे थे। उनके प्रवचन में जनता की संख्या भी निरन्तर बढती जा रही थी।

एक-एक कर दिन बीतते जा रहे थे। चातुर्मास का काल सन्निकट था। संन्यासी भी चातुर्मास बिताने के लिए किसी विशाल जगह की टोह में थे। वे सोच रहे थे कि स्थान ऐसा हो, जहां मेरे रहने की समुचित व्यवस्था हो और अधिकाधिक जनता भी प्रवचन का लाभ ले सके। इसी उधेड़बुन में उनके कुछ दिन और निकल गए। अचानक एक दिन किसी सेठजी ने अपने विशाल भवन की प्रार्थना करते हुए कहा–महात्माजी! आप मेरी झोपड़ी को पावन करने की कृपा करें। वह दो वर्ष पूर्व ही बनकर तैयार हुई है। अभी तक हमने वहां रहना भी प्रारम्भ नहीं किया है। मैं चाहता हूं कि आपके पवित्र चरणों के स्पर्श से ही उसका मुहूर्त्त हो। आप वहां अपना चातुर्मास बिताएं, हमें आपकी सेवा का निकटता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अवसर दें। यह मेरा परम सौभाग्य होगा कि मेरे पूरे परिवार को धर्मश्रवण का लाभ मिलेगा और वहां दूसरे-दूसरे लोग भी ज्यादा से ज्यादा धर्म का लाभ ले सकेंगे।

संन्यासी ने कुछ गंभीर चिंतन करते हुए कहा–सेठजी! आपकी भावना प्रशंसनीय है। आपकी भक्ति अत्युत्तम है। आप जानते हैं कि चातुर्मास दस-बीस दिनों का नहीं है, वह पूरा चार महीनों का है। इन चार महीनों में मैं मकान छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाऊंगा।

महात्माजी! आप निश्चिन्त रहें। आपको कहीं जाने की आवश्यकता नहीं होगी, सेठजी ने बलपूर्वक कहा।

संन्यासी ने पुनः व्यवस्थापक्ष प्रस्तुत करते हुए पूछा–सेठजी! आप मुझे अपना मकान तो दे दोगे। उसमें आपकी ओर से क्या क्या व्यवस्था रहेंगी?

मै अपनी ओर से भवन के खाली स्थान में एक विशाल पंडाल बनवा दूंगा। नगर की जनता वहां बैठकर आपके प्रवचनों का लाभ लिया करेगी। भवन की स्वच्छता तथा आने-जाने वालों के लिए भोजन-पानी की भी समुचित व्यवस्था रहेगी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई आपका आदेश-निर्देश हो तो मुझे बताएं, सेठजी ने हाथजोड़ कर कहा।

इतनी व्यवस्था जुटाना कोई कम बात नहीं है। तुम्हारे जैसे उदार चित्त वाले भक्त ही ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं। फिर भी अन्य कोई व्यवस्था अपेक्षित होगी तो अवश्य ही मैं तुम्हें संकेत दे दूंगा, संन्यासी ने मुस्कराते हुए कहा।

संन्यासी ने शुभ दिन और शुभ मुहूर्त्त देखकर सेठजी के विशाल भवन में चातुर्मासिक मंगल प्रवेश कर दिया। अब प्रतिदिन एक निश्चित समय पर संन्यासीजी का मंगल प्रवचन होने लगा। जिस प्रकार बरसात के दिनों में घटा उमड़-घुमड़कर सारे आकाश को आच्छन्न कर देती है वैसे ही संन्यासीजी भी प्रवचन की सरसता के कारण जनता के हुजूम से घिरे रहते थे। सारे नगर में धर्म की अच्छी प्रभावना थी। लोगों की निरन्तर श्रद्धा-भक्ति बढती जा रही थी। वे संन्यासीजी के प्रवचनों तथा दर्शन और सेवा का भरपूर लाभ ले रहे थे।

लोगों का धर्म के प्रति बढता आकर्षण देखकर विष्णु भगवान मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे और सोच रहे थे–मैंने लक्ष्मीजी से जो कुछ कहा था वह अक्षरशः बिल्कुल यथार्थ है। इसमें निश्चित ही मेरी विजय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो सामने है उसे असत्य भी कैसे किया सकता है?

उधर लक्ष्मी ने भी अपना प्रभाव दिखाने के लिए मायाजाल फैलाया। उसने एक संन्यासिन का रूप धारण किया। वह भी घूमती-फिरती हुई उसी नगर में आ गई जहां संन्यासी वेश में विष्णु भगवान ने अपना डेरा डाला हुआ था। वह संन्यासिन नगर की गलियों से गुजरती हुई एक महिला के घर के सामने रुकी। घर की मालकिन प्रतिदिन संन्यासीजी का प्रवचन सुनने जाया करती थी। उस दिन भी वह प्रवचन सुनने के लिए तत्परता से घर से बाहर निकल रही थी तो सामने देखा कि एक संन्यासिन उसके घर के बाहर खड़ी है। उसका भगवा वेश, चमकती हुई आंखें, हाथ में कमण्डलू, ललाट पर तिलक-छापा और गले में पहनी हुई रुद्राक्ष की मालाएं आदि संन्यासिन के लक्षण को बता रहे थे। उसका कण्ठ प्यास के मारे सूखा जा रहा था। उसने मुंह पर ऊब लगाकर धीमे स्वर में मालकिन से पानी पिलाने का अनुरोध किया। गृहस्वामिनी ने उसे झिड़कते हुए तपाक से कहा–क्या तुम्हें पानी मांगने के लिए यही घर मिला? क्या इस मोहल्ले में दूसरा कोई पानी पिलाने वाला है ही नहीं? क्या तुमने मेरा घर प्याऊ समझ लिया? मुझे पहले ही प्रवचन में जाने की देरी हो गई, फिर तुम पानी पिलाने का कहकर मेरे और देरी कर रही हो।

नहीं, मालकिन! मैं तुम्हारे देरी कहां कर रही हूं, केवल पानी मांग रही हूं। मुझे अत्यधिक प्यास लगी है। मेरी कंठ सूखा जा रहा है। मुझे क्या पता था कि तुम्हारी जैसी धर्मात्मा औरत भी पानी जैसी तुच्छ वस्तु के लिए इन्कार कर देगी। कहीं मेरे प्राण न निकल जाएं……यह कहती हुई संन्यासिन प्यास से अधमरी होने का स्वांग रचने लगी।

मालकिन मन ही मन बड़बड़ाती हुई सोचने लगी–कैसी बला मेरे गले में पड़ी है? कहीं यह मेरे घर के सामने मर गई तो अकारण ही एक मुसीबत खड़ी हो जाएगी? अच्छा है, इस बला से पहले पिंड छुड़ा लूं।

मालकिन शीघ्रता से मकान के भीतर गई और पीतल के एक लोटे में जल भरकर ले आई। अनमने भाव से उसने पानी का वह लोटा संन्यासिन को दे दिया। संन्यासिन ने ठंडा जल पीकर एक गहरा श्वास लिया और तृप्ति का अनुभव करती हुई बोली–बेटी! तुम्हारा भला हो, परमात्मा तुम्हें शतायु बनाए। लो, तुम्हारा यह लोटा। अब मैं जाती हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्योंही मालकिन ने उस लोटे को अपने हाथ में लिया तो वह स्वर्णिम आभा से चमक रहा था। लोटे को देखकर मालकिन की आंखें खुली की खुली रह गई। वह एकाएक भौचक्की-सी खड़ी रह गई। अरे! यह क्या? यह तो सोने में बदल गया। वह समझ ही नहीं पाई कि यह आकस्मिक चमत्कार क्यों, कैसे घटित हुआ? वह तत्काल संभली। उसने जाती हुई संन्यासिन को रोकते हुए कहा–मांजी! जरा ठहरो तो सही। मैं आपसे कुछ जानना चाहती हूं।

बेटी! क्या जानोगी? तुम्हें पहले ही प्रवचन जाने में देरी हो गई। फिर और देरी करने से क्या प्रयोजन? मुझसे बातें करोगी तो तुम्हारा और समय बीत जाएगा? फिर तुम संन्यासीजी का प्रवचन भी नहीं सुन सकोगी, संन्यासिन ने वापिस मुड़ते हुए कहा।

मांजी! प्रवचन तो फिर भी सुनने को मिल जाएगा, किन्तु आपसे बातें करने का अवसर कब आएगा? इसलिए मैंने अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए आपको रोका है।

ठीक है, बेटी! कहो, तुम क्या कहना चाहती हो?

मालकिन ने कुतूहल और जिज्ञासा से भरते हुए पूछा–मांजी! मैंने आपके हाथ में पानी पीने के लिए पीतल का लोटा दिया था। वह आपके हाथों का स्पर्श पाकर सोने का हो गया है। क्या आपके हाथ में जादुई चमत्कार है अथवा आपने ऐसा चमत्कार दिखाने के लिए यह करिश्मा किया है?

संन्यासिन बोली–यह सब भगवान की कृपा है।

तत्काल मालकिन ने पूछा–संन्यासिनजी! आप कहां ठहरी हुई हो? ठहरना तो संन्यासियों का कम ही होता है। वे प्रायः घूमते ही रहते हैं। इस नगर में आई हूं तो कहीं विश्राम भी करना पड़ेगा, संन्यासिन ने कहा।

अच्छा है यदि आप कुछ दिन मेरी इस झोपड़ी में ठहर जाएं और मुझे अपनी सेवा का अवसर दें। उससे मुझे भी आपकी संगत में रहकर धर्म का लाभ मिल जाएगा।

संन्यासिन ने हंसते हुए कहा–बेटी ! साधु-संन्यासी तो भक्ति के भूखे होते हैं। तुम्हारी यदि ऐसी भावना है तो मुझे रहने में कौनसा कष्ट है? मैं अवश्य ही तुम्हारी श्रद्धा-भक्ति को स्थान दूंगी।

यह सुनते ही मालकिन हर्ष से फूली नहीं समाई। वह संन्यासिन को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़े ही आदर-सत्कारपूर्वक अपने घर ले गई। उसे रहने के लिए भवन का एक विशाल कमरा दे दिया। उसमें सब प्रकार की सुख-सुविधाएं उपलब्ध थीं। अब मालकिन का संन्यासिन के प्रति जो आदर-सत्कार शुरू हुआ वह अपने आपमें अभूतपूर्व और निराला था। अच्छे से अच्छा भोजन, सोने की व्यवस्था, पगचंपी तथा स्नान की व्यवस्था तथा अन्यान्य चिकित्सा आदि व्यवस्थाओं को देखकर लगता था कि स्वागत संन्यासिन का है अथवा धन के लोभ का। धन का लोभ व्यक्ति से क्या कुछ नहीं कराता? मालकिन के मुंह से धन की लार टपक रही थी। उसने यही सोच रखा था कि इस कामधेनु को जितना दुह लिया जाए वह सब मेरा है। संन्यासिन जिन पात्रों में भोजन करती अथवा जिन पात्रों से पानी आदि पीती तो वे सब सोने में बदल जाते थे। मालकिन का भी यही लक्ष्य था कि अधिक से अधिक पात्रों को उसके हाथ में दिया जाए और उन्हें शुद्ध सोने में परिवर्तित देखा जाए। इस प्रकार उसके घर में सोने के बर्तनों का ढेर लग गया। आस-पास रहने वाले लोगों को भी इस रहस्य का पता लगा। वे भी संन्यासिन के पास आकर धन पाने की लालसा में उसके इर्द-गिर्द घूमने लगे। कोई व्यक्ति पीतल की थाली में फलों को सजाकर लाता तो कोई बड़ी-सी बाल्टी दूध से भरकर लाता। सबकी यही दौड़धूप थी कि किसी न किसी प्रकार संन्यासिन का हाथ बर्तनों पर पड़ जाए और वे निहाल हो जाएं।

संन्यासिन के जादुई हाथ की बात एक दूसरे के द्वारा पहुंचती-पहुंचती सारे नगर में फैल गई। जहां हजारों लोगों की भीड़ संन्यासी का प्रवचन सुनने के लिए लगी रहती थी अब वह भीड़ उस संन्यासिन के पास जमा होने लगी। धीरे-धीरे लोगों का आकर्षण संन्यासी से हटकर संन्यासिन की ओर बढ रहा था। अब प्रवचन में भी लोगों का आना-जाना कम हो गया। जिस भवन में संन्यासीजी ठहरे हुए थे उसके मकान-मालिक ने भी जादुई करिश्मा की बात सुनी। उसके मन में भी लोभ उतर आया। उसने सोचा–यदि वह संन्यासिन मेरे भवन में एक बार भी जा जाए तो मैं धनकुबेर बन सकता हूं। इस विचार से वह सेठ भी दौड़ा-दौड़ा संन्यासिन के पास पहुंचा और अपने भवन में पदार्पण की विनती करने लगा। संन्यासिन ने उसकी प्रार्थना को सुना और उसे समझाते हुए कहा–सेठजी! मैंने सुना है कि आपके मकान में पहले ही एक संन्यासीजी अपना चातुर्मास बिता रहे हैं। उसके रहते हुए मै वहां नहीं जा सकती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह हम संन्यासियों का जीवनव्रत है। यदि वह वहां से कहीं और चले जाएं तब मैं आपके मकान में आ सकती हूं। सेठजी ने हंसते हुए कहा- उन्हें और कहीं भेजना तो मेरे बाएं हाथ का खेल है। आप निश्चिन्त रहें। अवश्य ही आपको मेरे घर पधारना है। मैं अभी जाकर सारी व्यवस्था कर देता हूं।

यह कहकर सेठजी अपने मकान में आ गए। वे तत्काल संन्यासीजी के पास पहुंचे और बोले-महात्मन् ! अब आपको मेरा मकान खाली करना होगा। मुझे इसकी अत्यधिक आवश्यकता है। घर में कुछ अतिथि आने वाले हैं। उनकी मेजबानी करने के लिए मेरे दूसरे-दूसरे घर छोटे पड़ते हैं, इसलिए उनको ठहराने के लिए मुझे इसी भवन में व्यवस्था करनी है।

सेठजी! लगता है, आप अपनी बात से मुकर गए हैं। आप मुझे यहां इस शर्त पर लाए थे कि चातुर्मास के बीच आपको कहीं नहीं जाना होगा। चातुर्मास संपन्न होने के बाद ही आपका विहार होगा। आप अपनी शर्त से हटकर आज मुझे जाने को कह रहे हो, यह आपके लिए शोभास्पद है या नहीं, सोच लें, संन्यासी ने उसे कड़े स्वर में कहा।

महाराज ! मेरे लिए क्या शोभा देता है और क्या नहीं शोभा देता, मैं अच्छी प्रकार से जानता हूं। जब मुझे मकान की जरूरत है तो क्या आप कुछ दिनों के लिए दूसरा मकान भी परिवर्तित नहीं कर सकते, यह आपके लिए शोभा नहीं देता। मुझे तो इसमें आपका हठाग्रह ही दिखाई देता है। कुछ दिनों के लिए दूसरे स्थान में जाने से कौनसा अनर्थ घटित हो जाएगा? जब मकान मेरा है। उसमें मेरी अनुमति के बिना आप कैसे रह पाओगो? सेठजी ने तमतमाते हुए कहा।

सेठजी! आज आप यह बात कह रहो हो। यदि पहले ही आप यह बात कह देते तो मैं यहां क्यों आता? आप अपने वचन को याद करें और उसी के अनुरूप अपनी शर्त पर स्थिर रहकर उस वचन को पूरा करें, संन्यासी ने रोषारुण होते हुए कहा।

संन्यासीजी! हो सकता है कि मैंने आपको वचन दिया हो। पर आज परिस्थिति दूसरी हो गई है, इसलिए मुझे मकान खाली कराना पड़ रहा है। यदि आप सीधे ढंग से मकान खाली करते हैं तो आपका स्वागत है, अन्यथा मैं अभी अपने आदमियों को बुलवा कर आपके दंड-कमंडल बाहर फिंकवाता हूं, सेठजी ने उत्तेजित होते हुए कहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संन्यासीजी भी समझ गए कि अब ज्यादा हठ करने में लाभ नहीं है। यह सब संन्यासिनवेश में लक्ष्मीजी का ही करिश्मा है। ज्योंही संन्यासीजी अपने दंड-कमंडल समेटकर घर के बाहर निकलने लगे त्योंही सामने से संन्यासिनजी का मिलना हो गया। संन्यासिनवेश में लक्ष्मीजी ने विष्णु भगवान को हाथ जोड़ते हुए पूछा–क्यों भगवन्! पलड़ा किसका भारी रहा? जीत आपकी हुई अथवा मेरी?

विष्णु भगवान ने अपनी पराजय स्वीकार करते हुए कहा–लक्ष्मि! तुम जीती, मैं हारा। वस्तुतः तुम्हारे आगे धर्म का आकर्षण भी कम हो जाता है। वहां प्रभुत्व धन का रहता है।

३३. सुपात्र दान

श्रीपुर नाम का सुन्दर नगर अपने सौंदर्य के कारण लोगों के दिल में बसा हुआ था। वहां सुरादित्य नाम का एक सद्‌गृहस्थ रहता था। उसकी पत्नी का नाम रत्ना और पुत्र का नाम प्रसन्नादित्य था। कुछ समय के बाद सुरादित्य काल-कवलित हो गया। घर की आर्थिक स्थिति कमजोर थी। मां-पुत्र दोनों दूसरों के घर मजदूरी कर अपना पेट पालते थे।

एक बार कोई उत्सव का दिन आया। लोग आमोद-प्रमोद के द्वारा उत्सव मना रहे थे। उस दिन घर-घर में खीर बनाई गई थी। बच्चे-बूढे सभी खीर-खांड का भोजन कर रहे थे। जब रत्ना के पुत्र प्रसन्नादित्य ने दूसरे बच्चों को खीर खाते देखा तो उसका मन भी खीर खाने के लिए मचल उठा। उसने अपनी मां से खीर बनाने को कहा। मां ने अपनी असमर्थता जताते हुए बच्चे को बहुत समझाया, पर बालक ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। दुविधा की स्थिति जानकर मां की आंखों से आंसुओं की धार बहने लगी। सखियों ने वस्तुस्थिति जानकर रत्ना को खीर बनाने की सामग्री लाकर दे दी। मां ने खीर बनाकर उसे एक थाली में परोसकर बालक को खाने के लिए दे दी। बालक खीर को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। जीवन में खीर खाने का उसका पहला ही अवसर था।

बालक ज्योंही खीर खाने के लिए उद्यत हुआ कि इतने में मासखमण की तपस्या के धारक मुनि अपनी तपस्या के पारणा हेतु वहां आ गए। बालक की मां भीतर गई हुई थी। मुनि को देखकर बालक का मन अत्यन्त प्रमुदित हुआ। उसने सुपात्रदान की भावना से मुनि को खीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहराने का अनुरोध किया। मुनि ने भी बालक की शुद्ध और उत्कट भावना को परखकर तथा अपने लिए एषणीय वस्तु जानकर बालक के हाथ से खीर ग्रहण कर ली। बालक ने निर्मल भावना से द्रव्यशुद्ध, दायकशुद्ध और दाताशुद्ध—दान देकर देव का आयुष्य बांध लिया।

मां भीतर से बाहर आई। थाली को खाली देखा। उसने सोचा—शायद बालक ने खीर खा ली है। उसने पुनः थाली में खीर परोसी। बालक ने थोड़ी-सी खीर खाकर अपने आपको तृप्त कर लिया। रात्रि में अचानक बालक को विसूचिका का रोग उत्पन्न हुआ। आयुष्य को पूरा कर वह मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ। लम्बे समय तक वह देव-सुखों को भोगता हुआ वहां से च्युत होकर राजगृह नगर में सेठ धनावह के घर जन्मा। उसकी मां का नाम भद्रा था। सेठ ने अपने पुत्र का नाम कृतपुण्य रखा। वह बड़ा होने लगा और धीरे-धीरे अनेक कलाओं में पारंगत हो गया। युवा होने पर उसका उसी नगर के सेठ सागरदत्त की पुत्री जयश्री से विवाह हो गया। वह कामभोगों से सर्वथा अनभिज्ञ था। उसे पता ही नहीं था कि दाम्पत्य जीवन कैसे चलाया जाता है? उसकी पत्नी जयश्री कुलीन स्त्री थी। वह भी अपनी ओर से उसकी उदासीनता में बाधक बनना नहीं चाहती थी। माता-पिता भी पुत्र की अनभिज्ञता से चिन्तित थे, इसलिए उन्होंने कामकला की शिक्षा देने के लिए पुत्र को नगर की देवदत्ता वेश्या के घर भेज दिया। कुछ दिनों के बाद कृतपुण्य पूरी तरह वेश्या के वशीभूत हो गया। सेठ धनावह का धन देवदत्ता वेश्या के यहां जाने लगा। पूरा घर धन-सम्पत्ति से खाली होने लगा। मां-बाप भी दिवंगत हो गए, फिर भी कृतपुण्य ने गणिका के घर को नहीं छोड़ा। वह बारह वर्षों तक वहां रहा। आखिर उसकी भार्या ने उसे बुलाने के लिए अपने आभूषण तक वेश्या के घर भेज दिए। देवदत्ता की मां सुलोचना ने आभूषणों को देखकर समझ लिया कि अब कृतपुण्य के घर में धन नहीं है। वेश्या का सम्बन्ध तो मात्र धन तक ही सीमित था। जब धन ही नहीं रहा तो वेश्या की प्रीति भी समाप्त हो गई। उसने एक दिन अवसर देखकर कृतपुण्य को अपने घर से विदा कर दिया। वह अपने घर आया। पत्नी जयश्री ने उसका हार्दिक स्वागत किया। पत्नी से पूछा—क्या कुछ घर में है? उसने कहा—मैं दूसरों के घर काम कर आजीविका चला रही हूं।

धनाभाव के कारण कृतपुण्य ने परदेश जाकर धनोपार्जन की इच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्त की, किन्तु सामने एक ही समस्या थी कि बिना धन के व्यापार कैसे किया जाए? पत्नी ने इधर-उधर से कुछ पूंजी जुटाकर उसको दे दी। उन्हीं दिनों एक सार्थ राजगृह के गुणशीलक उद्यान से वसन्तपुर जा रहा था। कृतपुण्य ने उसी के साथ जाने का निश्चय किया। कहीं सार्थ प्रातः जल्दी प्रस्थान न कर जाए, यह सोचकर वह रात को ही उद्यान में बने चैत्यालय में जा सोया।

राजगृह नगर में चम्पा नाम की एक विधवा सेठानी भी रहती थी। उसके एक पुत्र था। वह चार कुलीन कन्याओं से परिणीत था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। एक बार उसका पुत्र व्यापार हेतु परदेश गया। रास्ते में डाकुओं ने उसे मार दिया। चम्पा सेठानी को पुत्र के मारे जाने का समाचार ज्ञात हुआ। उसे एक ओर पुत्र के मारे जाने का शोक था तो दूसरी ओर धन जाने की चिन्ता थी। उस समय की प्रथा के अनुसार सन्तानरहित परिवार का धन राजकोष में चला जाता था। उस भय से चम्पा किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में थी, जो उसका घर आबाद कर सके।

खोजती-खोजती वह विधवा सेठानी उसी सार्थ के पास पहुंच गई और सोए हुए कृतपुण्य को उठवाकर अपने घर ले आई। घर पहुंचकर सेठानी अपनी बहुओं के सामने रोने लगी। कारण पूछने पर वह बोली—बहुओ! बचपन में मेरा एक बेटा घर से चला गया था। आज यक्ष ने मुझे बताया कि वह गुणशीलक उद्यान के बाहर चैत्यालय में सो रहा है, इसलिए मैं वहां से इसे सोते हुए को उठवाकर ले आई हूं। अब तुम सब देवाज्ञा से इसे ही अपना पति मानो। यद्यपि बहुओं ने उसके कथन पर विश्वास नहीं किया, किन्तु सास की आज्ञा के सामने उनका वश भी नहीं चल सकता था? कृतपुण्य की जब नींद उड़ी तो उसने अपने आपको किसी अज्ञात स्थान पर पाया। वह घबरा गया। सेठानी ने कुमार को आश्वस्त करते हुए कहा—पुत्र ! तुम यहीं सुखपूर्वक रहो, मेरी इन बहुओं को अपनी पत्नी मानो। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो उसका दुष्परिणाम भी तुम्हें भुगतना होगा। विवशता के सामने कोई उपाय भी नहीं था। उसे तो सेठानी के कथनानुसार चलना था। वह बारह वर्षों तक वहां रहा, कामभोगों का सेवन किया। कालान्तर में उन चारों बहुओं की कुक्षि से एक-एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पूर्व में सेठानी का जो उद्देश्य था वह अब सिद्ध हो चुका था। अब उसे कृतपुण्य की जरूरत नहीं थी। सेठानी ने उसे घर से निकालना चाहा। बहुएं नहीं चाहती थीं कि वह उनको छोड़कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाए। पर सास का आदेश था। वे उसका अतिक्रमण नहीं कर सकती थीं। उन चारों ने अपनी सहानुभूति प्रकट करते हुए पाथेयस्वरूप चार मोदक बनाए और उन मोदकों में उन्होंने एक-एक रत्न रख दिया। उन्होंने यही सोचा—रास्ते में पतिदेव मोदकों को खाने के काम ले लेंगे और रत्नों से उनकी जीवन-यात्रा चलती रहेगी। रात को कृतपुण्य जब गहरी नींद में सो गया तो बहुओं ने उसके सिरहाने उन मोदकों को रख दिया और रात को सोते हुए उसे उठवाकर पुनः उसी गुणशीलक उद्यान के उसी चैत्यालय में भिजवा दिया। प्रभात होने पर जब वह नींद से उठा तो उसने अपने आपको पुनः उसी परिचित स्थान पर पाया, पर वह उसका रहस्य नहीं समझ सका।

संयोग से उसी दिन वह सार्थ भी वहीं आ पहुंचा जिसके वह साथ धनार्जन हेतु परदेश जाने वाला था। कृतपुण्य की पत्नी को पति के आने का समाचार ज्ञात हुआ। उसने पति को लाने के लिए एक आदमी भेजा। कृतपुण्य उसके साथ घर पहुंचा। भार्या ने उसका स्वागत किया और पाथेय की थैली को अपने हाथ में लेकर भीतर रख दिया। कृतपुण्य स्नानादि से निवृत्त हुआ। उसने अपनी पत्नी के साथ एक बालक को देखा। वह उसे पहचान नहीं सका। पूछने पर पत्नी ने कहा—स्वामिन्! यह आपका ही पुत्र विजय है। जब आप धनार्जन हेतु परदेश गए थे तब मैं गर्भवती थी। आपके जाने के बाद यह पुत्र उत्पन्न हुआ है और आज यह लगभग ग्यारह वर्षों का हो गया है। कृतपुण्य ने पुत्र-ममता से उसे अपनी बाहों में भर लिया। उसे प्यार देते हुए सहलाया और लडाया।

पुत्र को पाठशाला जाने की जल्दी थी। उसने मां से कहा—तुम मुझे शीघ्रता से प्रातराश करा दो, अन्यथा उपाध्यायजी देरी से पहुंचने पर मेरे पर नाराज होंगे। मां ने मोदकों की पोटली से एक मोदक निकालकर उसके हाथ में दे दिया। पुत्र विजय जाने की उतावली में था, इसलिए वह मोदक को भी साथ में ले गया और मार्ग में ही उसे तोड़कर खाने लगा। मोदक में रत्न था। विजय ने उसे चमकीला पत्थर समझा। वह रत्न को क्या जाने? रास्ते में एक हलवाई की दुकान पड़ती थी। बालक ने हलवाई को रत्न देते हुए कहा—तुम यह चमकीला पत्थर ले लो और इसके बदले में तुम मुझे प्रतिदिन मिष्ठान्न भोजन करा दिया करो। हलवाई उस रत्न को देखने लगा। अचानक वह रत्न उसके हाथ से छूटकर पानी में गिर गया। फिर क्या था? तुरन्त पानी दो भागों में बंट गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे देखकर हलवाई विस्मय से भर गया। वह तत्काल समझ गया कि यह जलकान्तमणि है। उसने बालक को प्रतिदिन मिष्ठान्न देने का वचन दे दिया।

उधर कृतपुण्य जब भोजन करने बैठा तो उसकी पत्नी जयश्री ने शेष बचे तीन मोदकों में से एक मोदक पति को भी परोस दिया। मोदक तोड़ने पर उसमें से रत्न निकला। जयश्री यह देखकर आश्चर्य से भर गई। उसने शेष दोनों मोदक भी तोड़ दिए। उनमें से भी एक-एक रत्न निकला। इस रहस्य को जानकर कृतपुण्य भी विस्मय से भर गया। जयश्री ने इस भेद को जानकर यही समझा कि पतिदेव परदेश से धन कमाकर लाए हैं, किन्तु रहस्यपूर्ण उपाय से छिपाकर लाए हैं। पुनः उसने मन ही मन तर्कणा की--यदि तीनों मोदकों में से एक-एक रत्न निकला है तो चौथे मोदक में भी अवश्य ही रत्न होना चाहिए, जो मैंने पुत्र विजय को खाने के लिए दिया था।

सायं पुत्र पाठशाला से घर आया। उसकी मां ने उससे पूछा--बेटा! तूने जो मोदक खाया था, क्या उसमें से कोई रत्न निकला। पुत्र ने कहा--मां! उसमें से एक चमकीला-सा पत्थर अवश्य निकला था। मैं नहीं जानता कि वह रत्न था या चमकीला पत्थर।

क्या तूने उसे फेंक दिया?

नहीं मां! मैंने मिठाई खाने के लोभ से उसे हलवाई को दे दिया है। वह उसके बदले मुझे प्रतिदिन मिठाई देता रहेगा।

जयश्री ने यह बात अपने पति से कही। पिता-पुत्र दोनों उस मणि को लेने के लिए हलवाई की दुकान पर पहुंचे। हलवाई ने मणि देने से स्पष्ट इंकार कर दिया। इधर कृतपुण्य मणि को पाने के लिए राजदरबार में जाने वाला था तो उधर सारे नगर में महाराज श्रेणिक के द्वारा उद्‌घोषणा कराई जा रही थी कि जिस किसी व्यक्ति के पास जलकान्तमणि हो तो वह राजा को लाकर दे दे। राजा मणि देने वाले व्यक्ति को पुरस्कारस्वरूप सौ गांव देंगे और साथ में अपनी कन्या का विवाह भी उस व्यक्ति से करेंगे।

उस उद्‌घोषणा का कारण था--महाराज श्रेणिक के प्रिय हाथी गन्धहस्ती सेचनक का एक ग्राह (जलजन्तु) के द्वारा पकड़ा जाना। उसको छुड़वाने के लिए अनेक उपाय किए गए, पर कोई भी उपाय सफल नहीं हो सका। राजा इस समस्या से खिन्न था। अन्ततः कुमार अभय ने कहा--

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि कहीं से जलकान्त-मणि मिल जाए तो ग्राह सुगमता से हाथी को छोड़ सकता है। राजा के कोश में रत्नों की बहुलता थी, पर उनमें से जलकान्तमणि को खोजना श्रमसाध्य और समयसाध्य कार्य था। मणि को खोजने में समय लगेगा, यह सोचकर राजा को नगर में उद्घोषणा करानी पड़ी।

घोषणा सुनकर हर व्यक्ति राजा का जामाता बनना चाहता था। हलवाई ने भी अवसर का लाभ उठाना चाहा। वह मणि को लेकर राजा के पास पहुंचा। अभयकुमार की युक्ति काम कर गई। जहां हाथी फंसा हुआ था वहां मणि को पानी में डाला। मणि के प्रभाव से पानी दो भागों में विभाजित हो गया। बीच में जलजन्तु के आस-पास सूखा होने के कारण उसकी पकड़ शक्ति कम हो गई। वह पानी में चला गया। सेचनक हाथी उसकी पकड़ से छूट गया।

राजा की उद्घोषणा के अनुसार अब हलवाई पुरस्कार पाने का अधिकारी था। राजा ने उसके मनोभाव और मुखभंगिमा को पढकर अनुमान लगाया कि ऐसे व्यक्ति के पास जलकान्तमणि का मिलना संभव नहीं लगता, फिर भी इसे पूछ लेना चाहिए कि इसने इस मणि को कहां से प्राप्त किया है? राजा ने पूछा—भद्र ! यह मणि तुझे कहां से प्राप्त हुई? पहले तो उसने कुछ बताने से आना-कानी की, असत्य का सहारा लिया, पर वास्तविकता के आगे असत्य कब चलने वाला था? अभयकुमार ने जब उसे प्राणदण्ड की धमकी दी तो उसने सचाई को उगल दिया। उसने कृतपुण्य के पुत्र का नाम बताते हुए कहा—राजन्! मुझे तो यह मणि विजय बालक से मिली है। राजा ने कृतपुण्य और उसके पुत्र को राजदरबार में बुलाया। राजा ने मणि दिखाते हुए कृतपुण्य से पूछा—तुमने यह मणि कहां और कैसे प्राप्त की? क्या इसका कोई प्रमाण है? कृतपुण्य ने आदि से लेकर अन्त तक का सारा इतिवृत्त सुना दिया और साथ में घर से वे तीन रत्न मंगवाकर भी राजा को दिखा दिए। राजा उस पर बहुत ही प्रसन्न और संतुष्ट हुआ। उसने जान लिया कि वास्तव में ही मेरे पुरस्कार को पाने का अधिकारी कृतपुण्य है। राजा ने बड़े ही शाही ठाठ-बाट से अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया और इसके साथ ही सौ गांव भी बक्शीश में दे दिए। अब कृतपुण्य राजा का जामाता बन गया। उसे धन-संपत्ति, सुख-ऐश्वर्य आदि की कोई कमी नहीं थी। इधर देवदत्ता वेश्या को कृतपुण्य के राजा के जामाता बनने का समाचार ज्ञात हुआ। वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके पास आ गई और वहीं रहने लगी।

कुछ दिन बीतने पर कृतपुण्य के मन में आया कि काश! मेरी पूर्ववर्ती चारों पत्नियां भी मेरे साथ होती, पर वह उनके स्थान आदि से अपरिचित था। उसने सारी बात अभयकुमार को बताई। कुमार ने उनकी खोज निकालने के लिए नगर के बाहर एक यक्ष का मन्दिर बनवाया। सारे नगर में घोषणा करा दी गई कि नगर का कोई भी स्त्री-पुरुष यक्ष की पूजा से वंचित न रहे, अन्यथा उसे यक्ष के कोप का भाजन बनना होगा और उसके घर में विपत्ति छा जाएगी। घोषणा के साथ ही निश्चित दिन और निश्चित समय पर यक्ष की पूजा हेतु स्त्री-पुरुषों का आवागमन प्रारम्भ हो गया। कृतपुण्य और कुछेक राजसेवक गुप्तरूप से प्रत्येक स्त्री-पुरुष पर नजर रखे हुए थे। कुछ समय बाद विधवा सेठानी चम्पा भी अपनी चारों पुत्रवधुओं और पौत्रों के साथ यक्षायतन में पहुंची। कृतपुण्य ने उनको पहचान लिया और पुत्रवधुओं ने भी उसे पहचान लिया। अब कृतपुण्य अपनी सातों पत्नियों और पुत्रों के साथ ऐश्वर्ययुक्त तथा सुखपूर्वक जीवन बिताने लगा। सुख-सुविधा के अनेक साधन होने पर भी वह सदाचारी, धर्मनिष्ठ और कर्तव्यपरायण पुरुष था। उसने विपत्ति के दिन देखे थे, इसलिए उसे संपत्ति मिलने का अहंकार नहीं था। दौर्भाग्य ने उसे दुत्कारा तो सौभाग्य ने उसका वरण किया, फिर भी वह दोनों स्थितियों में सम था।

एक बार वर्धमान महावीर राजगृह में समवसृत हुए। जनता प्रभु-वन्दन के लिए वहां गई। कृतपुण्य भी अपना अहोभाग्य मानकर सपरिवार वहां आया। भगवान की धर्मोपदेशना सुनी। लोगों के चले जाने के बाद कृतपुण्य ने भगवान को वन्दना करते हुए जिज्ञासा की—भन्ते! मेरे जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आए हैं। मैंने विपत्ति का भी अनुभव किया और संपत्ति का भी। मैंने पूर्वभव में ऐसे कौनसे कर्म किए थे जिनके कारण मुझे सुख-दिन के दिन देखने पड़े।

भगवान ने उसके पूर्वभव का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उसकी संपत्ति का कारण था—मासखमण की तपस्या करने वाले मुनि को पायसदान तथा विपत्ति का कारण था—मित्र के हार का हरण।

कृतपुण्य अपना पूर्वभव जानकर संसार से विरक्त होकर प्रव्रजित हो गया। उसकी सातों पत्नियों ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। वे भी उसके साथ दीक्षित हो गईं। सभी ने उत्कट साधना कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुत्तर गति को प्राप्त किया। अन्त में वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर मोक्षगामी होंगे।

३४. दृढप्रहारी

संध्या का समय। अंशुमाली धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर जा रहा था। रात्रि की तमिस्रा चारों ओर फैल रही थी। एक अनजान चेहरा देवशर्मा ब्राह्मण के यहां ठहरा हुआ था। उसकी क्रूरता लोगों से छिपी हुई नहीं थी। लोग उसके नाम से आतंकित और कारनामों से सशंकित थे। उसकी तलवार हमेशा खून से सनी रहती थी। उसके लिए किसी के प्राणों को लूटना सहज और सामान्य कार्य था। वह राहगीरों को लूटने, डाका डालने और किसी के यहां सेंध लगाने में अत्यन्त कुशल था। दूसरों की आंखों में धूल झोंकना, चोरी करना आदि कार्य तो उसने बचपन में ही सीख लिए थे। उसके मन में न लज्जा थी और न दया और करुणा का भाव था। वह किसी पर दृढप्रहार करने में नहीं चूकता था। उसका किया हुआ प्रहार भी कभी खाली नहीं जाता था, इसलिए वह लोगों में 'दृढप्रहारी' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

जिस प्रकार सत्संगति जीवन को सन्मार्ग पर ले जाती है वैसे ही कुसंगति व्यक्ति को कुमार्ग की ओर ढकेलती है। ऐसा ही दृढप्रहारी के जीवन में भी घटित हुआ। वह जन्म से ब्राह्मण था, किन्तु कर्म से खूंखार डाकू बन गया। उसके माता-पिता धार्मिक और भद्रप्रकृति के व्यक्ति थे। दृढप्रहारी सर्वथा उनसे विपरीत था। उसमें सातों ही दुर्व्यसन घर कर गए। माता-पिता ने उसे लाड-प्यार से समझाया, कठोरता से भी समझाया, पर वह कब समझने वाला था। आखिर उन्होंने उसे घर से निकाल दिया। वह एक चोरपल्ली में शामिल हो गया और अपनी दक्षता के कारण एक दिन वह चोरों का सरदार बन गया।

एक दिन वह अपने मित्र चोरों के साथ किसी गांव को लूट कर आ रहा था और रास्ते में स्वयं किसी दरिद्र ब्राह्मण के घर ठहर गया। उस दिन ब्राह्मण के घर में खीर का भोजन बना था। घर के बच्चे-बूढे सभी खीर खाने को लालायित थे। वह भी खीर खाने के लिए आमन्त्रित था। ब्राह्मणी ने सोचा–पहले घर के सदस्यों को खीर परोस दूं, बाद में आगन्तुक व्यक्ति को खीर डाल दूंगी। दृढप्रहारी भूख से आकुल-व्याकुल बना हुआ था। वह बिना बुलाए ही रसोईघर में जा बैठा और खीर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बर्तन को छूने लगा। ब्राह्मणी को उसका वह व्यवहार अखरा। उसने उसे फटकारते हुए कहा–अरे नादान! तेरे में इतनी तो सभ्यता होनी चाहिए। बिना बुलाए इस प्रकार आ धमकना और बर्तन को छूना क्या तेरी शिष्टता है? ऐसी क्या उतावली है? जरा हमारी भी तो मान-मर्यादा का ध्यान रख। तेरे को भोजन ही करना था तो मेरे से पहले ही मांग लेता।

इतना सुनते ही दृढप्रहारी की आंखों से खून बरसने लगा। उसकी भुजाएं फड़कने लगीं। वह कब किसकी सुनने वाला था और कब किसको सहन करने वाला था। तत्काल उसने म्यान से तलवार को खींचा और एक ही झटके में ब्राह्मणी का सिर धड़ से अलग कर दिया। ब्राह्मणी के मुख से जोर से एक करुणाभरी चीत्कार निकली और वह बाहर तक गुंजायमान हो गई। उस समय ब्राह्मण घर के प्रांगण में स्नान कर रहा था। चीत्कार सुनकर वह चौंका और अधूरा स्नान छोड़कर ही घर की ओर भागा। भयानक दृश्य देखकर उसके नेत्र विस्फारित के विस्फारित रह गए। चारों ओर खून बिखरा हुआ था और खून से सनी पत्नी की लाश क्रूरता की आह भर रही थी। ब्राह्मण उसका कुछ प्रतिकार करता उससे पूर्व ही उस क्रूर दृढप्रहारी ने उसे भी अपनी खून की प्यासी तलवार से यमलोक पहुंचा दिया। अब तो घर में चारों ओर हाहाकार मच गया। रोते-बिलखते बच्चे अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर दौड़ने लगे। चारों ओर घर में खून बह रहा था। एक नहीं दो-दो लाशें अकाल मृत्यु का शिकार होकर सिसक रही थीं। उस समय उस सिसकन को सुनने वाला घर में कोई प्राणी नहीं था। घर के प्रांगण में मात्र एक गाय बन्धी हुई थी। वह भी गर्भवती थी। घर में इस प्रकार की भगदड़ और हलचल को देखकर वह भी अचानक चौंक उठी और मानो अपने मालिक की नृशंस हत्या को सहन न कर सकने के कारण वह दोनों सींगों को उठाकर उसे मारने दौड़ी। वह खूंखार व्यक्ति उसे भी कब छोड़ने वाला था। अचानक उसकी तलवार उस निरीह पशु पर चली और गर्भस्थ शिशु का छेदन करती हुई आर-पार निकल गई। एक ओर ब्राह्मण-ब्राह्मणी का शव उसकी क्रूरता पर अट्टहास कर रहा था तो दूसरी ओर अपने स्वामी के प्रति गाय और उसके गर्भ का बलिदान बोल रहा था। दृढप्रहारी एक ओर खड़ा-खड़ा दोनों दृश्यों को देख रहा था। ऐसे हृदयद्रावक दृश्य को देखकर किस पाषाण का हृदय नहीं पिघलता? ऐसे बर्बरतापूर्वक कुकृत्य से किसकी आत्मा नहीं रोती? आवेश के क्षणों में व्यक्ति इस प्रकार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुष्कृत्यों को अवश्य कर लेता है, पर बाद में उसे भी अनुताप, संताप और पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसना होता है। जब क्रूरता अपनी चरम सीमा तक पहुंचती है तब कहीं करुणा का उदय होता है।

दृढप्रहारी मन ही मन सोच रहा था–मैंने अपनी रसलोलुपता के कारण अर्थ का अनर्थ कर डाला, शब्दों को न सह सकने के कारण चार प्राणियों को मौत के घाट उतार दिया। क्या मैं इनकी हत्या कर अपने आप में शान्त हो गया? क्या अशान्ति अब मेरे भीतर में नहीं है? मैंने कौनसा अच्छा कार्य किया? मेरे जीवन में सदा हत्याओं का ही दौर चला। मैंने कितनी कितनी अबलाओं का सुहाग लूटा? कितनों को मैंने बेघर-बार किया, फिर भी मैंने सुख-शान्ति का जीवन नहीं जीया। पता नहीं आज इन हत्याओं से मेरा मन द्रवित क्यों हो रहा है? लगता है मेरी आत्मा अब पापकर्म से उबरना चाहती है। तब क्या मुझे अपने दोषों की शुद्धि के लिए पर्वत की कन्दरा में जाना चाहिए अथवा जंगल में? नहीं, नहीं, यह तो मेरा मात्र पलायन ही होगा। मुझे लोगों के बीच रहकर ही साधना करनी चाहिए। ऐसा सोचकर दृढप्रहारी नगर की ओर बढ गया। उसने जनसंकुल स्थान में स्थित रह कर ही साधना करनी चाही। नगर के चार मुख्य दरवाजे थे। उन द्वारों पर हमेशा लोगों की भीड़ बनी रहती थी। लोगों का आवागमन भी बहुलता से होता रहता था। दस्यु सम्राट् ने क्रमशः एक-एक द्वार पर स्थित रहकर अपने कृत दुष्कर्मों का निर्जरण करना चाहा। पहले उसने पूर्वाभिमुख द्वार का चयन किया और वह वहां ध्यानस्थ होकर खड़ा हो गया। उधर से आने-जाने वाले लोग उसको देखते, देखते ही प्रतिशोध की भावना से उबल पड़ते। कोई कहता---यह वही हत्यारा है जिसने मेरे भाई को मारा था। कोई कहता--अरे! यह मेरे बाप का हत्यारा है। कोई उसे चोर, डाकू कहकर उस पर पत्थर फेंकता तो कोई उस पर लाठी और मुक्के का प्रहार कर निकल जाता। कोई उसे गालियां बकता तो कोई उसे धक्का देकर चला जाता। दृढप्रहारी दुष्कर्मों का अर्जन करने में जितना शूरवीर था उससे अधिक शूरवीर था कृतकर्मों के निर्जरण में। वह सब प्रकार की यातनाओं को, सब प्रकार के उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन कर रहा था। न उसे किसी पर द्वेष था और न किसी पर राग। वह सब लोगों की ताड़ना-प्रताड़ना, भर्त्सना, तिरस्कार, अवमानना अवहेलना को यह मानकर झेल रहा था कि 'तूने भी तो कितने अपराध किए हैं।' अन्ततः दुश्चीर्ण कर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का फल दुश्चीर्ण ही होता है। इसी प्रकार उसने अन्यान्य द्वारों पर भी दो-दो महीना खड़े रहकर साधना की। वह सदा समत्व में लीन रहा। धीरे-धीरे लोगों का क्रोध उपशान्त हुआ। उनकी अवधारणाएं बदलीं। प्रतिशोध की भावना मैत्री में रूपान्तरित हुई। एक दिन दृढप्रहारी दस्यु ने महान् निर्जरा कर केवलज्ञान के आलोक को पा लिया और अन्त में वह सब कर्मों को क्षीणकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गया।

३५. अनुराग से विराग

रात्री का दूसरा प्रहर। हजारों-हजारों जलते दीपक मानो निशा की तमिस्रा को मिटाने के लिए दृढसंकल्पित थे। इलावर्धन शहर के मध्य एक आकर्षक और सबको रोमांचित करने वाला नाटक चल रहा था। जनसमूह उस नाटक को देखने के लिए उस दिशा में बढ रहा था। सबके मुंह पर एक ही स्वर मुखरित था कि जिसने इस नाटक को नहीं देखा उसने एक स्वर्णिम अवसर को अपने हाथ से गंवा दिया।

श्रेष्ठी धनदत्त का इकलौता पुत्र इलापुत्र। वह भी उस अलभ्य अवसर को हाथ से गंवाना नहीं चाहता था। उसने भी नाटक देखने का मानस बनाया और वह वहां चला आया। भीड़ को चीरकर वह कुछ आगे बढा तो उसने देखा कि रूपसीवेश में नटकन्याएं अपना नृत्य कर रही हैं। लचकती मुद्राएं और थिरकते हुए हाथ-पैर वाद्य-यंत्रों की धुन पर झूम रहे हैं। नाटक बड़ा ही बेजोड़ और अपूर्व था। सारी जनता तालियों की गड़गड़ाहट से नटमंडली के उत्साह को स्फुरित कर रही थी। सबकी आंखें रंगमंच पर केन्द्रित थी। इलापुत्र उस कला पर मुग्ध हो चुका था और विशेषतः उसका मन एक रूपवती षोडशी नटकन्या में अटका हुआ था। नटकन्या के अंगप्रत्यंग से लावण्य टपक रहा था। उसकी भावपूर्ण मुद्राएं उसके चित्त को मदपायी की तरह मत्त बना रही थी। वह यौवन के उस नाजुक मोड़ पर खड़ा था जहां व्यक्ति फिसलन से बच नहीं सकता। उसकी उद्दाम कामनाओं ने भी उसे ऐसा धक्का दिया और वह भी उसी रंग में अनुरंजित हो गया और मन ही मन उसे जीवन- संगिनी बनाने का दृढ निश्चय कर वहां से विदा हुआ।

भावनाओं का चक्र भी कालचक्र की भांति घूमता रहता है। कभी व्यक्ति शुभभावनाओं से अशुभभावनाओं के गर्त्त में पड़ जाता है तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी अशुभभावनाओं से शुभभावना के शिखर पर चढता है।

रात काफी व्यतीत हो चुकी थी। इलापुत्र सीधा अपने शयनकक्ष में आया और संकल्प-विकल्पों को संजोता हुआ सो गया। पर आंखों में नींद नहीं थी। पुनः पुनः उसे वह षोडशी कन्या ही सामने दीख रही थी। जैसे-तैसे रात व्यतीत हुई, सूर्योदय हुआ। फिर भी उसका मानस प्रफुल्लित नहीं था। न उसे खाने की सुध थी तो न पीने की। अहर्निश वह उन्हीं विचारों में खोया हुआ था।

एक दिन कुमार इलापुत्र ने सोचा—ऐसा कब तक चलता रहेगा? जब तक मैं अपनी मनोभावना को पिताश्री तक नहीं पहुंचाऊंगा तो वे मेरे भीतर पल रही भावना को कैसे जानेंगे? यह सोचकर उसने साहस के साथ पिताश्री से अपनी बात निवेदित की। श्रेष्ठी धनदत्त अपने पुत्र से ऐसी बात सुनकर एक बार तो सकपका गए, पर दूसरे ही क्षण अपने आपको संभालते हुए बोले–पुत्र! लगता है, अभी तुम नासमझी में पल रहे हो। तुम्हारे मुख से मैं यह सुनूं, मुझे अच्छा नहीं लगता। इस दुनिया में उस कन्या से भी सुन्दरतम अनेक कन्याएं हैं। तुम उनमें से अपनी मनपसन्द कन्या का चुनाव कर सकते हो। पर मैं किसी तुच्छ जाति की कन्या से तुम्हारा पाणिग्रहण करूं, यह कुल-परम्परा, कुलगौरव के सर्वथा विरुद्ध है। इस कार्य में मेरा मन बिल्कुल भी अनुमति नहीं देता।

पिताश्री के मुख से दो टूक उत्तर सुनकर इलापुत्र का मन आहत हो गया। एक ओर उसका संकल्प तो दूसरी ओर पिताश्री की नाराजगी। अब उसके सामने एक ही उपाय बचा था कि या तो पिताश्री को राजी कर लिया जाए या फिर उनसे संघर्ष किया जाए। पुत्र ने अपनी बात प्रकट करते हुए कहा–पिताश्री! जो मेरी बन चुकी है उसे सहसा त्यागना भी मेरे लिए कठिन है। आप मेरी भावनाओं का मूल्यांकन करें और अपनी प्रसन्नता को मेरी प्रसन्नता के साथ मिलाएं, तभी मैं यह काम कर सकता हूं। पिता ने झुंझलाते हुए पुत्र से कहा–जो काम स्वप्न में भी असंभव है उसकी कल्पना को तुम मन से निकाल दो। हमारे कुल में न कभी ऐसा काम हुआ है और न कभी होगा। बस, मेरा तुमसे यही कहना है।

इन शब्दों के साथ ही पुत्र की आशाओं पर पानी फिर गया। उसने मन में ठान लिया कि अब अकेले ही मुझे अपने संकल्प के लिए संघर्ष करना है। यह सोचकर वह घर से निकल गया और नटमंडली के डेरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर पहुंच गया। उस षोडशी कन्या को प्राप्त करने के लिए उसने नट-प्रधान के सामने अपना प्रस्ताव रखा। उसके प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए नटप्रधान ने कहा–यदि तुम नटविद्या को सीख जाओ तो मैं सहर्ष अपनी कन्या का विवाह तुमसे कर दूंगा। उसे सीखे बिना तो तुम्हारा वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

नीतिकार कहते हैं–जहां चाह वहां राह। चाहपूर्ति के लिए व्यक्ति क्या कुछ नहीं करता? उसने उस शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया। वह तन-मन से सर्वात्मना समर्पित होकर नटविद्या को सीखने लगा। इलापुत्र संकल्प का धनी और बुद्धिसंपन्न नवयुवक था, इसलिए थोड़े ही दिनों में वह नटविद्या में पारंगत हो गया।

इधर नटपुत्री भी नजदीक से उस नवयुवक को परख चुकी थी। दिनों-दिन उसका प्रेम भी युवक के प्रति बढ रहा था। नटविद्या में प्रवीण होने पर इलापुत्र ने पुनः अपनी बात नटकन्या के पिता के सामने रखी। नट ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा–जिस दिन तुम अपनी कला से किसी राजा का मन जीत लोगे अथवा राजा के पुरस्कार से पुरस्कृत हो जाओगे उसी दिन मैं विवाह की रस्म पूरी कर दूंगा।

इलापुत्र अब प्रतिदिन गांव-गांव और शहर-शहर में अपनी कला का प्रदर्शन करता हुआ प्रचुर धन कमा रहा था। कुछ ही दिनों में वह अपनी कला में लोकप्रिय बन गया। एक बार उसे अपनी कला को दिखाने का राजा की ओर से निमंत्रण मिला। वह अपनी पूरी तैयारी के साथ उस षोडशी कन्या को लेकर रवाना हो गया।

राजभवन का विशाल प्रांगण। सज्जा हुआ भव्य रंगमंच। विशाल मंडप राजासहित अनेक गणमान्य व्यक्तियों से आकीर्ण था। इलापुत्र रोमांचित करने वाले एक से एक रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहा था। अन्त में उसने ऐसे नाट्य की प्रस्तुति देनी चाही, जो अनेक जोखिमों से भरा हुआ और दर्शकों के दिल को दहलाने वाला था। जमीन में गड़ा हुआ एक मजबूत बांस। उसके ऊपर के छोर पर तीक्ष्ण नोक वाली कील। कील पर अटकाई हुई सुपारी। एकाएक वह इलापुत्र मौत को हथेली में रखकर सरपट गति से उस लम्बे बांस पर चढा। यह देखकर क्षणभर के लिए लोगों का दिल कांप उठा। कुमार ने नाभि को सुपारी पर टिकाकर चक्राकार नृत्य प्रारंभ किया। उसके दाएं हाथ में चमचमाती तलवार थी तो बांए हाथ में ध्वजा। नीचे ढोल-नगाड़े और मधुर वाद्ययंत्र बज रहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे। सेठ का पुत्र आज पूरे जोश में आकर अपने करतब को दिखा रहा था। उसे विश्वास था कि वह अवश्य ही राजश्री के द्वारा पुरस्कृत होगा और उसके परिणामस्वरूप वह नटकन्या को भी प्राप्त कर लेगा। जनता का ध्यान नृत्य की ओर था तो राजा का ध्यान उस रूपवती नटकन्या की ओर था। उसके मन में दुर्भावना काम कर रही थी कि यह इलापुत्र कला का प्रदर्शन करते-करते मौत के मुंह में चला जाए तो यह नटकन्या मेरी हो जाएगी। नृत्य करते-करते कुमार बहुत अधिक थक चुका था। उस समय रात्रि का दूसरा प्रहर चल रहा था। वह बांस से नीचे उतरा और राजा का सम्मान पाने के लिए उसके सामने आ खड़ा हुआ। वह उसे कब पुरस्कृत और सम्मानित करने वाला था? राजा का मन कलुषित भावना से भरा हुआ था। वह तो उसे मारना चाहता था। उसने अपनी अन्यमनस्कता जताते हुए कहा–कुमार! तुमने कैसा नृत्य किया? मैं अपने चित्तविक्षेप के कारण उसे देख नहीं सका, अन्यान्य समस्याओं में ही मेरा मन उलझा रहा। यदि तुम पुनः उसे दिखा सको तो.....। नहीं चाहते हुए भी कुमार पुनः बांस पर चढा और पुनः अपनी कला का उत्साहपूर्वक प्रदर्शन करने लगा। सारी जनता चित्रभित्ति बनी हुई उस कला का रसास्वादन कर रही थी। लोगों की दाद बार-बार उस प्रदर्शन को प्रशंसित कर रही थी। अनेक लोग और स्वयं महारानी नटकुमार को पुरस्कृत करना चाहते थे, पर महाराज से पहले कोई उस कार्य को करने का साहस नहीं जुटा पा रहा था। कुमार ने पुनः नीचे उतर कर अपनी याचना प्रस्तुत करते हुए कहा–महाराजन् ! अबकी बार तो आपने अवश्य ही मेरी कला को देखा होगा। मेरा प्रदर्शन कैसा रहा? अब आप मुझे अपने प्रसाद से अनुगृहीत करें।

राजा का मन क्रूरता और निष्ठुरता से भरा हुआ था। वह नहीं चाहता था कि इलापुत्र मेरा पुरस्कार प्राप्त करे। वह तो उसे बांस पर ही मरा हुआ देखना चाहता था। जनता भी राजा के इस व्यवहार से क्षुब्ध थी। पर सत्ता की शक्ति के सामने किसका जोर चल सकता था? बहुत चाहते हुए भी जनता कुछ नहीं कर पा रही थी। राजा ने तीसरी बार कुमार से कहा–एक बार तुम अपना कलाकौशल दिखाओ तो मैं जानूं कि तुम्हारा प्रदर्शन कितना उत्कृष्ट है? अभी तक तो मैं केवल निद्रा में रहा हूं। अब पूरी सजगता से तुम्हारी कला को देखूंगा। कुमार का शरीर पसीने से तर-बतर था, अंग-अंग थकावट के कारण टूट रहा था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन नहीं कर रहा था कि वह पुनः उस कला को दिखाए।

राजा को प्रसन्न अथवा संतुष्ट किए बिना उसकी कला का मूल्य भी क्या था? अब उसके पास कला दिखाने के सिवाय कोई चारा नहीं था। वह पुनः राजा के अनुरोध को स्वीकार कर बांस पर चढा और नृत्यकला को दिखाने में तन्मय हो गया। कला दिखाते-दिखाते प्रभात हो गया और सूर्य की प्रथम किरण ने उसका स्पर्श करते हुए उसका अभिनंदन किया। बांस के शिखर पर घूमते हुए कुमार की दृष्टि अचानक एक गृहपति के घर की ओर चली गई। वहां एक मुनि रूपवती गृहिणी के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर रहे थे। दोनों में यौवन का उभार था, फिर भी मुनि नीची दृष्टि किए अपने कार्य मे तल्लीन थे। न उनमें भावों की मलिनता थी और न वासना की पुट थी।

इस दृश्य को निहारकर इलापुत्र की भावना भी बदल गई। उसने सोचा–कहां तो ये मुनि और कहां मैं? मेरी रूप के प्रति आसक्ति और मेरी दुर्भावना ने मुझे कहां से कहां लाकर खड़ा कर दिया। मैंने धन-वैभव को ठुकराया, अपने मां-बाप को त्यागा, केवल इस नटकन्या के पीछे पागल हो गया। इस पागलपन से मुझे क्या मिला? ऐसा चिन्तन करते-करते वह अशुभ भावों से शुभ भावों में आरूढ हुआ, शुभ विचार, शुभ अध्यवसाय और शुभ लेश्या में अवस्थित हुआ। उसके एक-एक कर कर्मनिर्जरण की शृंखला चल रही थी। अन्त में उसने बांस पर चढे हुए ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। वह नीचे उतरा। कुमार को केवलज्ञान के आलोक से आलोकित देखकर राजा को भी अपनी दुर्भावनाओं पर अनुताप हुआ। अब नाट्यकला का वह रंगमंच अध्यात्म की कला का प्रदर्शन कर रहा था। चारों ओर एक ही स्वर सुनाई दे रहा था कि जीवन के रूपान्तरण में भावना का कितना मूल्य है? अब इलापुत्र उत्कृष्ट नटकार से उत्कृष्ट महामुनि बन गए, केवलज्ञानी बन गए।

३६. भावना के अनुरूप फल

आषाढ का महीना। रिमझिम वर्षा की झड़ी। आकाश बादलों से आच्छन्न था। सूर्य की तपन भी स्वल्प थी। खुशनुमा प्रकृति सारे वातावरण को आह्लादित कर रही थी। चारों ओर भूमि पर हरियाली ही हरियाली बिखरी हुई थी। देखने पर लगता था कि मानो धरती मां हरे रंग की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साड़ी के परिधान में सबका मनोरंजन कर रही है। किसानों के लिए वर्षा का मौसम अतिरिक्त प्रसन्नता और खुशी का समय होता है। वे उस समय खेतों में हल चलाते हैं, बुवाई करते हैं और धान्योत्पत्ति की आकांक्षा से रात-दिन परिश्रम करते हैं। मुनिजनों का चार महिनों का वर्षावास अहिंसा की विशिष्ट साधना के लिए निर्धारित होता है, क्योंकि वर्षा-ऋतु में जीवोत्पत्ति बहुलता से होती है। इसलिए वे चातुर्मास से पूर्व ही अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर पहुंच जाते हैं।

कुछ मुनि चातुर्मासिक प्रवास हेतु विहार कर अपनी मंजिल की ओर बढ रहे थे। मार्ग में उन्हें दो किसान मिले। वे किसान कृषि-कर्म के लिए अपने-अपने खेत में जा रहे थे। उनमें से एक किसान कुछ ईर्ष्यालु था। वह सन्तों को सदा वैमनस्यभाव से देखता था। दूसरा किसान भला था। वह सन्तों का आदर-सत्कार करता था। उसके मन में संतों के प्रति प्रमोदभावना बनी रहती थी। सन्त नंगे पैर विहार कर रहे थे और उनका केशलुंचन भी कराया हुआ था। अप्रशस्त भावों में जीने वाला किसान सन्तों को देखकर मन ही मन कुम्हलाया और कुछ गुनगुनाया--अरे! आज तो अपशकुन हो गया। मैंने आज किन सन्तों को देख लिया? उसने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा–

'मस्तक मुंड पाग सिर नांही।
कड़व हुंसी पर सिट्टा नांही।।'

ये सन्त मुंडित हैं। इनके सिर पर पगड़ी भी नहीं है, लगता है कि ऐसे सन्तों के दर्शनों से इस वर्ष मेरे खेत में कड़वी—ज्वार के ठंडल तो बहुत होंगे, पर ज्वार नहीं होगी। यह सोचता हुआ वह किसान अनमने भाव से अपने खेत की ओर बढ गया।

दूसरा किसान मुनि-दर्शन से प्रफुल्लित हुआ। उसने अपने भाग्य को सराहा। वह सोचने लगा–सन्तों के दर्शन कितने दुर्लभ होते हैं? आज अनायास ही मुझे सन्तदर्शनों का लाभ मिल गया। सन्त तो साक्षात् परमात्मा के रूप होते हैं। उनका दर्शन मेरे लिए अच्छा शकुन है। उसने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा–

दूसरो दैख नै हुयो खुशी।
इण रै माथै जिस्या सिट्टा हुंसी।।

मुनिजनों का सिर जितना बड़ा है उतने ही बड़े-बड़े सिट्टे मेरे खेत में होंगे। वह भी इस प्रशस्त भावना से अपने खेत की ओर चला गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्षा अच्छी थी। जमाना अच्छा हुआ। दोनों किसानों ने जी-तोड़ कर परिश्रम किया। समय आने पर फसल लहलहा उठी। दोनों का मन खुशियों से झूम उठा। फसल पककर तैयार हो गई। उसे काटने की भी तैयारी होने लगी। इसी बीच दुर्भावना में पलने वाले किसान के खेत पर टिड्डियों के दल ने आक्रमण कर दिया। एक दिन में सारा खेत चौपट हो गया। अब केवल कड़वी ही उस किसान के हाथ लगी। वह उस कड़वी को काटकर अपने घर ले आया।

दूसरे किसान ने भी फसल काटी। हजारों मन ज्वार उसके खेत में हुई। उसका कोठा ज्वार से भर गया।

यह सत्य है कि अच्छी भावना के आधार पर क्रिया की निष्पत्ति अच्छी होती है और दुर्भावना के आधार पर उसकी निष्पत्ति बुरी होती है। इसलिए नीतिकार कहते है–

'जिसकी जैसी भावना वैसा ही फल होय'।

भावना के आधार पर ही व्यक्ति को अच्छा-बुरा फल प्राप्त होता है।

३७. यों हुआ वैराग्य

गान्धार जनपद में पुण्ड्रवर्धन नाम का एक रमणीय नगर था। वह शक्तिशाली तथा सुखसमृद्धि से संपन्न था। वहां सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। जैसा उसका नाम था वैसा ही प्रजा के साथ उसका व्यवहार था। एक बार राजा को उत्तरापथ से उपहारस्वरूप दो घोड़े प्राप्त हुए। उसने उनका परीक्षण करना चाहा। एक घोड़े पर राजकुमार सवार हुआ तो दूसरे घोड़े पर राजा। दोनों अलग-अलग दिशाओं में वन-विहार के लिए निकल गए। राजा जिस घोड़े पर आरूढ था वह वक्र-शिक्षित घोड़ा था। ज्यों-ज्यों राजा उसकी लगाम खींचता घोड़ा रुकने के बजाए तेजी से दौड़ता जाता। अश्व दौड़ता-दौड़ता सुदूर जंगल में पहुंच गया। अचानक राजा के हाथ से लगाम शिथिल हो गई तो घोड़ा भी वहीं रुक गया। राजा को अत्यधिक भूख लगी हुई थी। वह घोड़े से नीचे उतरा और उसने वन के कन्दमूल आदि खाकर अपनी क्षुधा को शान्त किया।

सन्ध्या का समय। सूर्य का प्रकाश अन्धकार में विलीन हो रहा था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा को रात्रिविश्राम के लिए उपयुक्त स्थान की आवश्यकता थी। उसने स्थान खोजने के लिए इधर-उधर देखा। सामने उसे एक ऊंची पहाड़ी दिखाई दी। वहां एक सुन्दर महल था। रात बिताने के लिए राजा पहाड़ पर चढ़ा। महल को देखकर राजा का मन कुतूहल और विस्मय से भर गया, क्योंकि महल भव्य था, किन्तु था निर्जन। राजा ने उस रहस्य को जानने के लिए ज्योंही महल में प्रवेश किया कि सामने से आती हुई एक रूपवती कन्या ने उसका स्वागत किया। कन्या ने अपने भाग्य को सराहते हुए कहा—आज मैं धन्य हुई हूं कि आप जैसे महाभाग के दर्शन मुझे प्राप्त हुए हैं। इस निर्जन महल में मैं अब तक एकाकी थी। आज हम दो हो गए हैं। राजा ने उसका परिचय पूछा। कन्या ने अपना परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा—मैं महाराज दृढ़शक्ति की पुत्री हूं। मेरा नाम कनकमाला है। मेरे पिताश्री वैताढ्य पर्वत के तोरणपुर नगरी के अधिशास्ता हैं। एक बार एक विद्याधर मेरे रूप में आसक्त हो गया। वह मुझे अपहृत कर यहां ले आया। मेरे भाई को मेरे अपहरण का पता चला। वह मुझे विद्याधर के चंगुल से मुक्त कराने के लिए यहां आया। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। दोनों परस्पर लड़ते हुए एक दूसरे के द्वारा मारे गए। अब तक मेरा कोई सहायक नहीं था। जब आप यहां आ गए हैं तब आप ही मेरे रक्षक और सहायक हैं। मैं आपको अपना पति मान रही हूं। आप मेरी भावना को साकार कर मुझे कृतार्थ करें।

राजा सिंहरथ उसकी मनोव्यथा सुनकर उसके साथ विवाह करने को राजी हो गया और वहीं उसने उस कन्या के साथ गान्धर्व विवाह कर लिया। राजा आमोद-प्रमोद से वहीं रहने लगा। वहां रहते हुए उसे कई दिन बीत गए। एक दिन अचानक राजा को अपने राज्य की स्मृति हो आई। उसने सोचा—मेरे बिना राज्य का कार्यभार कैसे चलता होगा? कर्तव्य के नाते मुझे वहां जाकर अपनी राज्यव्यवस्था को देख लेना चाहिए, यह सोचकर उसने कनकमाला से कहा—प्रिये! अब मैं अपने राज्य में जाना चाहता हूं। यहां रहते हुए मुझे काफी दिन हो गए हैं। अब तुम मुझे जाने की अनुमति दो। पुनः मैं यहां आकर तुम्हारी सार-संभाल लेता रहूंगा। कनकमाला ने कहा—जैसा आपको इष्ट हो, वैसा करो। यह दासी तो आपके चरणों का ही अनुसरण करने वाली है। रानी ने अपना एक सुझाव देते हुए राजा से कहा—आपकी राजधानी यहां से काफी दूर है। उस स्थिति में घोड़े पर सवार होकर आपका वहां जाना काफी कठिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। मेरे पास प्रज्ञप्ति-विद्या है। उसे आप साध लें। उसके प्रभाव से आपका वहां तक पहुंचना सुगम हो जाएगा, रास्ता भी निरापद हो जाएगा। राजा ने कनकमाला की बात मानकर विद्या की आराधना की, विद्या सिद्ध हुई और वह उसकी शक्ति से कुशलक्षेम अपनी राजधानी पहुंच गया।

जनता ने अपने राजा को पाकर सारे नगर में अपूर्व उल्लास मनाया। सामन्तों ने अथ से लेकर इति तक राजा के मुख से सारा वृत्तान्त सुना। सबने आश्चर्य और हर्षमिश्रित प्रतिक्रिया व्यक्त की।

अब राजा पांच दिनों के अन्तराल से कनकमाला से मिलने के लिए उसी पर्वत पर जाने लगा। कुछ दिन वहां रहने के पश्चात् वह पुनः अपनी राजधानी लौट आता। उसका यह क्रम निरन्तर चलने लगा। जब लोग राज्य के अधिकारियों से पूछते कि राजाजी कहां हैं? तब उनका उत्तर होता कि राजाजी पर्वत पर गए हुए हैं। उसी के कारण कालान्तर में राजा का नाम सिंहरथ से नगति पड़ गया।

एक दिन राजा मंत्री के साथ वन-विहार के लिए निकला। मार्ग में उसकी दृष्टि एक आम्रवृक्ष पर पड़ी। वह आम का वृक्ष उसके मन को भा गया। वह आम के फलों से लदा हुआ था। उस पर मंजरियां आई हुई थीं। कोयल अपने मधुर स्वर से कुहक रही थी। उसकी सघन छाया सबको तृप्ति दे रही थी। राजा ने उस छाया में कुछ देर ठहर कर विश्राम किया और अतृप्त नेत्रों से आम्रवृक्ष को निहारता रहा। अन्त में जाते समय उसने अपने हाथों से कुछ आम तोड़े, उनका रसास्वादन किया और मधुर आमों की प्रशंसा करता हुआ वह अपने गन्तव्य की ओर प्रस्थित हो गया।

बहुत दिनों के पश्चात् राजा को कार्यवश कहीं जाना था। उसने जाने के लिए पुनः उसी मार्ग को चुना। परिचित मार्ग और परिचित वन। सहसा राजा का ध्यान उसी आम्रवृक्ष में अटक गया जो उसने बहुत दिन पहले देखा था। राजा की आंखें उस वनराजि में बार-बार उसी वृक्ष को खोजने और देखने का प्रयास कर रही थीं। पर उसकी नजरों में कहीं भी वह वृक्ष प्रतिबिम्बित नहीं हुआ। राजा की अकुलाहट और आंखों की भावभंगिमा को पढ़कर मंत्री समझ गया कि महाराज अवश्य ही कुछ जानने अथवा देखने के मूढ में हैं। तभी वे बार-बार अपनी दृष्टि और ग्रीवा को इधर-उधर घुमा रहे हैं। मंत्री ने साहस करके राजा से पूछ ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिया—महाराजश्री! आज आप किसकी उत्सुकता में हैं, जो आप इधर-उधर झांक रहे हैं।

तुमने ठीक ही पकड़ा। मुझे आज उस आम्रवृक्ष को देखने की इच्छा है जो हमने कुछ दिन पूर्व इसी मार्ग में देखा था। वह मुझे कहीं दिखाई नहीं दिया, इससे लगता है कि या तो वह पीछे छूट गया है अथवा फिर वह आगे होगा। यदि तुम्हें वह वृक्ष कहीं दिखाई दे तो तुम मुझे भी बताना।

कुछ दूर जाने पर मंत्री ने एक ठूंठ वृक्ष की ओर संकेत करते हुए कहा—महाराजश्री! यह वही वृक्ष है, जिसे आप पूछ रहे थे।

हैं, यह वही वृक्ष है, देखकर राजा अवाक् रह गया। राजा समझ नहीं पाया कि इसकी ऐसी दुरवस्था क्यों हुई? राजा ने सोचा—वर्तमान में न तो इस पर फल हैं, न इस पर मंजरियां और पते हैं, न इस पर कोयल की कुहक है और न इस पर पक्षियों का कलरव है। यह सूखा तो क्यों सूखा? क्या किसी ने इसको पानी नहीं दिया? यह पहले कितना सुन्दर और मनोरम लग रहा था अब यह असुन्दर और भद्दा क्यों लग रहा है? क्या इसकी सुन्दरता पर किसी ने नजर लगा दी? आखिर इसमें इतना परिवर्तन क्यों और कैसे हुआ? ऐसे अनेक संकल्प-विकल्पों से घिरा हुआ राजा मंत्री से समाधान चाह रहा था।

मंत्री ने राजा को समाहित करते हुए कहा—महाराज! संसार का नियम ही है कि कोई भी वस्तु अपने स्वरूप में एक समान नहीं रहती। उसमें सदा परिवर्तन होता रहता है। पहले यह वृक्ष तरुण अवस्था में था अब यह जरा और मौत के उन्मुख है। पहले इसका उदयकाल था अब इसका अस्तकाल है। जो वृक्ष इस पृथ्वी पर शोभा पाता है वह कभी न कभी शोभाविहीन भी होता है। यह सारी पौद्गलिक रचना का ही खेल है। इस सत्य को जानकर राजा का दृष्टिकोण बदल गया, चिन्तन में परिवर्तन हो गया। उसने सोचा—अरे! जहां ऋद्धि-समृद्धि होती है वहीं शोभा है, सरसता है, भव्यता है और वहीं स्वार्थ का पोषण होता है। जहां इसका अभाव होता है वहां कुरुपता, नीरसता और स्वार्थपरायणता झलकती है। जो प्रभात को देखता है उसे वृक्ष की भांति संध्या को भी देखना पड़ता है। यह उदय-अस्त की परम्परा सबके जीवन में घटित होती है।

राजा को इस सत्य के आलोक में जातिस्मरणज्ञान हो गया। उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार से विरक्ति हुई। वह मुनि बना और एक घटना के निमित्त से संबुद्ध होकर प्रतिबुद्ध कहलाया।

३८. वृद्धावस्था : वैराग्य का हेतु

अंगदेश की राजधानी चम्पापुरी। वहां के अधिशास्ता महाराज दधिवाहन एक लोकप्रिय राजा थे। उनकी महारानी का नाम पद्‌मावती था। वह गणतन्त्र के अधिनेता महाराज चेटक की पुत्री थी।

आज चम्पापुरी के राजपथ जनता की अपार भीड़ से संकुल हो रहे थे। सर्वत्र एक ही चर्चा जन-जन के मुख पर मुखर थी कि महारानी पद्‌मावती को विचित्र प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ है। वह राजा की वेशभूषा में हाथी पर सवार होकर वनक्रीड़ा के लिए जाएगी। महाराज दधिवाहन उसके मस्तक पर छत्र धारण किए उसके पीछे होंगे। ऐसे अभिनव और अपूर्व दृश्य को देखने के लिए दर्शकगण जिज्ञासा, कुतूहल और उत्सुकता लिए राजपथ के दोनों छोरों पर खड़े थे।

ठीक समय पर राजभवन से शोभायात्रा प्रारंभ हुई। महाराज दधिवाहन श्रीवत्स नाम के एक अतिबलवान्, तेजस्वी और महाकाय हाथी पर आरूढ थे। हाथी पर रत्नजटित हौदा था। उसमें महादेवी पद्‌मावती बैठी थी। उसका पुरुषवेश प्रेक्षकों को अतिसुन्दर और अत्याकर्षक लग रहा था। हौदे के पिछले भाग में महाराज दधिवाहन छत्र धारण किए हुए थे। उस समय दर्शकों को वह दृश्य ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो दो राजकुमार किसी नवोढा से मिलने जा रहे हैं। हजारों नागरिक उत्सुकता और आश्चर्यभरी दृष्टि से शोभायात्रा को देख रहे थे। अनेक लोग पुष्पवृष्टि कर महाराज और महारानी का अभिनन्दन और वर्धापन कर रहे थे। शोभायात्रा अत्यन्त आनन्दमय वातावरण में नगरी के मुख्य बाजारों से होती हुई अपने गन्तव्य की ओर बढ़ रही थी। कुछ समय के पश्चात् अचानक मौसम का मिजाज कुछ बदलता-सा नजर आया। आकाश बादलों से भर गया। बिजली कौंधने लगी और बून्दाबांदी प्रारम्भ हो गई। महाराज जहां जाने वाले थे वह ताल नाम का क्रीडावन वहां से काफी दूर था। फिर भी वे प्रकृति के उतार-चढ़ाव को देखते हुए प्रफुल्लता से आगे बढ़ रहे थे। सहसा मौसम में एक वेग आया और प्रकृति ने अपना तांडव दिखाना प्रारम्भ कर दिया। बून्दाबान्दी से वर्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने मूसलाधार का रूप ले लिया। मेघ का भयंकर गर्जारव होने लगा। तूफान के थपेड़ों से पेड़-पौधे धराशायी होने लगे। गजराज श्रीवत्स भी प्रकृति की विकरालता को देखकर स्वयं विकराल हो गया। महावत ने उस पर नियंत्रण करने का बहुत प्रयास किया, किन्तु मदोन्मत्त गजराज अंकुश की अवहेलना कर पागल-सा हो गया। उसने महावत को अपनी सूंड से पकड़कर धरती पर गिरा दिया। अब वह निरंकुश होकर तीव्रता से दौड़ने लगा। राजा-रानी हाथी पर सवार थे, किन्तु गजराज की स्थिति को देखकर उनका मन भी भय से आन्दोलित था। रह-रहकर उनके मन में यही आ रहा था कि निरंकुश हाथी अब उन्हें कहां ले जाएगा? सारी जनता, राज्य के सारे अधिकारी तथा पदातिक सेना इधर-उधर बिखर गई थी। पास में कोई नहीं था। विकट परिस्थिति को देखते हुए राजा ने रानी से कहा—प्रिये! देखो, यह सामने विशाल वृक्ष है। जब यह हाथी इसके नीचे से निकले तब तुम सावधानीपूर्वक वृक्ष की शाखा को पकड़ लेना। मैं भी पकड़ लूंगा।

नियति की विडम्बना भी विचित्र होती है। व्यक्ति जैसा सोचता है प्रायः उसके अनुरूप नहीं होता। ज्योंही हाथी उस वृक्ष के नीचे से गुजरा तो महाराज ने उसकी डाली पकड़ ली। पर महारानी पद्मावती उसकी डाल को नहीं पकड़ सकी। गजराज महारानी को लेकर भयंकर अटवी में चला गया और कीचड़ से भरे तालाब में धंस गया। किनारे पर खड़े कुछेक ग्रामवासियों ने यह सब कुछ देखा। उन्होंने सोचा—यह हाथी तो कीचड़ में धंस कर मरेगा ही, किन्तु हाथी पर सवार इस पुरुष को क्यों मरने दिया जाए। उन्होंने रस्सी के सहारे पद्मावती को तालाब के कीचड़ से निकाल लिया। उसके प्राणों की रक्षा हो गई।

अब रानी के सामने धर्म के सिवाय कोई रक्षक नहीं था। वह भयाक्रान्त होकर एक दिशा की ओर चल पड़ी। मार्ग में उसे एक वृद्ध तापस मिला। वह उसे अपने आश्रम में ले गया। उसने उसे खाने के लिए फल-फूल भेंट किए। तापस ने उसका बहुमान किया और दिशा-निर्देश देते हुए कहा—बहिन! तुम दत्तपुर नगर की ओर चले जाना। वहां का राजा दन्तवक्र है। वह बड़ा ही न्यायनिष्ठ और धर्मप्रिय राजा है। वह तुम्हें 'चेटक' राजा के पास पहुंचाने की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था कर देगा।

महारानी कलिंगदेश के दत्तपुर नगर में पहुंच गई। वहां उसने एक उपाश्रय में कुछ साध्वियों को देखा। वह वहां गई, साध्वियों को वन्दन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया। परिचय पूछने पर उसने सारी घटना कह सुनाई, पर अपने गर्भ की बात गुप्त रखी। साध्वियों ने उसे वैराग्यपरक उपदेश देते हुए जीवन की क्षणभंगुरता का बोध कराया। उपदेश सुनकर रानी विरक्त हुई और उसने आर्यिकाओं से दीक्षा ग्रहण कर ली। ज्यों-ज्यों संयम-पर्याय के दिन बीत रहे थे त्यों-त्यों उदर में गर्भ भी वृद्धिंगत हो रहा था। एक दिन साध्वीप्रमुखा महत्तरिका ने गर्भ के लक्षणों को देखकर गर्भ के विषय में पूछ लिया। साध्वी रानी ने सरलता से सारी बातें रख दी। गर्भ के दिन पूरे होने पर उसने शय्यातर के घर जाकर प्रसव किया। उस नवजात शिशु को नामांकित मुद्रा पहनाकर श्मशान में छोड़ दिया गया। श्मशानपालक ने शिशु को बिना मां-बाप का जानकर उसे उठा लिया और उसका पालन-पोषण करने के लिए अपनी स्त्री को दे दिया। उसका नामकरण किया गया अवकीर्णक। वह श्मशानपालक के यहां बड़ा होने लगा। एक बार उसका शरीर खुजली के रोग से आक्रान्त हो गया। वह दिनभर अपने शरीर को खुजलाता रहता था, ऐसा करने से उसका नाम 'करकण्डु' भी पड़ गया।

करकण्डु बड़ा होने पर श्मशान की रक्षा करने लगा। वहां पास में ही एक बांस का वन था। एक दिन दो साधु वहां से निकल रहे थे। उनमें से एक साधु दण्ड के लक्षणों को जानता था। उसने भविष्यवाणी करते हुए कहा—जो कोई इस प्रकार के दण्ड को ग्रहण करेगा वह अवश्य ही राजा होगा। करकण्डु और ब्राह्मण के एक लड़के ने इस बात को सुन लिया। दोनों में दण्ड लेने के लिए विवाद छिड़ गया। मध्यस्थ व्यक्तियों ने उस विवाद को खत्म करते हुए वह दण्ड करकण्डु को दे दिया, क्योंकि वह उसकी भूमि की संपत्ति थी और साथ में राजा बनने के बाद एक गांव ब्राह्मण-पुत्र को देने के लिए भी कह दिया। करकण्डु ने उसे स्वीकार कर लिया।

यह जानकर ब्राह्मण प्रतिशोध की अग्नि से जलने लगे। उन्होंने करकण्डु को मारने का षड्यंत्र रचा। उसके पिता चांडाल को जब इसकी भनक पड़ी तो वह परिवारसहित कांचनपुर चला गया। अचानक वहां का राजा मर गया। उसके कोई पुत्र नहीं था। राजा को चुनने के लिए राज्याधिकारियों ने एक घोड़े को अधिवासित किया, उसे नगर में घुमाया। घोड़ा सीधा वहीं रुका, जहां करकण्डु विश्राम कर रहा था। घोड़े ने कुमार करकण्डु की प्रदक्षिणा की। वह उसके निकट ठहर गया। सामन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा राज्य के अधिकारीगण कुमार के पास आए और प्रार्थना के स्वरों में कहा—महाभाग! आज से आप हमारे राजा हैं, स्वामी हैं। आप राजभवन चलें। उन्होंने कुमार को घोड़े पर बिठाया और वे उसे राजमहल में ले गए। वहां उसका राज्याभिषेक हुआ। वह कांचनपुर का अनुशास्ता-अधिशास्ता बन गया।

जब ब्राह्मण के पुत्र ने करकण्डु के राजा बनने का समाचार सुना तो वह एक गांव लेने की आशा से कांचनपुर चला आया। वह चाहता था कि उसे चम्पापुर नगर की सीमा में ही वह गांव मिल जाए। वह कुमार वहीं का रहने वाला था। महाराज दधिवाहन चम्पापुर के अधिशास्ता थे। वे नहीं चाहते थे कि कोई दूसरा राजा उसके राज्य के कार्य में हस्तक्षेप करे। करकण्डु ने दधिवाहन के नाम एक पत्र लिखा और अपने द्वारा दिए गए वचन का उल्लेख करते हुए ब्राह्मणपुत्र को एक गांव देने की बात कही। दधिवाहन ने इसे अपना अपमान समझा। दोनों में परस्पर युद्ध छिड़ गया। नरसंहार की संभावना को देखते हुए साध्वी पद्मावती चम्पापुर पहुंच गई। उसने दोनों पक्षों को समझाने का प्रयास किया और अतीत की परतों को खोलते हुए पिता-पुत्र का परिचय करा दिया। साथ में अपना परिचय भी प्रस्तुत कर दिया। युद्ध बंद हो गया। राजा दधिवाहन ने अपने पुत्र करकण्डु को छाती से लगा लिया। पुत्र ने भी पिता के चरणों में प्रणत होते हुए अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की। दोनों ओर हर्ष के आंसू छलक पड़े। कालान्तर में राजा दधिवाहन अपने सारे राज्य का भार करकण्डु को सौंपकर प्रव्रजित हो गए।

अब करकण्डु अंग और कलिंग दोनों राज्यों का कुशलता से संचालन करने लगा। वह प्रजावत्सल, न्यायप्रिय और धर्मनिष्ठ राजा था। उसमें प्राणिमात्र के प्रति प्रेमभाव और सहृदयता का भाव था। उसके अन्तःकरण में करुणा की धारा बहती थी। वह जितना मनुष्यों के प्रति करुणाशील था उससे अधिक वह पशु-पक्षियों के प्रति भी करुणार्द्र था। जब वह किसी के दुःख-दर्द को देखता तो उसकी अन्तरात्मा सहज ही उस अनुभूति से दयार्द्र और द्रवित हो जाती थी। करकण्डु के राज्य में अनेक गोशालाएं थीं। वह स्वयं समय-समय पर वहां जाकर उनकी देख-रेख करता था। उसे गायों के प्रति अत्यधिक प्रेम था। जब वह गायों के श्वेत बच्छड़ों को देखता तो उसका मन पुलकित हो जाता।

एक दिन राजा गोशाला में गया हुआ था। वहां उसने अनेक गाएं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और बछड़ों को देखा। उनमें से राजा एक बछड़े के प्रति इतना अधिक आकृष्ट हुआ कि मानो पूर्वभव में वह उसका पुत्र रहा हो। वह उसे बहुत ही प्रिय, मनभावन लगा। उसने गोशाला में काम करने वाले कर्मचारियों से कहा—तुम लोग इस वत्स का विशेष ध्यान रखना। इसे इसकी मां का सारा दूध पिलाना। जब यह बड़ा हो जाए तब इसे दूसरी गायों का दूध भी पिलाते रहना। कर्मचारियों ने राजा की आज्ञा को शिरोधार्य किया। बछड़ा सुखपूर्वक दिनों-दिन बढ़ने लगा। कुछ दिनों में तो वह पूरा युवा हो गया। वह देखने में बड़ा ही हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ था। उसमें शक्ति भी बहुत थी। उस बलिष्ठ वृषभ अन्यान्य वृषभों को पछाड़ देता था। सारी गोशाला में वह एकाकी सबकी नजरों में चढा हुआ था। राजा करकण्डु उसे देखकर अतिप्रसन्न और पुलकित होता था।

लम्बे समय तक राजा दूसरे-दूसरे कार्यों की व्यस्तता के कारण गोशाला नहीं जा सका। एक दिन उसे अपने मनप्रिय और अतिआकर्षक वृषभ को देखने की इच्छा हुई। वह वहां गया। गोशाला के अधिकारियों ने राजा का स्वागत किया। राजा ने चारों ओर दृष्टि घुमाई, किन्तु उसकी नजरों में वह युवा बैल दृष्टिगोचर नहीं हुआ। राजा ने गोशाला के उस अधिकारी से जानकारी लेनी चाही, जिसे उसके सार-संभाल की जिम्मेदारी सौंपी थी। अधिकारी ने गोशाला के एक कोने में बैठे हुए एक वृषभ की ओर संकेत करते हुए कहा—महाराजन्! यह वही बैल है जिसकी सार-संभाल के लिए आपने मुझे कहा था। राजा बैल को देखकर भौचक्का-सा रह गया। उसे इस बैल में और वर्षों पूर्व देखे बैल में जमीन-आसमान का अन्तर लग रहा था। कहां तो वह युवा बैल और कहां यह मरियल बैल, जिसका अस्थिपंजर दीख रहा था। कहां वह बलिष्ठ और हृष्ट-पुष्ट बैल, जिसके सामने अन्य बैल डरते थे। कहां यह शक्तिहीन दुर्बल-कमजोर बैल, जिसकी आंखें भीतर धंसी हुई थी, शरीर पर झुर्रियां दिखाई दे रही थीं, पैर लड़खड़ा रहे थे। अब यह दूसरे बैलों के आघात को भी नहीं सह सकता था। बार-बार राजा गोशाला के रक्षकों से पूछ रहा था—तुम लोगों ने इसकी सार-संभाल नहीं की होगी अथवा इसको खाने के लिए कम दिया होगा तभी यह बैल इस स्थिति में पहुंचा है। गोपालकों ने निवेदन करते हुए कहा—राजन्! हमने आपके निर्देशानुसार इस बैल के भरण-पोषण में अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी। इसकी यह दशा वृद्धावस्था के कारण हुई है। संसार के प्राणिमात्र को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस अवस्था से गुजरना होता है।

क्या मुझे भी इस अवस्था को देखना होगा, तत्काल राजा ने पूछा।

हां, महाराज! कोई भी इस अपवाद से नहीं बच सकता। जो प्राणी इस संसार में जन्म लेता है उसे निश्चित ही वृद्धावस्था से गुजरना होता है, यह संसार का अटल और शाश्वत नियम है, गोशाला के रक्षकों ने राजा से कहा।

यह सुनकर राजा विचारमग्न हो गया। मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठने लगे। वृद्धावस्था के नाम से दिल कांपने लगा। अरे! तब तो मुझे भी उसी प्रवाह में बहना होगा। चिन्तन की ऊर्मियों ने उसे उबारा। वृद्धावस्था के निमित्त ने उसके दृष्टिकोण को बदल दिया। सहसा उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह अज्ञात से ज्ञात की ओर चल पड़ा, राजा से भिक्षु बन गया, संयमजीवन का निर्वहन करने लगा और एक दिन केवलज्ञान के आलोक से आलोकित हो गया। अन्त में उसने सब कर्मों का क्षयकर मोक्षपद को प्राप्त कर लिया।

●●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सिन्दूरप्रकर' नीतिशास्त्र का अद्भुत ग्रंथ है। इसमें नैतिकता, सदाचार और अध्यात्म की अनेक शाखाओं का समन्वय है। तेरापंथ धर्मसंघ में इसके अध्ययन की प्राचीन परंपरा है। यह ग्रंथ पूज्य कालूगणी और आचार्य तुलसी के मन को आकृष्ट करता रहा। मेरे मन में भी इसकी उपयोगिता की छाप है। धर्मसंघ के अनेक साधु-साध्वियां इसे कंठस्थ करते रहे हैं।

मुनि राजेन्द्रजी उद्यमी और संस्कृतप्रिय मुनि हैं। श्रम उनके जीवन का व्रत है। उन्होंने संस्कृत व्याकरण *'भिक्षुशब्दानुशासनम्'* के क्षेत्र में अनेक कार्य किए हैं। उन्होंने 'सिन्दूरप्रकर' ग्रन्थ की सांगोपांग व्याख्या प्रस्तुत की है। इससे संस्कृतपाठी विद्यार्थी बहुत लाभान्वित होंगे।

—आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org